MAHN301CCT

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र

एम.ए.

(तृतीय सेमेस्टर के लिए)

पेपर -9

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी

हैदराबाद-32, तेलंगाना, भारत

© **Maulana Azad National Urdu University, Hyderabad**

Course : Bharatiya Aur Pashchatya Kavyashastra

ISBN: 978-81-974230-9-3

First Edition: June, 2024

Publisher	:	Registrar, Maulana Azad National Urdu University
Edition	:	2024
Copies	:	500
Price	:	131/-
Copy Editing	:	Dr. Wajada Ishrat, MANUU, Hyderabad Dr. L. Anil, DDE, MANUU, Hyderabad
Cover Designing	:	Dr. Mohd. Akmal Khan, DDE, MANUU, Hyderabad
Printing	:	Print Time & Business Enterprises, Hyderabad

Bharatiya Aur Pashchatya Kavyashastra

For

M.A. Hindi

3rd Semester

On behalf of the Registrar, Published by:

Directorate of Distance Education

Maulana Azad National Urdu University

Gachibowli, Hyderabad-500032 (TS), Bharat

*Director:*dir.dde@manuu.edu.in *Publication:* ddepublication@manuu.edu.in

Phone number: 040-23008314 Website: manuu.edu.in

© All rights reserved. No part of this publication may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronically or mechanically, including photocopying, recording or any information storage or retrieval system, without prior permission in writing from the publisher (registrar@manuu.edu.in)

संपादक

डॉ. आफ़ताब आलम बेग
सहायक कुल सचिव,
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, मानू

Editor

Dr. Aftab Alam Baig
Assistant Registrar
DDE, MANUU

संपादक-मंडल
(Editorial Board)

प्रो. ऋषभदेव शर्मा
पूर्व अध्यक्ष, उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद
परामर्शी (हिन्दी), दूरस्थ शिक्षा निदेशालय,
मानू

Prof. Rishabha Deo Sharma
Former Head, P.G. and Research Institute, Dakshin Bharat Hindi Prachar Sabha, Hyderabad
Consultant (Hindi), DDE, MANUU

प्रो. श्याम राव राठोड़
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
अंग्रेज़ी और विदेशी भाषा वि.वि.,हैदराबाद

Prof. Shyamrao Rathod
Head, Department of Hindi
EFL University, Hyderabad

प्रो. गंगाधर वानोडे
क्षेत्रीय निदेशक
केंद्रीय हिन्दी संस्थान, सिकंदराबाद, हैदराबाद

Prof. Gangadhar Wanode
Regional Director
Central Institute of Hindi
Secunderabad, Hyderabad.

डॉ. आफ़ताब आलम बेग
सहायक कुल सचिव,
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, मानू

Dr. Aftab Alam Baig
Assistant Registrar, DDE, MANUU

डॉ. वाजदा इशरत
अतिथि प्राध्यापक/असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (सं)
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, मानू

Dr. Wajada Ishrat
Guest Faculty/Assistant Professor (Cont.)
DDE, MANUU

डॉ. एल. अनिल
अतिथि प्राध्यापक/असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (सं)
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, मानू

Dr. L. Anil
Guest Faculty/Assistant Professor (Cont.)
DDE, MANUU

पाठ्यक्रम-समन्वयक

डॉ. आफ़ताब आलम बेग

सहायक कुल सचिव, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद

लेखक **इकाई संख्या**

- **प्रो. गोपाल शर्मा,** पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग, अरबा मींच विश्वविद्यालय, इथोपिया 1,8
- **डॉ. चंदन कुमारी,** स्वतंत्र लेखिका, भोपाल, मध्य प्रदेश 2,3
- **डॉ. सुपर्णा मुखर्जी,** असिस्टेंट प्रोफेसर, भवन्स विवेकानंद डिग्री कॉलेज, सिकंदराबाद 4
- **डॉ. सुषमा देवी**, एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी), बद्रुका कॉलेज, हैदराबाद 5
- **डॉ. इबरार खान**, असिस्टेंट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,हिंदी विभाग, मिर्ज़ा ग़ालिब कॉलेज, गया. 6
- **डॉ. वाजदा इशरत,** अतिथि प्राध्यापक/असिस्टेंट प्रोफेसर(सं), दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, मानू 7
- **डॉ. अनीता शुक्ल,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा, गुजरात 9, 10,13, 14
- **प्रो. निर्मला एस. मौर्य,** पूर्व कुलपति, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर 11,12
- **प्रो. देवराज**, पूर्व अधिष्ठाता, अनुवाद विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा 15,16

विषयानुक्रमणिका

संदेश	:	कुलपति	7
संदेश	:	निदेशक	9
भूमिका	:	पाठ्यक्रम–समन्वयक	11

खंड/ इकाई		विषय	पृष्ठ संख्या
खंड 1	:		
इकाई 1	:	भारतीय काव्यशास्त्र : ऐतिहासिक विकास	13
इकाई 2	:	रस संप्रदाय	30
इकाई 3	:	अलंकार संप्रदाय	42
इकाई 4	:	रीति संप्रदाय	54
खंड 2	:		
इकाई 5	:	ध्वनि संप्रदाय	68
इकाई 6	:	वक्रोक्ति संप्रदाय	83
इकाई 7	:	औचित्य संप्रदाय	99
इकाई 8	:	पाश्चात्य काव्यशास्त्र :ऐतिहासिक विकास	108
खंड 3	:		
इकाई 9	:	अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत	130
इकाई 10	:	लोंजाइनस और पेरि-इप्सुस	142
इकाई 11	:	कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत	154
इकाई 12	:	क्रोचे का अभिव्यंजनावाद	165

खंड 4 :

इकाई 13 : रिचर्ड्स का मूल्य सिद्धांत 176

इकाई 14 : इलियट का परंपरा एवं निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत 189

इकाई 15 : अस्तित्ववाद 201

इकाई 16 : मार्क्सवाद 222

परीक्षा प्रश्नपत्र का नमूना **247**

प्रूफ रीडर:

प्रथम : डॉ. वाजदा इशरत, अतिथि प्राध्यापक/असिस्टेंट प्रोफ़ेसर(सं), दू. शि. नि., मानू

द्वितीय : डॉ. एल. अनिल, अतिथि प्राध्यापक/असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (सं), दू. शि. नि., मानू

अंतिम : डॉ. आफ़ताब आलम बेग, सहायक कुलसचिव, दू. शि. नि., मानू.

संदेश

मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी की स्थापना 1998 में संसद के एक अधिनियम द्वारा की गई थी। यह NAAC मान्यता प्राप्त एक केंद्रीय विश्वविद्यालय है। विश्वविद्यालय का अधिदेश है: (1) उर्दू भाषा का प्रचार-प्रसार और विकास (2) उर्दू माध्यम से व्यावसायिक और तकनीकी शिक्षा (3) पारंपरिक और दूरस्थ शिक्षा के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना, और (4) महिला शिक्षा पर विशेष ध्यान देना। यही वे बिंदु हैं जो इस केंद्रीय विश्वविद्यालय को अन्य सभी केंद्रीय विश्वविद्यालयों से अलग करते हैं और इसे एक अनूठी विशेषता प्रदान करते हैं, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भी मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा के प्रावधान पर जोर दिया गया है।

उर्दू माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार का एकमात्र उद्देश्य उर्दू भाषी समुदाय के लिए समकालीन ज्ञान और विषयों की पहुंच को सुविधाजनक बनाना है। लंबे समय से उर्दू में पाठ्यक्रम सामग्री का अभाव रहा है। इस लिए उर्दू भाषा में पुस्तकों की अनुपलब्धता चिंता का विषय रहा है। नई शिक्षा नीति 2020 के दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू विश्वविद्यालय मातृभाषा / घरेलू भाषा में पाठ्यक्रम सामग्री प्रदान करने की राष्ट्रीय प्रक्रिया का हिस्सा बनने को अपना सौभाग्य मानता है। इसके अतिरिक्त उर्दू में पठन सामग्री की अनुपलब्धता के कारण उभरते क्षेत्रों में अद्यतन ज्ञान और जानकारी प्राप्त करने या मौजूदा क्षेत्रों में नए ज्ञान प्राप्त करने में उर्दू भाषी समुदाय सुविधाहीन रहा है। ज्ञान के उपरोक्त कार्य-क्षेत्र से संबंधित सामग्री की अनुपलब्धता ने ज्ञान प्राप्त करने के प्रति उदासीनता का वातावरण बनाया है जो उर्दू भाषी समुदाय की बौद्धिक क्षमताओं को मुख्य रूप से प्रभावित कर सकता है। ये वह चुनौतियां हैं जिनका सामना उर्दू विश्वविद्यालय कर रहा है। स्व-अध्ययन सामग्री का परिदृश्य भी बहुत अलग नहीं है। प्रत्येक शैक्षणिक वर्ष के प्रारंभ में स्कूल/कॉलेज स्तर पर भी उर्दू में पाठ्य पुस्तकों की अनुपलब्धता पर चर्चा होती है। चूंकि उर्दू विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम केवल उर्दू है और यह विश्वविद्यालय लगभग सभी महत्वपूर्ण विषयों के पाठ्यक्रम प्रदान करता है, इसलिए इन सभी विषयों की पुस्तकों को उर्दू में तैयार करना विश्वविद्यालय की सबसे महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मौलाना आज़ाद राष्ट्रीय उर्दू विश्वविद्यालय अपने दूरस्थ शिक्षा के छात्रों को स्व-अध्ययन सामग्री अथवा सेल्फ लर्निंग मैटेरियल (SLM) के रूप में पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराता है। वहीं उर्दू माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक किसी भी व्यक्ति के लिए भी यह सामग्री उपलब्ध है। अधिकाधिक लोग इससे लाभान्वित हो सकें, इसके लिए उर्दू में इलेक्ट्रॉनिक पाठ्य सामग्री अथवा eSLM विश्वविद्यालय की वेबसाइट से मुफ़्त डाउनलोड के लिए उपलब्ध है।

मुझे अत्यंत प्रसन्नता है कि संबंधित शिक्षकों की कड़ी मेहनत और लेखकों के पूर्ण सहयोग के कारण पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य उच्च-स्तर पर प्रारंभ हो चुका है। दूरस्थ शिक्षा के छात्रों

की सुविधा के लिए, स्व-अध्ययन सामग्री की तैयारी और प्रकाशन की प्रक्रिया विश्वविद्यालय के लिए सर्वोपरि है। मुझे विश्वास है कि हम अपनी स्व-शिक्षण सामग्री के माध्यम से एक बड़े उर्दू भाषी समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम होंगे और इस विश्वविद्यालय के अधिदेश को पूरा कर सकेंगे।

एक ऐसे समय जब हमारा विश्वविद्यालय अपनी स्थापना की 25वीं वर्षगांठ मना चुका है, मुझे इस बात का उल्लेख करते हुए हर्ष हो रहा है कि विश्वविद्यालय का दूरस्थ शिक्षा निदेशालय कम समय में स्व-अध्ययन सामग्री तथा पुस्तकें तैयार कर विद्यार्थियों को पहुंचा रहा है। देश के कोने कोने में छात्र विभिन्न दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रमों से लाभान्वित हो रहे हैं। यद्यपि पिछले वर्षों कोविड-19 की विनाशकारी स्थिति के कारण प्रशासनिक मामलों और संचार में भी काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है लेकिन विश्वविद्यालय द्वारा दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए सर्वोत्तम प्रयास किए गए हैं।

मैं विश्वविद्यालय से जुड़े सभी विद्यार्थियों को इस परिवार का अंग बनने के लिए हृदय से बधाई देता हूं और यह विश्वास दिलाता हूँ कि मौलाना आज़ाद राष्ट्रीय उर्दू विश्वविद्यालय का शैक्षिक मिशन सदैव उनके लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा। शुभकामनाओं सहित!

प्रो. सैयद ऐनुल हसन

कुलपति

संदेश

दूरस्थ शिक्षा प्रणाली को पूरी दुनिया में अत्यधिक कारगर और लाभप्रद शिक्षा प्रणाली की हैसियत से स्वीकार किया जा चुका है और इस शिक्षा प्रणाली से बड़ी संख्या में लोग लाभान्वित हो रहे हैं। मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी ने भी अपनी स्थापना के आरंभिक दिनों से ही उर्दू तबके की शिक्षा की स्थिति को महसूस करते हुए इस शिक्षा प्रणाली को अपनाया है। मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी का प्रारम्भ 1998 में दूरस्थ शिक्षा प्रणाली से हुआ और इस के बाद 2004 में विधिवत तौर पर पारंपरिक शिक्षा का आग़ाज़ हुआ। पारंपरिक शिक्षा के विभिन्न विभाग स्थापित किए गए।

देश की शिक्षा प्रणाली को बेहतर अंदाज़ से जारी रखने में UGC की अहम् भूमिका रही है। दूरस्थ शिक्षा (ODL) के तहत जारी विभिन्न प्रोग्राम UGC-DEB से मंजूर हैं।

पिछले कई वर्षों से यूजीसी-डीईबी (UGC-DEB) इस बात पर ज़ोर देता रहा है कि दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के पाठ्यक्रम व व्यवस्था को पारंपरिक शिक्षा प्रणाली के पाठ्यक्रम व व्यवस्था से जोड़कर दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के छात्रों के मेयार को बुलंद किया जाये। चूंकि मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी दूरस्थ शिक्षा और पारंपरिक शिक्षा का विश्वविद्यालय है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूजीसी-डीईबी (UGC-DEB) के दिशा निर्देशों के मुताबिक़ दूरस्थ शिक्षा प्रणाली और पारंपरिक शिक्षा प्रणाली के पाठ्यक्रम को जोड़कर और गुणवत्तापूर्ण करके स्व-अध्ययन सामग्री को पुनः क्रमवार यू.जी. और पी.जी. के विद्यार्थियों के लिए क्रमशः 6 खंड- 24 इकाइयों और 4 खंड – 16 इकाइयों पर आधारित नए तर्ज़ की रूपरेखा पर तैयार किया गया है।

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय यू.जी., पी.जी., बी.एड., डिप्लोमा और सर्टिफिकेट कोर्सेज़ पर आधारित कुल 17 पाठ्यक्रम चला रहा है। साथ ही तकनीकी हुनर पर आधारित पाठ्यक्रम भी शुरू किए जा रहे हैं। शिक्षार्थियों की सुविधा के लिए 9 क्षेत्रीय केंद्र (बेंगलुरु, भोपाल, दरभंगा, दिल्ली, कोलकत्ता, मुंबई, पटना, रांची और श्रीनगर) और 6 उपक्षेत्रीय केंद्र (हैदराबाद, लखनऊ, जम्मू, नूह, अमरावती और वाराणसी) का एक बहुत बड़ा नेटवर्क मौजूद है। इस के अलावा विजयवाड़ा में एक एक्सटेंशन सेंटर कायम किया गया है। इन क्षेत्रीय केन्द्रों के अंतर्गत 160 से अधिक अधिगम सहायक केंद्र (Learner Support Centre) और 20 प्रोग्राम सेंटर काम कर रहे हैं, जो शिक्षार्थियों को शैक्षिक और प्रशासनिक सहयोग उपलब्ध कराते हैं। दूरस्थ शिक्षा निदेशालय (DDE) अपने शैक्षिक और व्यवस्था से संबन्धित कार्यों में आई.सी.टी. का इस्तेमाल कर रहा है। साथ ही सभी पाठ्यक्रमों में प्रवेश सिर्फ़ ऑनलाइन तरीके से ही दिया जाता है।

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय की वेबसाइट पर शिक्षार्थियों को स्व-अध्ययन सामग्री की सॉफ्ट कॉपियाँ भी उपलब्ध कराई जा रही हैं। इसके अतिरिक्त ऑडियो-वीडियो रिकॉर्डिंग का लिंक भी वैबसाइट पर उपलब्ध है। इसके साथ-साथ शिक्षार्थियों की सुविधा के लिए SMS और व्हाट्सएप्प ग्रुप एवं ईमेल की व्यवस्था भी की गयी है। जिसके द्वारा शिक्षार्थियों को पाठ्यक्रम के विभिन्न पहलुओं जैसे- कोर्स के रजिस्ट्रेशन, दत्तकार्य, काउंसेलिंग, परीक्षा आदि के बारे में सूचित किया जाता है। गत वर्षों से रेगुलर काउंसेलिंग के अतिरिक्त एडिशनल रेमेडियल क्लासेस(ऑनलाइन) उपलब्ध कराये जा रहे हैं। ताकि शिक्षार्थियों के मेयार को बुलंद किया जा सके।

आशा है कि देश की शैक्षणिक और आर्थिक रूप में पिछड़ी आबादी को आधुनिक शिक्षा की मुख्यधारा से जोड़ने में दूरस्थ शिक्षा निदेशालय की भी मुख्य भूमिका होगी। आने वाले दिनों में शैक्षणिक जरूरतों के अनुरूप नई शिक्षा नीति (NEP 2020) के अंतर्गत विभिन्न पाठ्यक्रमों में परिवर्तन किया जायेगा और आशा है कि यह दूरस्थ शिक्षा को अत्यधिक प्रभावी और कारगार बनाने में मददगार साबित होगा।

प्रो. मो. रज़ाउल्लाह ख़ान
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

भूमिका

'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' शीर्षक यह पुस्तक मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद के **एमए (हिंदी) तृतीय सत्र** के दूरस्थ शिक्षा माध्यम के छात्रों के निमित्त **नवम प्रश्नपत्र** की स्व-अध्ययन सामग्री के रूप में तैयार की गई है। इसकी संपूर्ण योजना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के निर्देशों के अनुसार, नियमित माध्यम के पाठ्यक्रम के अनुरूप रखी गई है।

साहित्य के अध्येताओं के लिए काव्यशास्त्र एक अपरिहार्य विषय है, क्योंकि काव्यशास्त्र के अध्ययन के बिना साहित्य की न तो समीक्षा की जा सकती है; और न मूल्यांकन ही। यही कारण है कि सभी देशों और भाषाओं में काव्यशास्त्र की सुदृढ़ परंपरा पाई जाती है। भारत में काव्यशास्त्र का इतिहास उतना ही पुराना है जितना वैदिक साहित्य। इसी प्रकार पश्चिम में भी काव्यशास्त्र की परंपरा यूनानी सभ्यता के आरंभिक काल से ही मिलनी शुरू हो जाती है। इस पुस्तक में इन दोनों ही परंपराओं के मुख्य आचार्यों और सिद्धांतों का परिचय दिया गया है।

यह पुस्तक निर्धारित पाठ्यचर्या के अनुरूप चार खंडों में विभाजित है। हर खंड में चार-चार इकाइयाँ शामिल हैं। पहले दो खंड भारतीय काव्यशास्त्र से संबंधित हैं। इनमें भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास को समझाने के बाद रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य संप्रदाय पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के शेष दो खंड पाश्चात्य काव्यशास्त्र को समर्पित हैं। यहाँ भी पहले पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास की रूपरेखा समझाई गई है और उसके बाद अरस्तू, लांजाइनस, कॉलरिज, क्रोचे, रिचड्र्स तथा इलियट के साहित्य सिद्धांतों की व्याख्या की गई है। अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद से संबंधित अंतिम दो इकाइयाँ इस चर्चा को परिपूर्णता प्रदान करती हैं।

इस पुस्तक के अध्ययन से अध्येताओं को भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विविध पक्षों की जानकारी हो सकेगी। वे साहित्यिक चिंतन और आलोचना के विकास से भी परिचित होंगे। उम्मीद की जाती है कि इससे छात्रों की साहित्य को समझने की दृष्टि का विकास होगा, ऐतिहासिक और सामाजिक समझ बेहतर होगी तथा सौंदर्यबोध भी विकसित होगा। कहना न होगा कि इससे अध्येताओं का वैयक्तिक, बौद्धिक और मानसिक विकास होगा।

दूरस्थ माध्यम के छात्रों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए इस पाठ सामग्री को यथासंभव सरल, सहज, सुबोध, तर्कसंगत और प्रवाहपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।

इस समस्त पाठ सामग्री को तैयार करने में हमें जिन विद्वान इकाई लेखकों, आचार्यों, ग्रंथों, ग्रंथकारों और पत्र-पत्रिकाओं से सहायता मिली है, उन सबके प्रति हम कृतज्ञ हैं।

-डॉ. आफ़ताब आलम बेग

पाठ्यक्रम समन्वयक

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र

इकाई 1 : भारतीय काव्यशास्त्र : ऐतिहासिक विकास

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 मूल पाठ : भारतीय काव्यशास्त्र : ऐतिहासिक विकास

1.3.1 काव्य शास्त्र: स्वरूप और अभिप्राय

1.3.2 भारतीय काव्यशास्त्र के कुछ संप्रदाय

1.4 पाठ सार

1.5 पाठ की उपलब्धियां

1.6 शब्द संपदा

1.7 परीक्षार्थ प्रश्न

1.8 पठनीय पुस्तकें

1. 1 : प्रस्तावना

हिंदी की अपनी आलोचना पद्यति और समीक्षा दृष्टियों पर भारतीय काव्यशास्त्र और मुख्य रूप से संस्कृत काव्य शास्त्रीय परंपरा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। काव्य शास्त्र के विविध संप्रदायों, सिद्धांतों, और आचार्यों से परिचय प्राप्त करना बहुत जरूरी है क्योंकि इसे जाने बिना हिंदी साहित्य का अध्ययन मुकम्मल नहीं हो सकता। आपको अचरज होगा पर यह सच है कि यहाँ 'काव्य' का मतलब 'कविता' या 'पद्य' मात्र नहीं है। यहाँ इसका अर्थ है – साहित्य। काव्य शास्त्र इस तरह साहित्य शास्त्र हुआ। इस इकाई के अध्ययन को शुरू करने से पहले ही आप जान लें कि जब कोई समझदार विद्यार्थी काव्यशास्त्र का प्रयोग करता है तो उसका मतलब या आशय कविता या साहित्य के अध्ययन, विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन के प्रतिमानों का निर्धारण करने वाले साहित्य चिंतन से होता है। इस इकाई में आप भी ऐसा ही समझते हुए आगे बढ़ेंगे कि काव्य शास्त्र और साहित्य शास्त्र एक ही बात है। आप यह भी जानकर आगे बढ़ें कि जिस अर्थ में पश्चिम में साहित्य सिद्धांतों की चर्चा की जाती है,उसी अर्थ में भारत में काव्यशास्त्र की चर्चा होती चली आई है। यह भी जानने वाली बात है कि भारतीय काव्य शास्त्र में सिद्धांत निरूपण तो होता ही है, काव्य लक्षण और विविध संप्रदायों का भी विवेचन किया जाता है। संप्रदाय का यहाँ जो अर्थ है वह कुछ दूसरा है। इसे आप चिंतन प्रणाली (स्कूल ऑफ थॉट) समझें। इस इकाई में आप भारतीय काव्य शास्त्र के छह संप्रदायों –रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, और औचित्य का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे। काव्य लक्षणों आदि को भी समझेंगे। यही नहीं हिंदी आलोचना के निर्माण और विकास में भारतीय काव्य शास्त्र की

भूमिका को भी सरसरी तौर पर देखते हुए चलेंगे। आपकी चाल इस विकास की रफ्तार को तभी पकड़ सकेगा जब आप वह तो पढ़ें ही जो लिखा है,उस पर भी गौर करें जो अभिप्रेय है।

1.2 : उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- काव्य का अर्थ जान सकेंगे।
- काव्य शास्त्र का अर्थ जान सकेंगे
- भारतीय काव्य शास्त्र के ऐतिहासिक विकास को रेखांकित कर सकेंगे।
- भारतीय काव्य शास्त्र के विविध संप्रदायों के बारे में जाने सकेंगे।
- भारतीय काव्य शास्त्र के पारिभाषिक और अवधारणात्मक शब्दों को पहचान कर उनका अभिप्राय जान सकेंगे।

1.3 मूल पाठ : भारतीय काव्यशास्त्र : ऐतिहासिक विकास

1.3.1 काव्य शास्त्र: स्वरूप और अभिप्राय

आपने यह कहावत जरूर सुनी होगी ' जहां न पहुंचे रवि, वहाँ पहुंचे कवि'। इसका सीधा सा मतलब है कि कवि सब जगह पहुँच जाता है। वह सब देख लेता है। वह सर्वज्ञ है। कवि जो करता है वह कविता है। तभी तो कवि को प्रजापति कहा गया है (असारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः)। साहित्यकार अपने लिए शब्दों के द्वारा एक संसार का निर्माण करता है। कवि जो रचता (सर्जन) है वह है काव्य। काव्य वह वाक्य रचना है जिससे मन किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् वह जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। 'रसगंगाधर' पुस्तक में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता भी आ जाती है। भारतीय काव्य चिन्तन की केन्द्रीय धुरी 'शब्दार्थ' रचना ही है क्योंकि कविता की निष्पत्ति के लिए एकमात्र और अन्तिम मूल सामग्री वही है।

काव्य का सांगोपांग अध्ययन करने के लिए विद्वानों ने काव्य शास्त्र का निर्माण किया। 'काव्यशास्त्र' काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर प्रस्तुत किये सिद्धान्तों का समूह है। संस्कृत भाषा में 'काव्य' शब्द का प्रयोग 'साहित्य' के अर्थ में होता है। शास्त्र का अर्थ है अनुशासन। संस्कृत भाषा से हिंदी में काव्य शास्त्र आया है। आचार्य भरत मुनि के ग्रंथ 'नाट्य शास्त्र' को पहला काव्य शास्त्रीय ग्रंथ माना जाता है और इसे 'पंचम वेद' कहकर सम्मानित किया जाता है। वैसे विद्वानों का मत है कि काव्यशास्त्र का वास्तविक आरंभ दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रंथों के रचनकाल के बहुत बाद हुआ और डॉ. सुशील कुमार डे तथा प्रो काणे के अनुसार ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही

उसका जन्म हुआ है। काव्यशास्त्र के लिए कई दूसरे नाम भी रखे जा चुके हैं। जैसे 'साहित्यशास्त्र', 'अलंकारशास्त्र' और 'समीक्षाशास्त्र' आदि। इसके प्राचीन नामों में 'क्रियाकलाप' और राजशेखर द्वारा दिया गया नाम 'साहित्य विद्या' भी हैं परन्तु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके। संस्कृत आलोचना में 'अलंकारशास्त्र' अधिक लोकप्रिय हुआ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि हर युग में परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है; इसलिए काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में भी हमेशा बदलाव होता रहा है। भारत में भरत मुनि के सिद्धान्तों से लेकर और पश्चिम में सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो से लेकर आज तक बदलाव और परिवर्तन समय-समय पर होते रहे हैं। भारत में काव्य नाटकादि कृतियों को 'लक्ष्य ग्रंथ' तथा सैद्धांतिक ग्रंथों को 'लक्षण ग्रंथ' कहा जाता है। इन दो पारिभाषिक शब्दों से ही आप समझ सकते हैं कि भारत में शुरू से ही काव्य शास्त्रीय दृष्टि का भी विकास हो रहा था। पश्चिम की तरह ही भारत में भी यह चिन्तन ई.पू. तीसरी चौथी शती से ही प्रौढ़ रूप में मिलने लगता है जो इस बात का परिचायक है कि काव्य के विषय में विचार विमर्श कई सदियों पहले ही शुरू हो चुका था।यही नहीं, पश्चिम में प्लेटो तथा अरस्तू से लेकर सत्रहवीं शती तक वहाँ इसका अव्यवस्थित एवं अक्रमबद्ध विवेचन मिलता है, जबकि आचार्य भरत से प्रारम्भ होकर भारतीय काव्य-चिन्तन सत्रहवीं शती तक अपने विकास के चरम शीर्ष पर पहुँच जाता है। भामह से पहले भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत व्यवस्थित, सिलसिलेवार और सुचिंतित शास्त्रीय प्रयत्न प्राप्त नहीं होता। भरत के नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्रीय सूचनाएँ और प्रारंभिक चिंतक के मर्यादित सूत्र अवश्य प्राप्त होते हैं, किंतु उनमें वर्गीकरण विभाजन या अन्वेषणात्मक तथा कल्पनात्मक व्यापक दृष्टि की कमी मिलती है। यह भी याद रखने की बात है कि भारतीय चिंतन में धर्म और अध्यात्म का चाहे कितना भी प्रभाव क्यों न रहा हो फिर भी आचार्यों ने काव्य को लोकोत्तर कहते हुए भी आध्यात्मिक नहीं माना। नैतिकता और धर्म को कभी भी काव्य गुण की कसौटी नहीं बनने दिया। काव्य का प्राण तो आनंद ही रहा।

यह भी आपको जानना चाहिए कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने कविता और नाटक आदि को पढ़कर और देखकर यह समझ लिया था कि इनसे पाठक और दर्शक को जो आनंद प्राप्त होता है वह बहुत श्रेष्ठ होता है। इस आनंद को उन्होंने 'रस' कहा। यह 'आनंद' और 'रस' उन्हें बहुत महत्वपूर्ण लगा और इसलिए उन्होंने यह जानने और बताने की कोशिश की कि यह कैसे निर्मित होता है। यह कैसे पाठक और श्रोता तक पहुंचता है? इन्ही प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए विद्वानों ने भरपूर कोशिश की। इसी से भारतीय काव्य शास्त्र के छह संप्रदायों – रस, अलंकार, रीति, ध्वनि,वक्रोक्ति और औचित्य का जन्म हुआ।चूंकि काव्य शास्त्र काव्य के क्षेत्र में नियम

व्यवस्था और शासन की शक्तियों का नियमन करता है इसलिए यह काव्य की कसौटी प्रस्तुत करता है जिसके यही छह सिद्धांत हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में संस्कृत काव्य की अनेक विशेषताओं का योगदान रहा है।संस्कृत आलोचना-शास्त्र की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह मुख्यतः सिद्धान्तवादी है। उसका ध्यान इस बात पर है कि काव्य कैसा होना चाहिए, उसकी विशेषताएँ क्या हों, पर किसी काव्य की व्यावहारिक आलोचना का वहाँ प्रायः अभाव दीखता है। आचार्यों ने काव्य की आत्मा की खोज पर अधिक ध्यान दिया है। कविता क्या है, इसकी पड़ताल की है, पर कोई अमुक कविता कैसी है—इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

हिंदी में भी यह भारतीय काव्य शास्त्र संस्कृत से प्राकृत –अपभ्रंश भाषाओं से गुजरता हुए आया है। आधुनिक गद्य में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, राम चंद्र शुक्ल, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, और नन्द दुलारे वाजपेयी आदि के द्वारा इस परंपरा का कुछ निर्वाह हुआ है।

बोध प्रश्न -

- काव्य और काव्य शास्त्र के व्यापक अर्थ को स्पष्ट कीजिए?
- किन प्रश्नों की खोज ने काव्य शास्त्रीय चिंतन को आगे बढ़ाया?
- इस चिंतन का क्या परिणाम हुआ?

1.3.2 भारतीय काव्यशास्त्र के कुछ संप्रदाय

यह तो आप अब तक जान ही चुके हैं कि संस्कृत में 'काव्य' का क्या तात्पर्य होता है और 'साहित्य' के व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। यह भी आप जानते हैं कि भारतीय काव्य शास्त्र के छह प्रमुख संप्रदाय हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के दस अंगों – रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य, कवि समय, नायक-नायिका भेद, काव्य रूढ़ि और छंदोविवेचन का लक्षण उदाहरण सहित चर्चित होता आया है।इसी को 'काव्यांग विवेचन' कहते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने तो यहाँ तक कह दिया था कि एक काव्य-पुरुष होता है। इस काव्य पुरुष के बारे में पहले तो कश्मीर निवासी राजशेखर ने बताया और फिर आचार्य विश्वनाथ ने लिखा, " काव्य रूपी पुरुष के शरीर रूप में शब्दार्थ है, रसादि आत्मा है, शौर्य आदि गुण हैं, काणत्वादि दोष हैं, रीति आदि अवयव हैं, और कटक कुंडल के समान सौन्दर्य प्रसारक आभूषण अलंकार हैं। अर्थात काव्य का एक पुरुष के शरीर आत्मा, वस्त्र, अंग, आभूषण से युक्त पुरुष के समान बताया गया है।" इनमें से कुछ प्रमुख अंगों की सैद्धांतिक चर्चा करके भारतीय आचार्यों ने कुछ संप्रदायों

की स्थापना की। चूंकि सबसे पहले सिद्धांत शास्त्री भरत मुनि हैं तो क्यों न आप उनके द्वारा प्रतिपादित रस संप्रदाय से शुरू करें?

बोध प्रश्न-

- काव्यांग विवेचन से आप क्या समझते हैं?
- काव्य पुरुष कौन और कैसा है? इसका अभिप्राय क्या है?

1) रस संप्रदाय –

रस का शाब्दिक अर्थ है - आनन्द। विभिन्न संदर्भों में रस का अर्थ अलग अलग होता है। काव्य में जो आनन्द आता है, वह ही काव्य का रस है। काव्य से मिलने वाला आनन्द अर्थात् रस लौकिक न होकर अलौकिक होता है। रस काव्य की आत्मा है। संस्कृत में कहा गया है कि "वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्" अर्थात् “रसयुक्त वाक्य ही काव्य” है। साहित्य में काव्यास्वादन से प्राप्त होने वाले आनंद को रस कहते हैं।

रस सिद्धांत के आदि-प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। उनसे लेकर डॉ नगेन्द्र तक अनेक आचार्यों ने इसका पल्लवन किया है।

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने रस की व्याख्या करते हुये कहा है -

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति:।

अर्थात विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। सुप्रसिद्ध ग्रंथ “साहित्य दर्पण” में कहा गया है कि हृदय का स्थायी भाव, जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो रस रूप में निष्पन्न हो जाता है।

रस के चार अंग हैं - स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव।

क) स्थायी भाव : भाव का अर्थ है:-होना। सहृदय के अंत:करण में जो मनोविकार, वासना या संस्कार रूप में सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें कोई भी विरोधी या अविरोधी दबा नहीं सकता हूं, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं।इनकी संख्या 11 है - रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद, वात्सलता और ईश्वर विषयक प्रेम।

ख) विभाव : विभाव का अर्थ है कारण। स्थायी भाव के उत्पन्न होने के कारणों को विभाव कहते हैं। ये स्थायी भावों का विभावन/उद्बोधन करते हैं, उन्हें आस्वाद योग्य बनाते हैं। ये रस की उत्पत्ति में आधारभूत माने जाते हैं। विभाव के दो भेद हैं: आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव।

ग) अनुभाव : रति, हास, शोक आदि स्थायी भावों को प्रकाशित या व्यक्त करने वाली आश्रय की चेष्टाएं अनुभाव कहलाती हैं।ये चेष्टाएं भाव-जागृति के उपरांत आश्रय में उत्पन्न होती हैं इसलिए

इन्हें अनुभाव कहते हैं, अर्थात जो भावों का अनुगमन करे वह अनुभाव कहलाता है।अनुभाव के दो भेद हैं - इच्छित और अनिच्छित।

घ) संचारी या व्यभिचारी भाव : जो भाव केवल थोड़ी देर के लिए स्थायी भाव को पुष्ट करने के निमित्त सहायक रूप में आते हैं और तुरंत लुप्त हो जाते हैं, वे संचारी भाव हैं।

संचारी शब्द का अर्थ है, साथ-साथ चलना अर्थात संचरणशील होना, संचारी भाव स्थायी भाव के साथ संचरित होते हैं, इनमें इतना सार्मथ्य होता है कि ये प्रत्येक स्थायी भाव के साथ उसके अनुकूल बनकर चल सकते हैं। इसलिए इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है।संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या 33 मानी गयी है - निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार (मिर्गी), स्वप्न, प्रबोध, अमर्ष (असहनशीलता), अवहित्था (भाव का छिपाना), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

आचार्य भरत मुनि ने सूत्र रूप से यह कहा था कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इस आधार को लेकर बहुत से विद्वानों ने बाद में लंबी चौड़ी व्याख्याएँ कीं। अभिनव गुप्त की व्याख्या के आधार पर 'काव्य प्रकाश' पुस्तक के लेखक मंम्मट ने कहा है कि काव्य पढ़ने,सुनने या अभिनय देखने पर विभाव आदि के संयोग से निष्पन्न होने वाली आनंदात्मक चित्त वृत्ति ही रस है।

भरत मुनि की इस परिभाषा को आगे के प्रमुख आचार्यों ने अपनी तरह से पेश किया। इससे आचार्य भट्ट लोलट्ट का 'उत्पत्तिवाद', आचार्य शंकुक का 'अनुमतिवाद', भट्ट नायक का 'भुक्ति वाद' और अभिनव गुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' आदि 'वाद' चर्चा में आए। आनंद वर्धन, महिम भट्ट, राजशेखर, पंडित राज जगन्नाथ, कुंतक, भोजराज, रूय्यक, जयदेव आदि सभी ने रस के महत्व को स्वीकार किया है।

बोध प्रश्न -

- रस संप्रदाय के सबसे बड़े आचार्य कौन हैं, उनकी प्रतिनिधि रचना का नाम क्या है?
- रस की निष्पत्ति कैसे होती है?

2) अलंकार संप्रदाय –

जैसे आभूषण या जेवरात शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही अलंकार का कार्य काव्य की शोभा बढ़ाना है। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में रस के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण संप्रदाय 'अलंकार-संप्रदाय है। अलंकार का सामान्य अर्थ है- 'आभूषण; किन्तु काव्य के क्षेत्र में इसका

विशेष रूढ़ि अर्थ है। 'अलंकरोतीति अलंकार; (जो काव्य को अलंकृत करे, वही अलंकार है।) डॉ हरदेव बाहरी के शब्दों में "रचनागत विशिष्ट शब्द योजना या अर्थ चमत्कार को अलंकार कहा जाता है।" प्रारंभिक काव्यशास्त्रीय चिंतन में अलंकार रमणीयता और काव्यात्मक चमत्कार के रूप में देखे गए।अपने संकीर्ण अर्थ में अलंकार उपमादि अलंकारों का वाचक है। अलंकार काव्य के भाव पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष को सुंदर बनाने के साधन हैं।

आप यह तो समझ ही चुके हैं कि संस्कृत के आचार्यों ने कविता के प्राण तत्व का विचार जब किया तब उन्होंने यह पाया कि शब्द, अर्थ या शब्दार्थ ही काव्य का प्राण तत्व है। आचार्य भामह ने कहा कि शब्द और अर्थ का सहित भाव ही काव्य है (शब्दार्थो सहित काव्यम)। अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तक यही भामह हैं। आचार्य भामह ने यह माना कि काव्य यदि सौन्दर्य युक्त है तो स्वाभाविक रूप से रस युक्त होगा। अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को रस का पोषक माना। वे यह भी मानते हैं कि काव्य की सुंदरता को जो भी बढ़ाता है वह चाहे रस हो या रीति, गुण या ध्वनि सब अलंकार हैं। ये आचार्य अलंकार को काव्य का आधारभूत धर्म मानते हैं। यूँ तो भरत मुनि ने चार अलंकारों (उपमा, रुपक, दीपक, और यमक) की चर्चा की थी, पर छठी शताब्दी में पैदा हुए भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों में अव्वल और अलंकारों की संख्या 38 बताई। यह संख्या आगे के आचार्यों ने बदस्तूर बढ़ाई और बढ़ते बढ़ते यह संख्या 123 हो गई। बाद में इस दृष्टिकोण में बदलाव हुए और अलंकार संप्रदाय की विकास यात्रा के कम से कम तीन चरण तो हैं ही।

1) अलंकार ही सौन्दर्य है (भामह, दण्डी, वामन के अनुसार) ;

2) अलंकार और अलंकार्य में भेद है (रुद्रक का विचार);

3) अलंकार काव्य की बाह्य साज -सज्जा का उपकरण (ध्वनिवादी और रस वादी आचार्यों के मतानुसार)हैं।

इसे यदि आप आसान करके समझें तो यह कहेंगे कि अलंकार काव्य की शोभा, सहज धर्म और प्राणतत्व है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रुद्रट तथा आनंदवर्धन के ही मत का आधार लेते हुए अनेक चमत्कारपूर्ण शैलियों का नाम अलंकार माना है। उनकी दृष्टि में अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन की भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के ख़ास-खास ढंग हैं।उन्होंने भावों का उत्कर्ष और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली उक्ति को अलंकार माना है।

बोध प्रश्न-

- अलंकार संप्रदाय के विकास के तीन चरणों को चिन्हित कीजिए।
- अलंकार का कार्य क्या है?

3) रीति संप्रदाय –

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' एक व्यापक अर्थ धारण करने वाला शब्द है, लक्षणग्रंथों में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का अर्थ ढंग, शैली, प्रकार, मार्ग तथा प्रणाली है। कवि की अनुभूति को विशिस्ट पद-रचना द्वारा अभिव्यक्त करने के क्रम को मार्ग या रीति कहते हैं। यह उर्दू के 'तरीका' शब्द जैसा ही है। इस तरीके या ढंग अर्थात 'रीति' को भारतीय काव्य शास्त्री अपनी तरह से समझाते हैं। वे कहते हैं कि काव्यभाषा की विशेष गुणों वाली पद रचना 'रीति' है। विशिष्ट पद-रचना ही रीति है। यहाँ विशिष्ट का अर्थ है गुणसम्पन्न - विशेष गुणात्मा।

जैसे अलंकार का उल्लेख भरत मुनि ने किया था,वैसे ही उन्होंने रीति का संकेत भी कर दिया था। रीति सम्प्रदाय आचार्य वामन (9 वीं शती) द्वारा प्रवर्तित एक काव्य-सम्प्रदाय है जो रीति को काव्य की आत्मा मानता है।वामन काव्य का आधार रीति को तथा रीति का आधार गुण को मानते हैं- अतः गुण ही काव्य का सर्वोत्तम तत्व सिद्ध होता है।वामन ने रीति संप्रदाय में गुणों को इतना महत्व दिया है कि रीति संप्रदाय का दूसरा नाम 'गुण संप्रदाय' ही पड़ गया।

काव्य भाषा की पद-रचना या पद विन्यास की विशिष्टता उसमें निहित गुण में होती है। कुछ विशेष गुणों या गुण विशेष वाली पद-रचना ही रीति है और ऐसी ही रीति को आचार्य वामन काव्य की आत्मा मानते हैं।वामन ने गुणों के दो वर्ग किये – शब्द गुण और अर्थ गुण। शब्द गुण वर्ण योजना, पद-बंध या शब्द समूह के चमत्कार हैं किन्तु अर्थ गुण का चमत्कार अर्थ सौन्दर्य है।

आचार्य वामन के अलावा रुद्रट, राजशेखर, कुंतक,भोज, आदि प्रमुख रीति विषयक आचार्यों ने रीति विषयक विचार प्रस्तुत किये। उदाहरण के लिए कुछ आचार्य 10 गुणों को मानते हैं और कुछ केवल तीन गुणों – माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण ही मानते हैं। वामन ने रीति के तीन भेद किए हैं – वैदभी, गौड़ी, पांचाली,किन्तु रुद्रट ने एक चौथी ' लाटी' भी जोड़ दी।

रीति संप्रदाय जिसे एक जमाने में आचार्य वामन ने 'विशिष्ट पद-रचना रीति' कहा था वह आज के जमाने में 'स्टाइल इज द मैन' है। जब कोई किसी पंक्ति को पढ़कर कहता है कि यह 'अज्ञेय जी की पंक्ति है' तो इन पंक्तियों में एक विशिष्ट रीति पाते हैं।

बोध प्रश्न-

- रीति की परिभाषा न करते हुए उसे अपने शब्दों में समझाइए।
- गुण क्या हैं और तीन प्रमुख गुण कौन से हैं?

4) ध्वनि संप्रदाय –

आवाज तो उर्दू का शब्द है किन्तु ध्वनि संस्कृत का है और इसका अर्थ है 'नाद'। भारतीय भाषा चिंतन परंपरा में 'शब्द' भाषा की मूल इकाई है और इसको वैयाकरणों ने 'स्फोट' कहा है। अर्थ जिसमें स्फुटित हो वह 'स्फोट' है। स्फोटवादियों ने सुनाई पड़ने वाले शब्द को 'ध्वनि' कहा और शब्द को 'स्फोट'। इनसे आचार्य आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' के सिद्धांत को लिया और उसे साहित्य शास्त्र के अनुकूल बनाया और कहा, " जहाँ अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणिभूत करके उस (प्रतीयमान अर्थ) को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान ध्वनि कहते हैं।" यह परिभाषा कोई आसान परिभाषा नहीं है। इसे समझना होगा। दो बातें निकलकर आती हैं –

1) जहाँ शब्द और अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर उस (प्रतीयमान व्यंग्य) अर्थ को व्यक्त करे, वह प्रतीयमान अर्थ विशेष ध्वनि है।

2) जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशयित या उत्कर्ष प्रधान हो, वह ध्वनि है।

आनंदवर्धन प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि जैसे सुंदर स्त्रियों का सौंदर्य समस्त अंगों में अलग अलग दिखाई देता है वैसे ही ध्वनि भी कविता के सब रूपों में अलग अलग दिखाई देती है।

जिस शक्ति के आधार पर अर्थ निश्चित होता है,उसे शब्द शक्ति कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं – अभिधा, लक्षणा, व्यंजना। शब्द से वाच्यार्थ का बोध कराने वाली अभिधा शब्द शक्ति है, लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाली लक्षणा शब्द शक्ति है तथा व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली व्यंजना शब्द शक्ति है।

आज के जमाने में ध्वनि को आप उर्दू के एक दूसरे शब्द 'लहजा' से समझ सकते हैं। किसी रचना से क्या ध्वनि निकलती है? कैसे एक उपन्यास लुगदी साहित्य हो जाता है और दूसरी रचना 'क्लासिक'? गुलशन नंदा के उपन्यास साहित्य नहीं माने जाते, गुरुदत्त के उपन्यास न लुगदी माने जाते हैं और न साहित्य, पर प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य हैं क्योंकि उनकी 'दृष्टि' या उनका 'कथ्य' इस तरह 'ध्वनित' होता है। आज किसी रचना का मर्म तलाशना ही इस ध्वनि का ध्येय है।

बोध प्रश्न -

- आनंदवर्धन ने ध्वनि को कैसे परिभाषित किया है?
- शब्द शक्ति क्या है? इसके भेद कौन कौन से हैं?

5) वक्रोक्ति संप्रदाय –

वक्रोक्ति दो शब्दों 'वक्र' और 'उक्ति' की संधि से निर्मित शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है- ऐसी उक्ति जो सामान्य से अलग हो। टेढा कथन अर्थात जिसमें लक्षणा शब्द शक्ति हो। आप भी जानते हैं कि सामान्य बोलचाल के शब्दों का प्रयोग जिन अर्थों में होता है उन्हीं अर्थों से सुंदर काव्य की रचना नहीं हो सकती। काव्य रचना के लिए शब्दों का चमत्कार चाहिए। कुंतक नामक एक आचार्य ने अपनी पुस्तक 'वक्रोक्ति जीवितं' में वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा है। आचार्य कुंतक ने विचित्र अभिधा को ही वक्रोक्ति कहा है। भामह ने वक्रोक्ति को एक अलंकार माना था और उन्होंने 'वक्रोक्ति' को 'लोकातिक्रांतिगोचर' कहकर समस्त अलंकारों का आधार माना है। परंतु कुंतक ने वक्रोक्ति को अत्यंत व्यापक रूप दिया। पहले तो इसको परिभाषित किया और फिर इसके भेद और उपभेद बताए। आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य का 'जीवन' माना है – "वक्रोक्ति: काव्य जीवितम्।"वक्रोक्ति को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुंतक ने कहा है– "वक्रोक्ति: वैद्ग्ध्यं-भंगी-भणितिरुच्येत।" अर्थात वक्रोक्ति कवि-कर्म-कौशल पर आधारित वाक्वैचित्र्य (चमत्कारपूर्ण) अभिव्यक्ति है। कुंतक की परिभाषा में आए तीन शब्द अति महत्वापूर्ण है-वैदग्ध्य – कुशल प्रतिभा संपन्न कवि का निर्माण कौशल; भणिति – कथन की शैली; भंगी – चमत्कार अथवा चारुता।

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद हैं- 1) वर्णविन्यासवक्रता 2) पदपूर्वार्धवक्रता 3) पदपरार्धवक्रता 4) वाक्यवक्रता 5) प्रकरणवक्रता 6) प्रबन्धवक्रता।

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को उसके भेद और उपभेदों आदि के वर्गीकरण विश्लेषण से इतना व्यापक रूप दिया कि काव्य के सभी अवयव और क्षेत्रों से यह संबंधित हो सके। वर्ण योजना से लेकर प्रबंध तक के सभी काव्य व्यापार वक्रोक्ति के इस व्यापक रूप में आ जाते हैं किन्तु दुर्भाग्य से परवर्ती विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया और आगे चलकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार मात्र बनकर रह गई जिसके दो भेद माने गए हैं – काकू वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति।

फिर भी वक्रोक्ति सिद्धांत को यूँ ही खारिज नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण कहा। इसके प्रणेता आचार्य ने पूर्व प्रचलित काव्य सिद्धांतों –अलंकार, रस, ध्वनि, और रीति को बड़ी कुशलता पूर्वक वक्रोक्ति सिद्धांत में समाहित किया। इस सिद्धांत के महत्व को रेखांकित करते हुए हिंदी वक्रोक्ति जीवितं' की भूमिका (पृष्ठ 282) के लेखक डॉ नगेन्द्र के शब्दों में, " भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास में ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य काव्य का नहीं है और काव्य का नहीं है, और काव्य कला का इतना व्यापक एवं गहन विवेचन तो ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत भी नहीं हुआ। वास्तव में कावे के वस्तुगत सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण केवाँ हमरे काव्य शास्त्र में ही नहीं, पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी दुर्लभ है।"

यहाँ आपके ध्यान में हिंदी का पूरा व्यंग्य साहित्य आ रहा होगा। शरद जोशी और हरि शंकर परसाई जैसे लेखक वक्रोक्ति के प्रयोग से ही नामचीन हुए। इसके बिना न नेता का काम चलता है और न अभिनेता का। मीडिया का तो इसके बिना काम ही नहीं चलेगा।

बोध प्रश्न-

- वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ क्या है?
- वक्रोक्ति का आज के साहित्य में क्या स्थान और उपयोगिता है?

6) औचित्य संप्रदाय –

औचित्य का शाब्दिक अर्थ उचित का भाव है। अनुचित अलंकार प्रयोग, अनुचित गुण प्रयोग, अनुचित रस प्रयोग, अनुचित रीति प्रयोग काव्य के सौष्ठव को नष्ट कर देता है। अर्थात अलंकार और गुण दो अलग-अलग तत्व है पर रस सिद्ध काव्य की स्थिरता औचित्य तत्व पर ही निर्भर करती है। अतः औचित्य काव्य का प्राण है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचार चर्चा' में 'औचित्य' को काव्य की 'आत्मा' मानकर काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों के बीच एक समन्वयकारी औचित्य सिद्धांत की स्थापना की। इन्हें 'समन्वयकारी आचार्य' भी कहा जाता है। क्षेमेन्द्र से पहले भी भरत, भामह, दंडी, आनंदवर्धन, कुंतक, और महिम भट्ट ने भी इसका विवेचन किया है और आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस सिद्धांत का प्रवर्तन नहीं बल्कि व्यवस्थापन किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य का अर्थ है काव्य में सभी अंगों का उचित प्रयोग करना अर्थात रस, ध्वनि, अलंकार और रीति की उचित प्रस्तुति। औचित्य के अभाव में ये सभी तत्व व्यर्थ है। इसे उन्होंने समझाते हुए कहा है कि यदि कोई स्त्री अपने गले में मेखला (तगड़ी) पहन ले और हाथों में बिछुए बांध ले, पैरों में केयूर (नेकलेस) बांध ले तो इस औचित्य पर कौन न हँसेगा?सही बात है । अधिक आभूषणों का उपयोग ग्रामीण स्त्री के लिए उचित किन्तु नगर की स्त्री के लिए अनुचित लगेगा। औचित्य ही तो सौन्दर्य का मूल है। जूता बहुत मंहगा होता है और टोपी सस्ती, पर सस्ती टोपी सिर पर रखते हैं और महंगा जूता पाँव में। यही उचित है।

क्षेमेन्द्र के अनुसार रस काव्य का प्राण जरूर है फिर भी जब तक वह भी औचित्य का पालन नहीं करता तो सहृदयों को आकर्षित न कर सकेगा। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के 27 भेद किये हैं किन्तु आज के संदर्भ में बहुत से भेद बेकार हो गए हैं। यह समझना होगा कि क्षेमेन्द्र काव्य के सभी अंगों को स्वीकार करते हुए केवल उनके औचित्य पूर्ण प्रयोग पर बल देते हैं। अतः औचित्य को काव्य की आत्मा अथवा कोई स्वतंत्र सिद्धांत नहीं माना जा सकता। हाँ, इसमें सहृदय की अवधारणा बहुत खास है। पाठक को सहृदय होना चाहिए। उसका हृदय कोमल हो। यदि ऐसा न होगा तो उस पर रचना का कोई प्रभाव न पड़ेगा।

'औचित्य संप्रदाय' सबसे अंत में जनमा, सबसे कम चर्चा में आया और सबसे कम ही मकबूल हुआ। परंतु आज के समीक्षा विमर्श में यह सबसे अधिक माकूल लगता है। क्यों? क्योंकि एक तो आचार्य क्षेमेन्द्र ने दूसरे आचार्यों की तरह खुद ही इसे 'काव्य की आत्मा' सिद्ध करने की कोई खास कोशिश नहीं की, दूसरे इसे खुला छोड़ दिया। जो उचित लगे या प्रतीत हो वही रचना में दें। रचना के हर स्तर पर अनौचित्य से बचना ही इस संप्रदाय के पैरोकारों की सिफारिश है। प्रो सत्यदेव त्रिपाठी ने अपने एक व्याख्यान में ठीक ही कहा है, " यह सिद्धांत समीक्षा व समीक्षक के लिए ही बना साबित होता है, जबकि रस-ध्वनि-रीति-वक्रोक्ति आदि सब सर्जक और सामाजिक के लिए। कैसी पद रचना हो, उक्ति वैचित्र्य का कैसा प्रयोग है, कितने अलंकार समाविष्ट हों कि कवि की अभीप्सित ध्वनि निकले तथा पाठक भी रस ग्रहण करे आदि आदि की पूरी निर्णयात्मकता औचित्य के दायरे से सम्बद्ध है। इस रूप में वह सबके बीच संतुलन स्थापित करता है, उसका परीक्षण करता है और यही समीक्षा कर्म है। इसके अंतर्गत लेखक को जो कहना है, और उसके लिए वह जो साधन इस्तेमाल करता है,उसकी सटीकता की परख निहित है।"

बोध प्रश्न-

- औचित्य से आप क्या समझते हैं? अनौचित्य क्या है? दोनों के उदाहरण दें?
- उचित का निर्णय कैसे किया जाना चाहिए?

हिंदी में काव्य शास्त्र की परंपरा : संस्कृत में अनेक आचार्यों ने जिस तरह से लिखा उसी तरह से हिंदी में मुख्यतः रीति काल के कुछ कवियों और आचार्यों ने हिंदी में काव्य शास्त्र लिखे। भारतीय काव्य शास्त्र में रीति कालीन कवि आचार्यों के लक्षण –ग्रंथों का भी एक पूरा आलोचना शास्त्र है। उनसे भी पहले भक्तिकाल में कृपाराम की 'हित तरंगिणी' से नीति निरूपण की परंपरा का आरंभ माना जाता है।हिंदी में भी काव्य शास्त्र ग्रंथों की परम्पराएं रही हैं। एक ऐसे ग्रंथों की परंपरा जिनमें केवल अलंकारों की व्याख्या और विवेचन है, जैसे जसवंत सिंह का 'भाषा भूषण'। दूसरे ऐसे ग्रंथों की परंपरा जिनमें रस अथवा नायिका भेद का विवेचन है,जैसे केशवदास की 'रसिकप्रिया'। इसके अलावा एक ऐसे ग्रंथों की परंपरा है जिसमें 'काव्य प्रकाश' के अनुसरण पर 'काव्य शास्त्र' के विभिन्न अंगों का निरूपण किया गया है जैसे भिखारी दास का 'काव्य निर्णय'। परंतु इन आचार्यों ने दोनों या तीनों प्रकार के ग्रंथों की रचना की है, इसलिए उनके एक ही ग्रंथ में कई दृष्टियाँ मिलती हैं। यह भी कहा जाता है कि रीतिकालीन कवियों ने काव्य शास्त्रीय विवेचन संस्कृत के आचार्यों की देखा देखी किया। इस वजह से इनमें मौलिकता का अभाव है। पर ये शिक्षा देने में सफल रहे। इस कारण कोई सिद्धांत साफ साफ दिखाई नहीं देता। रीति काल

के दूसरे नाम अलंकृत काल, शृंगार काल इसी वजह से है। इन काव्य शास्त्रीय ग्रंथों को चार भागों में बाँट कर रखा जा सकता है, जैसे –

क) अलंकार ग्रंथ – जैसे करनेस कवि लिखित 'कर्णाभरण', जसवंत सिंह रचित 'ललित ललाम', भूषण विरचित 'शिवराज भूषण', पद्माकर प्रणीत 'पद्माभरण' आदि।

ख) रस ग्रंथ – केशवदास विरचित 'रसिक प्रिया', कुलपति मिश्र कृत ' रस-रहस्य', भिखारी दास का 'रस सारांश' आदि।

ग) शृंगार और नायिका भेद के ग्रंथ – कृपाराम का 'हित तरंगिणी', सूरदास का 'साहित्य लहरी', चिंतामणि का 'शृंगार मंजरी', मतिराम का 'रसराज' आदि

घ) काव्य शास्त्र के ग्रंथ – जैसे केशवदास का 'कविप्रिया', चिंतामणि का 'कवि कुल कल्पतरु', देव का 'शब्द रसायन', सुरति मिश्र का 'काव्य सिद्धांत', भिखारी दास का ' काव्य निर्णय' आदि।

हिंदी साहित्य के सन 1900 ईस्वी के बाद के काल को गद्य काल भी कहा जाता है। इस समय के बाद बहुत से काव्य शास्त्रीय ग्रंथों का लेखन भी हुआ। इस काल में एक तो वे विद्वान हैं जो रीतिकाल के आचार्यों के समान काव्य शास्त्रीय ग्रंथों का लेखन करते रहे। दूसरे वे हैं जो काव्य शास्त्र का केवल प्रासंगिक विवेचन करते रहे और तीसरे वे हैं जो काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को नवीन दृष्टि से व्याख्यायित करते रहे। आधुनिक काल में श्याम सुंदर दास, कन्हैया लाल पोद्दार, गुलाब राय, राम दहिन मिश्र आदि ने अपने काव्य शास्त्र संबंधी ग्रंथों में काव्य के सभी अंगों की समुचित विवेचना की है। इनसे भी पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में प्राचीन और नवीन काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों के मेल पर जोर दिया।वे मूलतः रस वादी थे। इसके विपरीत आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी काव्य का उद्देश्य पूर्ण और मर्यादित होना आवश्यक मानते थे। इनका रस वाद भी मर्यादित है। आचार्य राम चंद्र शुक्ल का रस-चिंतन संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा पर आधारित है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर रचित ग्रंथों का भी अभाव नहीं है, जैसे डॉ राम मूर्ति त्रिपाठी द्वारा रचित 'भारतीय साहित्य दर्शन', और सत्यदेव चौधरी लिखित 'भारतीय काव्यांग' आदि। डॉ नगेन्द्र द्वारा संपादित ग्रंथ 'भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा' एक ऐसी पुस्तक है जो इंटरनेट पर भी उपलब्ध है और जिसमें भरत मुनि से लेकर नगेन्द्र जी तक के काव्यशास्त्रीय लेखन के मूल अंशों के साथ साथ उनके अनुवाद भी उपलब्ध हैं।हिंदी में भी पाश्चात्य प्रभाव से आजकल एक व्यापक समन्वयशील काव्य शास्त्र की कल्पना की जा रही है।

बोध प्रश्न-

- रीति काल में काव्य शास्त्र की परंपरा का निर्वाह कैसे हुआ?
- हिंदी की अपनी आलोचना परिपाटी पर आधुनिक युग के प्रारंभ में कैसे भारतीय काव्य शास्त्रीय परंपरा को आगे बढ़ाया गया?

1.4 पाठ सार

भारतीय काव्य शास्त्र ने संस्कृत के दर्शन, साहित्य और व्याकरण के अनेक ग्रंथों के लेखन के पश्चात धीरे धीरे ईसा पूर्व की पाँचवी शताब्दी में एक रूप लेना शुरू किया। ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में सबसे उल्लेखनीय आचार्य भरत के 'नाट्य शास्त्र' से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कवि की प्रतिभा को देखा, परखा और उनकी रचना शीलता और उनके लिखे काव्य के प्रयोजन की चर्चा की। लोक-हित,आनंद, नीति और सात्विक भावों के उन्नयन को काव्य-प्रयोजन कमोबेश माना जाता है। एक बार जब यह परंपरा शुरू हुई तो पंडितराज जगन्नाथ के समय तक अबाध गति से चलती रही। आचार्यों ने देखा कि साहित्य या काव्य में एक सौन्दर्य होता है और इससे आनंद मिलता है। इस सौन्दर्य और आनंद का वर्णन करते हुए आचार्य बहुत से सिद्धांत प्रस्तुत करते चले गए। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि,और औचित्य इसी को स्पष्ट करने के लिए अलग अलग संप्रदाय हुए। काव्यानंद या आस्वाद को खोजते खोजते ये आचार्य बहुत दूर तक निकल गए और इससे एक अलग शास्त्र ही बन गया। भारतीय काव्यशास्त्रीय चर्चा में आचार्यों ने काव्य की अनुभूति उसका स्वरूप, उसके कारण, आदि का विवेचन किया है। आधुनिक काल में भी भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि की उपादेयता कम नहीं हुई है। यह भी सच है कि भारतीय काव्य शास्त्रीय विवेचन के विस्तार के सामने पाश्चात्य काव्य शास्त्र बहुत सीमित और निर्धन है।

1.5 पाठ की उपलब्धियां

1.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसे निम्नलिखित बिंदुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है

- काव्य और काव्यशास्त्र के व्यापक अर्थ और स्वरूप का ज्ञान हुआ।
- भारतीय काव्य-शास्त्र के छह संप्रदायों का अध्ययन किया गया।
- भारतीय काव्य शास्त्र का हिंदी आलोचना और समीक्षा पर प्रभाव का बोध हुआ।
- भारतीय काव्य शास्त्र के ऐतिहासिक विकास को रेखांकित कर सकने की क्षमता प्राप्त हुई।
- भारतीय काव्य शास्त्र के पारिभाषिक और अवधारणात्मक शब्दों को पहचान कर उनका अभिप्राय जान सके।

1.6 : शब्द संपदा

1. काव्य लक्षण	–	कविता के प्रमुख तत्वों को अभिव्यक्त करने वाले कारक एवं उनके मानक तत्व एवं उनके निर्धारक प्रतिमान काव्य लक्षण माने जाते हैं।
2. काव्य हेतु	-	काव्य के कारण या हेतु किसी रचना के निर्माण के प्रमुख कारण हैं।
3. काव्य प्रयोजन	–	कविता का उद्देश्य काव्य प्रयोजन है। भारतीय काव्य शास्त्र में यश, अर्थ, आनंद आदि को काव्य प्रयोजन माना जाता है।
4. व्यंजक	–	जिस शब्द से व्यंजना शक्ति के द्वारा अर्थ निकलता है, उसे व्यंजक कहते हैं।
5. व्यंग्य	-	व्यंजना शकित से जो अर्थ निकलता है उसे व्यंग्य कहते हैं।
6. सहृदय	–	किसी रचना से रस या आनंद प्राप्त करने वाला
7. रीति	-	रीति का अर्थ मार्ग, पंथ या शब्द –विन्यास है।
8.अलंकार	-	सौन्दर्य वृद्धि के उपादान को अलंकार कहते हैं।
9. अलंकार्य	–	जिस वस्तु या व्यक्ति की सौन्दर्य वृद्धि की जाए वह अलंकार्य है।
10. अभीप्सित	-	जिसकी अभीप्सा की गई हो; जिसकी तीव्र अभिलाषा हो; इच्छित।

1.7 ; परीक्षार्थ प्रश्न

खंड –(अ)

दीर्घ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए।

1) आधुनिक काल में काव्य शास्त्र के विकास का परिचय दीजिए।
2) 'हिंदी में अपना काव्यशास्त्रीय चिंतन' पर विचार व्यक्त कीजिए।
3) अलंकार की परिभाषा देते हुए यह बताइए कि अलंकार संप्रदाय का कैसे विकास हुआ?
4) रीति संप्रदाय की विवेचना करते हुए 'रीति' के निहितार्थ की व्याख्या कीजिए।
5) ध्वनि की अवधारणा और स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
6) वक्रोक्ति सिद्धांत का परिचय देते हुए उसका मूल्यांकन कीजिए।
7) 'औचित्य' क्या है और इसके विवेचन में क्या मुश्किलें हैं?

खंड –(ब)

लघु प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. काव्य शास्त्र का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।
2. अलंकार और अलंकार्य का अंतर बताइए।
3. काव्य शास्त्र में 'सहृदय' की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
4. भारतीय काव्य शास्त्र के अध्ययन की क्या उपयोगिता है?
5. भरत मुनि के रस सूत्र को लिखकर उसका अर्थ समझाइए।
6. काव्य प्रयोजन का अर्थ अपने शब्दों में बताइए।
7. हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में भारतीय काव्य शास्त्र की परिपाटी कैसे चली?

खंड- (स)

I. सही विकल्प चुनिए

1. वामन ने रीति के तीन भेद स्वीकार किए।

क) अभिधा, लक्षणा, व्यंजना ख) वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली

ग) विभाव,अनुभाव, व्यभिचारी घ) इनमें से कोई नहीं।

2. कौनसा संप्रदाय प्रथम माना जाता है और कौनसा अंतिम?

क) रीति और अलंकार ख) औचित्य और रीति

ग) रस और औचित्य घ) ध्वनि और वक्रोक्ति

3. 'एक स्त्री नाक में झुमका और कान में नथ पहने है' यह पंक्ति किस काव्य शास्त्रीय संप्रदाय का सूचक है?

क) औचित्य ख) वक्रोक्ति ग) रीति घ) अलंकार

4. यह शब्द-शक्ति का उदाहरण नहीं है –

क) अभिधा ख) ध्वनि ग) लक्षणा घ) व्यंजना

5. यह रस का अंग नहीं है –

क) विभाव ख) अनुभाव ग) अस्थायी भाव घ) संचारी भाव

II. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

1. समस्त भारतीय संप्रदाय _____ को ही काव्य का मूल मानते हैं।
2. _____सिद्धांत के प्रवर्तक भरत मुनि हैं।

3. भारतीय काव्य संप्रदायों में रस के बाद प्राचीनतम संप्रदाय _____का ही है।

4. ध्वनि संप्रदाय को जानने से पूर्व _____ को जानना जरूरी है।

5. औचित्य ही काव्य का _____धर्म है।

6. _____ कृपाराम की रचना है।

7. काव्य नाटकादि कृतियों को _____ तथा सैद्धांतिक ग्रंथों को _____ कहा जाता है।

8. _____ ने 'वक्रोक्ति' को काव्य का 'जीवन' माना है।

9. जैसे जेवरात शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही _____काव्य की शोभा बढ़ाते हैं।

III सुमेल कीजिए

1. रीति संप्रदाय	अ) भरत मुनि
2. वक्रोक्ति संप्रदाय	आ) भामह
3. रस संप्रदाय	इ) आनंदवर्धन
4. ध्वनि संप्रदाय	ई) कुंतक
5. अलंकार संप्रदाय	उ) क्षेमेन्द्र
6. औचित्य संप्रदाय	ऊ) वामन

1.7 : पठनीय पुस्तकें

1. धीरेन्द्र वर्मा (संपा॰). हिन्दी साहित्य कोश भाग - 1 (2015 संस्करण). वाराणसी: ज्ञानमण्डल लिमिटेड.

2. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा – डॉ नगेंद्र (सं.)

3. भारतीय काव्य शास्त्र –प्रोफेसर योगेंद्र प्रताप सिंह,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

4. संस्कृत आलोचना : बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ

5. काव्यशास्त्र : भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर

6. हिंदी का अपना काव्यशास्त्र : सूर्यप्रसाद दीक्षित,विश्व विद्यालय प्रकाशन, लखनऊ

इकाई 2 : रस संप्रदाय

इकाई की रुपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 मूल पाठ : रस संप्रदाय
2.3.1 भरत मुनि : रस संप्रदाय
2.3.1.1 रस का स्वरूप
2.3.1.2 रस के अवयव
2.3.2 रस निष्पत्ति की अवधारणाएँ
2.3.2.1 उत्पत्तिवाद
2.3.2.2 अनुमितिवाद
2.3.2.3 भोगवाद
2.3.2.4 अभिव्यक्तिवाद
2.3.3 साधारणीकरण पर विभिन्न विद्वानों के मंतव्य
2.4 पाठ सार
2.5 पाठ की उपलब्धियाँ
2.6 शब्द संपदा
2.7 परीक्षार्थ प्रश्न
2.8 पठनीय पुस्तकें

2.1 प्रस्तावना

साहित्यशास्त्र के अंतर्गत साहित्य के मूल्यांकन की परिपाटी साहित्य सृजन के साथ ही आरंभ हुई। साहित्य की उपादेयता व उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता को परखने की दृष्टि से संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने कुछ मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जो इस प्रकार हैं- रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर भारतीय साहित्यशास्त्र के छः संप्रदायों का गठन हुआ। 'रस संप्रदाय' इनमें से एक और प्रथम संप्रदाय के रूप में परिगणित होता है। इसके प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि हैं। 'भारतीय काव्यशास्त्र में साहित्य के सभी अंगों का प्रमुख उद्देश्य पाठकों को रसानुभूति प्रदान करना है। आदि आचार्य भरत मुनि ने भी नाट्य रचना का लक्ष्य 'रस-निष्पत्ति' स्वीकार करते हुए रस सिद्धांत पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। उन्होंने विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है। रस सिद्धांत का आधार मानसिक क्रियाओं व भावोत्पत्ति संबंधी सूक्ष्म ज्ञान है, अतः इसका मनोविज्ञान से गहरा संबंध है।' (गणपतिचंद्र गुप्त)

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप-

- 'रस संप्रदाय' की अवधारणा से परिचित हों सकेंगे।

- रस शब्द के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- रस के विभिन्न अंगों (अवयवों) का परिचय पा सकेंगे।
- सहृदय और साधारणीकरण के संबंध को स्पष्ट कर सकेंगे।
- रस निष्पत्ति की विभिन्न अवधारणाओं का परिचय पा सकेंगे।
- हिंदी साहित्य में रस के वैशिष्ट्य का रेखांकन कर सकेंगे।

2.3 मूल पाठ : रस संप्रदाय

2.3.1 भरत मुनि : रस संप्रदाय

साहित्य के माध्यम से भावक, पाठक या श्रोता के हृदय में उत्पन्न आनंद की अनुभूति ही 'रस' है। 'रस' और 'भाव' का विवेचन भरतमुनि के ग्रंथ नाट्यशास्त्र में विस्तार से मिलता है। इस ग्रंथ के छठे अध्याय में रस तथा सातवें अध्याय में भाव का विस्तृत विवेचन किया गया है। रस सिद्धांत की प्रतिष्ठापना भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से मानी जाती है। नाटक के चारों तत्वों (कथावस्तु, अभिनय, संगीत और रस) में प्रधान तत्व 'रस' ही है। नाटक को जहाँ इन्होंने साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है वहीँ रस को नाटक के सभी तत्वों का संचालक माना है। 'रस' नाटक के केंद्र में है। इसके बिना नाटक निर्जीव है। नाटक में मन के विभिन्न भावों और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण अथवा मंचन किया जाता है। इन भावों और अवस्थाओं की सफलता रस की स्थिति पर निर्भर करता है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है कि संस्कृत साहित्य में काव्य जन्य आनंद को सामान्य मनोरंजन के स्तर पर ही लिया जाता था। उसमें ब्रह्मानंद सहोदरत्व की भावना नहीं थी। हिंदी काव्यशास्त्र में काव्य जन्य आनंद के लिए ब्रह्मानंद सहोदर का प्रयोग किया गया। आचार्य भरत मुनि अपने रससूत्र में बताया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ स्थायी भाव के संयोग होने से रस की निष्पत्ति होती है- 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'। वासना या संस्कार के रूप में स्थायी भाव सहृदय या सामाजिक के हृदय में अवस्थित रहते हैं। इसी स्थायी भाव का संयोग जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ होता है तब वह स्थायी भाव ही रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। ध्यातव्य है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव नाटक या काव्य से निःसृत होते हैं तथा स्थायी भाव सहृदय में अवस्थित है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नौ रस हैं- शृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स, हास्य, करुण, अद्‌भुत, भयानक और शांत रस। इनमें से प्रथम चार (शृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स) को ही भरत मुनि ने मूल रस माना था। बाद में इनसे ही हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक रस अस्तित्व में आए। इसके बाद पुनः इनमें शांत रस को जोड़ा गया। वर्तमान समय में वात्सल्य रस की भी गणना की जाती है। इस प्रकार रस की संख्या दस हो गई। रस संप्रदाय में रस को काव्य की आत्मा माना गया। इसे ध्यान में रखते हुए अन्य काव्यांगों का प्रयोग भी रस को प्रमुख रखकर ही करने की चेष्टा की गई। भरत मुनि के रस संप्रदाय को बढ़ाने वाले आचार्यों में प्रमुख हैं- भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, पंडितराज जगन्नाथ, विश्वनाथ इत्यादि। भामह और दंडी जैसे अलंकारवादी आचार्यों ने भी रस की महत्ता को स्वीकार किया।

बोध प्रश्न -

- भरत मुनि के रस सूत्र की व्याख्या कीजिए।

2.3.1.1 रस का स्वरूप

रस संबंधी प्रारंभिक अवधारणा का बीज वैदिक साहित्य में है, जहाँ इसे सारतत्व, आनंद तथा ब्रह्मतत्व का पर्याय माना जाता है। साहित्य के आस्वादन से प्राप्त आनंद ही रस है। इसे ब्रह्म के समकक्ष माना गया है। 'रसो वै सः' यानी रस ही ब्रह्म है। काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अंतर्गत काव्य से उत्पन्न आनंद (रस) के साथ ब्रह्मानंद सहोदरत्व की भावना जुड़ी हुई है। रस की निर्मिति स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग होने से होती है। रस के इन अंगों की चेतना सम्मिलित है, खंडित नहीं। इसलिए रस अपने स्वरूप में अखंड है और स्वप्रकाशित भी। साहित्य के रसास्वादन का अर्थ है साहित्य की विषयवस्तु के साथ तदाकारिता स्थापित कर लेना या उसमें निहित सौंदर्य का पूर्ण अवलोकन करना। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रस अनुभूति का विषय है। रस निष्पत्ति संबंधी विभिन्न अवधारणाओं में रस के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इसी क्रम में अभिनवगुप्त ने रस को पूर्णरूपेण अनुभूति का विषय मानते हुए कहा कि यह अलौकिक मानसिक व्यापार एवं द्रवता का अंग है। आचार्य विश्वनाथ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहते हुए अपने साहित्य दर्पण में रस को ब्रह्मानंद के समकक्ष मानते हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने अपनी काव्य परिभाषा में प्रयुक्त रमणीयता का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसे लोकोत्तर आह्लाद का जनक कहा है- 'रमणीयता च लोकोत्ताराह्लादजनक ज्ञानगोचरता।

रस और उसकी अनुभूति अपने स्वरूप में निर्वैयक्तिक है। व्यक्तिगत राग-द्वेष से रहित एक अनिर्वचनीय आनंद की अलौकिक स्थिति जिसमें जीवन की दुःखद घटनाओं का चित्रण भी मन को राग-विराग से परे रखकर एक आनंद की अनुभूति कराता है। रस की यह अनुभूति सहृदय या सामाजिक करता है। भावक, पाठक, श्रोता, अध्येता और दर्शक ही सहृदय या सामाजिक की श्रेणी में आते हैं।

बोध प्रश्न-

- रस के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

2.3.1.2 रस के अवयव

रस खाद्यान्न में रहता है। रस औषधि में भी होता है। रस आध्यात्म में होता है। रस साहित्य का भी अनन्य अंग है। इस साहित्यिक रस के चार अवयव होते हैं- स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। रस के संदर्भ में अवयव का अर्थ सामग्री या अंग से भी लिया जाता है। भरत मुनि ने

स्थायी भाव- मनुष्य के जन्मजात संस्कार या उसकी मूल प्रवृत्ति जो स्थायी रूप से उसके हृदय में निवास करती है; स्थायी भाव कहलाती है। हर रस का स्थायी भाव अलग होता है। **उदाहरण:** रति (शृंगार रस), क्रोध (रौद्र रस), उत्साह (वीर रस), जुगुप्सा या घृणा (वीभत्स रस), हास (हास्य रस), शोक (करुण रस), विस्मय (अद्भुत रस), भय (भयानक रस), निर्वेद (शांत रस) और वत्सल (वात्सल्य रस) इत्यादि।

विभाव- विभाव उन कारक तत्वों को कहा जाता है जो स्थायी भावों में तीव्रता लाते हैं या उनको जागृत करते हैं। ये कारक तत्व बाह्य होते हैं। इन बाह्य कारक तत्वों को दो भागों में बाँटा गया है- आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव।

आलंबन विभाव- जिन व्यक्ति, वस्तु या पात्रों के कारण आश्रय के चित्त में स्थायी भाव जागृत होकर रस बनता है, वे आलंबन विभाव कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में जिस वस्तु, व्यक्ति या पात्रों को देखकर आश्रय का स्थायी भाव जागृत होता है वह आलंबन कहलाता है। जिसके चित्त में स्थायी भाव जागृत हुआ वह आश्रय है। जिसके प्रति आश्रय के चित्त में ये भाव जागृत हुए, वह विषय या आलंबन कहलाता है।

उद्दीपन विभाव- स्थायी भाव में तीव्रता लाने वाले या उसका संवर्धन करनेवाले तत्वों को उद्दीपन विभाव कहते हैं। स्थायी भाव को उद्दीप्त करने में विषय की बाहरी चेष्टाओं के साथ बाह्य वातावरण का विशेष महत्व होता है।

उदाहरण : शृंगार रस के अंतर्गत चांदनी रात में नायक और नायिका के विहार का दृश्य ले लें। यहाँ नायक आश्रय है। उसके चित्त में रति स्थायी भाव के रूप में अवस्थित है। नायक के चित में यह स्थायी भाव नायिका के प्रति जागृत हुआ अतः नायिका यहाँ विषय है। स्थायी भाव को संवर्धित कौन कर रहा है? एक नायिका की बाहरी चेष्टाएँ और दूसरा बाहरी वातावरण- ये दोनों तत्व जो स्थायी भाव में तीव्रता लाने का कार्य कर रहे हैं उद्दीपन विभाव कहे जायेंगे।

अनुभाव- आश्रय के चित्त में स्थायी भाव के बाद उत्पन्न होनेवाले भाव अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव का सामान्य अर्थ है आश्रय के मनोभावसूचक शारीरिक एवं मानसिक विकार। दूसरे शब्दों में भावोद्वेलन के बाद आश्रय के चित्त में जो भाव आते हैं उनसे आश्रय में शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। इन परिवर्तनों के सूचक चिन्ह अनुभाव कहलाते हैं। इन अनुभावों की संख्या आठ मानी गई है जो इस प्रकार हैं- रोमांच, अश्रु, प्रलाप, स्वेद, कंप, स्वरभंग, स्तंभ और विवर्णता। इन्हें सात्विक भाव भी कहा जाता है। इसी के माध्यम से स्थायी भाव अभिव्यक्त होता है।

संचारी भाव- संचारी भाव उन भावों को कहा जाता है जो स्थायी भावों के साथ आते-जाते रहते हैं तथा उन्हें पुष्ट करते हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। इनकी संख्या नाट्यशास्त्र में 33 बतायी गई है। जहाँ अनुकूल संचारी भाव स्थायी भाव के विकास में सहयोगी सिद्ध होते हैं वहीँ प्रतिकूल संचारी भाव स्थायी भाव के विकास में बाधक भी सिद्ध होते हैं। 'एक ही स्थायी भाव के बीच-बीच में परिस्थितिवश अनेक भावों का संचार होता रहता है। उदाहरण के लिए प्रेम (स्थायी भाव) के क्षेत्र में प्रिय के मिलन पर 'हर्ष', उसके वियोग पर 'दुःख', उसकी उपेक्षा पर 'क्षोभ', अहित की आशंका पर 'चिंता' आदि भावों की अनुभूति होती है- इन्हें संचारी कहा जाता है।' (गणपतिचंद्र गुप्त)। स्थायी भावों के साथ उनके अनुकूल संचारी भावों की तालिका नीचे दी जा रही है, इसका अवलोकन करें।

स्थायी भाव	**संचारी भाव**
• रति	स्मृति, मोह, चिंता, हर्ष, असूया
• क्रोध	स्मृति, उग्रता, शंका,

- उत्साह आवेग, हर्ष, गर्व
- जुगुप्सा दीनता, निर्वेद, ग्लानि
- हास हर्ष, निद्रा, आलस्य, चपलता
- शोक ग्लानि, चिंता, दीनता, मोह, शंका
- विस्मय स्मृति, हर्ष, आवेग, शंका
- भय शंका, चिंता, त्रास, ग्लानि
- निर्वेद स्मृति, धृति, हर्ष
- वात्सल्य स्मृति, चिंता, शंका, हर्ष, धृति

बोध प्रश्न -

- रस के विभिन्न अवयवों पर प्रकाश डालिए।

2.3.2 रस निष्पत्ति की अवधारणाएँ

रस निष्पत्ति की अवधारणा पर भरत मुनि ने अपने रस सिद्धांत में कहा है - 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'।

अर्थात विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के साथ स्थायी भाव का संयोग होने पर ही रस की निष्पत्ति होती है। रस सूत्र के व्याख्याकारों ने निष्पत्ति और संयोग शब्द के विभिन्न अर्थों को लेकर अपनी-अपनी रस निष्पत्ति की अवधारणाओं को सामने रखा है। इन्हीं अवधारणाओं का अध्ययन आप यहाँ करने जा रहे हैं।

2.3.2.1 उत्पत्तिवाद

उत्पत्तिवाद या आरोपवाद के जनक भट्टलोल्लट हैं। भरत मुनि के रस सिद्धांत से इन्होंने दो शब्दों को लिया। वे दो शब्द हैं- संयोग और निष्पत्ति। यहाँ 'संयोग' का अर्थ है 'मिलना'। 'निष्पत्ति' का व्यवहार इन्होंने तीन अर्थों में किया है। निष्पत्ति के वे तीन अर्थ इस प्रकार हैं- उत्पत्ति, पुष्टि और अभिव्यक्ति। निष्पत्ति के इन तीन आयामों की सफलता में क्रमशः विभाव, संचारी भाव एवं अनुभाव का सहयोग रहता है। रस का संबंध यहाँ विभाव, संचारी भाव और अनुभाव तीनों से है। इस संबंध की व्याख्या करते हुए गणपतिचंद्र गुप्त दही से लस्सी बनाए जाने की प्रक्रिया को सामने रखते हैं। दही, पानी, बर्फ और चीनी के मेल से लस्सी बनता है। यहाँ दही विभाव है एवं अन्य तीन संचारी भाव हैं। इस पूरी प्रक्रिया में जो झाग उत्पन्न हुआ वह अनुभाव है। इनसे रस रूप में लस्सी की निष्पत्ति होती है। इनके मध्य पारस्परिक संबंध निम्नवत है-

- रस सामग्री और विभाव का संबंध उत्पाद्य-उत्पादक लस्सी (रस)
- रस सामग्री और संचारी भाव का संबंध पोष्य-पोषक लस्सी (रस)
- रस सामग्री और अनुभाव का संबंध गम्य-गमक लस्सी (रस)

इस सिद्धांत का नामकरण उत्पत्तिवाद एकांगी और भ्रमात्मक है क्योंकि यह निष्पत्ति के केवल एक अर्थ (उत्पत्ति) का द्योतक है। जबकि भट्ट लोल्लट के अनुसार निष्पत्ति में उत्पत्ति के साथ पुष्टि और अभिव्यक्ति की भी महत्ता है। मूल भाव और नट (अभिनेता) के बीच रस निष्पत्ति का समीकरण बिठाते हुए भट्टलोल्लट ने कुछ प्रश्न उठाए जो निम्नवत हैं-

रस की स्थिति किसके हृदय में होती है?

क्या नट भी इस रस का अनुभव करते हैं?
दर्शक इनके बनावटी प्रदर्शन से किस प्रकार प्रभावित होते हैं?

निष्कर्षतः इनके अनुसार मूल (स्थायी) भाव मूल पात्रों में ही रहता है। दर्शक अपनी कल्पना शक्ति द्वारा नट के अभिनय में मूल पात्र का आरोपण करके रस की अनुभूति प्राप्त करता है तथा उसका अनुकरण करता है।

अतः रस की अनुभूति के संदर्भ में यह आक्षेप भी गलत है कि 'मिथ्या आरोप से रस की निष्पत्ति नहीं होती।' यह तथ्य स्पष्ट है कि मिथ्या आरोप से रस की निष्पत्ति होती है। वास्तविक रूप में घटित अप्रिय घटनाओं से मनुष्य दुःख और क्षोभ से भर जाता है पर वही घटनाएँ जब किसी रंगमंच पर मंचित होती हैं तो मनुष्य आनंद की अनुभूति करता है। रस संप्रदाय को आगे बढ़ाने में भट्टलोल्लट के मौलिक अवदान को विद्वानों ने महत्वपूर्ण बताया है। इनके मौलिक अवदान निम्नवत हैं-

- सर्वप्रथम इन्होंने रस निष्पत्ति संबंधी विवाद का आरंभ किया।
- रस के अवयवों में से 'विभाव, अनुभाव और संचारी भाव' का; उनके महत्व के आधार पर क्रम निश्चित किया। रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में इनके योगदान को स्पष्ट किया। रस निष्पत्ति की अवधारणा को तीन आयामों (उत्पत्ति, पुष्टि और अभिव्यक्ति) में बाँटकर उसे सरल बनाने की कोशिश की।
- इन्होंने मूल पात्र, नट और सामाजिक की अनुभूति के सूक्ष्म अंतर को भी रेखांकित किया।

रस संप्रदाय के अंतर्गत इनके मत को पूर्ण नहीं माना गया है परंतु इनके अवदानों की महत्ता सराहनीय है।

बोध प्रश्न

- उत्पत्तिवाद या आरोपवाद के आधार पर रस निष्पत्ति की व्याख्या कीजिए।

2.3.2.2 अनुमितिवाद

भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद या आरोपवाद का खंडन करते हुए आचार्य शंकुक (9वीं शताब्दी) ने अनुमितिवाद की स्थापना की। इन्होंने भी भरत मुनि के रस सूत्र से 'निष्पत्ति' और 'संयोग' - इन दो शब्दों को लिया। यहाँ शंकुक ने निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' किया तथा संयोग का अर्थ उन्होंने 'अनुमान' माना। इनके सिद्धांत अनुमितिवाद के अनुसार रस के अवयवों के आधार पर रस का अनुमान मात्र ही पाठक, भावक या दर्शक के द्वारा किया जा सकता है। यहाँ स्पष्ट है कि रस का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता है। रस का अनुमान किया जाता है जिससे रस की अनुमिति होती है, उसकी निष्पत्ति नहीं होती। यहाँ प्रयुक्त 'अनुमान' शब्द का संबंध केवल हिंदी साहित्य से नहीं है। यह शब्द न्यायशास्त्र से लिया गया है। न्यायशास्त्र में ज्ञान प्राप्ति के एक आधार के रूप में अनुमान मान्य है। इसके तीन भेद हैं- पूर्ववत अनुमान, शेषवत अनुमान, सामान्यतोदृष्ट अनुमान। गणपतिचंद्र गुप्त ने अनुमान शब्द के इस व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "जहाँ प्रत्यक्ष कारण को देखकर अप्रत्यक्ष कार्य की कल्पना की जाती है, वह पूर्ववत अनुमान कहा जाता है; जैसे- बादलों को देखकर वर्षा का ज्ञान। जब प्रत्यक्ष कार्य को देखकर अप्रत्यक्ष कारण का अनुमान किया जाता है तो इसे शेषवत कहते हैं। जहाँ सामान्य

अनुभव के आधार पर अप्रत्यक्ष कारण या कार्य का अनुमान किया जाता है उसे 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं; जैसे प्रतिवर्ष सावन में वर्षा होती है, अतः सावन के महीने में वर्षा का अनुमान करना। न्यायशास्त्र के अनुसार विभाव पूर्ववत अनुमान है, अनुभाव शेषवत अनुमान है और संचारी सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।" न्यायशास्त्र के अंतर्गत ज्ञान का अर्थ 'अनुभूति' है और अनुमान का अर्थ 'अनुभव' है। साहित्यशास्त्र में विद्वानों की सम्मति के अनुसार शंकुक की अनुमिति का अर्थ 'अनुभूति' ही लिया गया है। अपने अनुमितिवाद के अंतर्गत शंकुक ने कोई मौलिक स्थापना नहीं दी है। भट्ट लोल्लट की स्थापनाओं को ही न्यायशास्त्र के पारिभाषिक शब्दजाल के आवरण में लपेटकर पुनः प्रस्तुत किया है। शंकुक ने रस की अनुमिति मानी है। रस निष्पत्ति की अपनी व्याख्या को उन्होंने न्यायशास्त्र का आधार प्रदान किया। अभिनेता और दर्शक के संबंध के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने चित्र-तुरंग न्याय का उदाहरण दिया। जिस प्रकार घोड़े का चित्र देखकर उसकी अनुभूति होती है उसी प्रकार नट या अभिनेता के अभिनय से मूल ऐतिहासिक पात्रों की अनुभूति होती है। भट्ट लोल्लट के अनुसार ही शंकुक ने भी माना है कि मूल भाव मूल पात्रों में ही रहते हैं। सामाजिक की रसानुभूति और मूल पात्रों की अनुभूति में अंतर को दोनों ने माना है। शंकुक की देन को रस संप्रदाय में बहुत महत्वपूर्ण नहीं माना गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद में क्रमशः रस निष्पत्ति और रस की अनुमिति की व्याख्या अभिनेता की दृष्टि से की गयी तथा अभिनेता में भावानुभूति का निषेध माना गया। इन दोनों सिद्धांतों की साम्यता की चर्चा की जा चुकी है। इनकी कमियों की ओर ध्यान खींचते हुए गणपतिचंद्र गुप्त ने उल्लेख किया है कि इन दोनों ही विद्वानों ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया कि मूल पात्रों के स्थायी भाव की अभिव्यक्ति या अनुमिति से सामाजिक को आनंद की अनुभूति क्यों होती है?

बोध प्रश्न

- अनुमितिवाद सिद्धांत पर विचार करते हुए इसकी विशेषताओं एवं कमियों का उल्लेख कीजिए।

2.3.2.3 भोगवाद

भरत मुनि के रस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट एवं द्वितीय व्याख्याकार शंकुक थे। इनके बाद तृतीय व्याख्याकार हुए आचार्य भट्टनायक (10वीं शताब्दी)। इन्होंने रस निष्पत्ति की व्याख्या सामान्य काव्य दृष्टि से की तभी साधारणीकरण के जन्मदाता होने का गौरव इन्हें प्राप्त हुआ। रस निष्पत्ति संबंधी इनकी अवधारणा को 'भोगवाद' नाम से जाना जाता है। इन्होंने भी भरत मुनि के रस सूत्र से उन्हीं दो शब्दों को लिया – संयोग और निष्पत्ति। भोगवाद के अंतर्गत संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक संबंध या भावना माना गया तथा निष्पत्ति का अर्थ हुआ 'भक्ति या भोग'। अपनी सामान्य काव्य दृष्टि के आधार पर उन्होंने शब्दात्मक काव्य की तीन क्रियाओं को माना है जो इस प्रकार हैं- अभिधा, भावकत्व (भावना) और भोजकत्व (भोग)। अभिधा से आप सुपरिचित हैं। इसका अर्थ है किसी शब्द या वाक्य या वस्तुस्थिति का सामान्य अर्थ ग्रहण करना। इस सामान्य अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया एक बौद्धिक प्रक्रिया है जिससे केवल मस्तिष्क प्रभावित होता है। भावकत्व वह भाषिक प्रक्रिया है जिसके तहत कविता साकार हो

उठती है, उसकी बिंबात्मकता से उपस्थित शब्द-चित्र सहज ही भावक के हृदय को प्रभावित कर उसकी कल्पना शक्ति को जगा देते हैं। इस भावकत्व का ही दूसरा नाम साधारणीकरण है। सामान्य भाषा में काव्य के विषय को अनुभूत कर लेना ही साधारणीकरण है। 'इसमें भावकत्व की दोहरी प्रक्रिया होती है। वह विषय वस्तु को 'पर' से मुक्त करती है तथा वह पाठक के स्व को विगलित करती है।' पाठक के हृदय और काव्यवस्तु के एकाकार हो जाने की अवस्था ही साधारणीकरण है। यही काव्य से प्राप्त आनंद का स्रोत है। यही रसानुभूति है जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हृदय की मुक्तावस्था कहा है।

पाठक के हृदय एवं काव्यवस्तु के एकाकार होने से रसानुभूति या आनंद की अनुभूति होती है। इस स्थिति के पीछे तर्क देने के लिए आचार्य भट्टनायक ने भारतीय दर्शन का सहारा लिया या कहें उसे आधारवत ग्रहण किया। भारतीय दर्शन में तीन गुण प्रधान माने गए हैं। वे तीन गुण हैं- सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। मनुष्य के हृदय में आनंद का वास तभी होता है जब उसमें सत्वगुण का उद्रेक हो। रजोगुण की प्रधानता से मनुष्य अपने-पराए के द्वैत में उलझकर दुःख और उलझनों से घिरा रहता है। काव्य का अध्ययन-मनन या मंचित रूप में उसका दर्शन; मनुष्य मात्र में सत्व गुण की वृद्धि करता है। रजोगुण के मोह-पाश वाली द्वैत बुद्धि से उसे मुक्त करता है। इस मुक्ति से हृदय की संकुचित वृत्ति का नाश होता है। हृदय का विस्तार होता है। विचार का विस्तार होता है। इस मुक्ति की अनुभूति में स्वतः आनंद का उद्रेक हो जाता है। भेद रहित हृदय में ही आनंद का विस्तार होता है। यानी हृदय की मुक्तावस्था ही वास्तविक रसदशा है।

बोध प्रश्न

- साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं?

2.3.2.4 अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त (10वीं-11वीं शताब्दी) ने भट्टनायक की कई मान्यताओं का खंडन करते हुए 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की। भट्टनायक ने किसी शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर भावकत्व और भोजकत्व की प्रक्रिया को प्रमाणित नहीं किया था इसलिए परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अस्वीकार कर अपने मत की स्थापना की। भरत मुनि के रस सूत्र से 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों को लेकर अभिनवगुप्त ने उनका अर्थ क्रमशः 'व्यंजना' और 'अभिव्यक्ति' रखा। सहृदय रस की अनुभूति तभी कर सकता है जबकि वह व्यंजना शक्ति से पूर्ण हो। अभिव्यक्तिवाद के अनुसार भाव मनुष्य के हृदय में पहले से ही विद्यमान रहते हैं। किसी काव्य को पढ़ने से मात्र उन भावों की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात काव्य नए भावों की उत्पत्ति नहीं करता। यह अंतःकरण में अवस्थित भावों की मात्र अभिव्यक्ति करता है साथ ही उसमें उत्तेजना भरने की क्षमता रखता है। स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने स्थायी भावों की ओर संकेत किया है जो वासना या संस्कार के रूप में मनुष्य के अंतःकरण में पहले से ही उपस्थित हैं। परिस्थिति के अनुकूल होने पर यही स्थायी भाव, विभाव आदि के साथ संयोग करके रस की अनुभूति कराते हैं। इनकी रसानुभूति की विशिष्टता यह है कि इन्होंने भावानुभूती को समष्टिगत माना। वैयक्तिक संसर्ग से ऊपर उठकर इन भावों की पहुँच सब तक है। इनका मत शैव दर्शन पर आधारित है।

परवर्ती विद्वानों ने इनके मत को ही सर्वाधिक माना। अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोकलोचन नामक इनकी टीकाएँ रस-संप्रदाय के महत्वपूर्ण ग्रंथों में से हैं। अभिनवभारती नाट्यशास्त्र पर लिखी गई टीका है।

बोध प्रश्न

- अभिव्यक्तिवाद के अनुसार रस निष्पत्ति के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

2.3.3 साधारणीकरण पर विभिन्न विद्वानों के मंतव्य

- एक ही पात्र विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रित किया जाता है, किंतु पाठक उसी रूप का साक्षात्कार करेगा जिसका कवि ने चित्रण किया है। कवि चाहे तो रावण को अत्याचारी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और यदि चाहे तो उसे अपनी आन की रक्षा के लिए मर मिटनेवाला दिखाकर उसके प्रति पाठक की सहानुभूति जगा सकता है। ...कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है। (नगेन्द्र)
- कवि जिस वस्तु को जिस भावात्मक दृष्टिकोण से देखता है। उसी वस्तु को हम भी उसी दृष्टिकोण से देखने लगते हैं।...कवि के साथ हमारा तादात्म्य और काव्य का साधारणीकरण होता है। (गणपतिचंद्र गुप्त)
- मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती।... योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है, उस भूमिका तक प्रातिभ ज्ञान संपन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है। (श्यामसुंदर दास)
- रस-दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संबद्ध रूप में नहीं देखते ....बल्कि निर्विशेष शुद्ध, मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। (रामचंद्र शुक्ल)
- भावानुभूति के स्तर पर तदाकारिता पाठक या दर्शक की वह मानसिक दशा है जिसमें कि वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। (ए.ई.मैंडर)

उपरोक्त मंतव्यों के आधार पर स्पष्ट है कि रचनाकार जिन भावों को जिस रूप में रचना में भरता है; सहृदय रचनागत भाव के साथ एकात्म स्थापित करके ही वास्तविक रूप में उस रचना का आनंद प्राप्त कर सकता है। अर्थात सहृदय आनंदानुभूति या रसानुभूति की प्राप्ति करता है। इस अवस्था में उसके अपने बाह्य अस्तित्व के ज्ञान का लोप हो जाता है। रचनाकार की अनुभूति यानी रचना की विषयवस्तु से तदाकार कर वह भी उसी भाव का अनुभव करने लगता है। यही साधारणीकरण है। यह एक व्यापक, समष्टिगत और निर्वैयक्तिक अवधारणा है।

बोध प्रश्न

- साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं?

2.4 : पाठ सार

प्रिय छात्रों! अब तक आप समझ ही चुके होंगे कि रस संप्रदाय का प्रवर्तन भरत मुनि ने किया। इनके रस संबंधी सिद्धांत इनकी कृति नाट्यशास्त्र में संकलित है। इनका समय ईसा पूर्व

प्रथम शताब्दी के आस-पास अनुमान किया जाता है। भरत मुनि के रस सिद्धांत पर आधारित रस संप्रदाय को आगे बढ़ाने में भट्ट लोल्लट (उत्पत्तिवाद या आरोपवाद), शंकुक (अनुमितिवाद), भट्टनायक (भोगवाद), अभिनवगुप्त (अभिव्यक्तिवाद), विश्वनाथ और जगन्नाथ ने विशेष सहयोग दिया। प्रथम चार रसाचार्यों में से परवर्ती विद्वानों ने अभिनवगुप्त के मत को सबसे अधिक ग्रहण करने योग्य माना। आचार्य भरत मुनि अपने रससूत्र में बताया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ स्थायी भाव के संयोग होने से रस की निष्पत्ति होती है- 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'। वासना या संस्कार के रूप में स्थायी भाव सहृदय या सामाजिक के हृदय में अवस्थित रहते हैं। इसी स्थायी भाव का संयोग जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ होता है तब वह स्थायी भाव ही रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। ध्यातव्य है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) नाटक या काव्य से निःसृत होते हैं तथा स्थायी भाव सहृदय में अवस्थित रहता है। रस के स्वरूप को अखंड, अलौकिक और स्वप्रकाशानंद बताया गया है। यह अलौकिक और अनिर्वचनीय है क्योंकि रस दशा को प्राप्त सहृदय का द्वैत बुद्धि सहित लौकिक ज्ञान तिरोभाव को प्राप्त हो जाता है। रस दशा निर्वैयक्तिकता की दशा है। इस दशा की प्राप्ति तब होती है जब काव्य वस्तु के साथ सहृदय तदाकार हो जाता है। इसे ही साहित्यिक पारिभाषिक शब्द के रूप में साधारणीकरण कहा जाता है। यह सिद्धांत भट्टनायक की मौलिक देन है। रस संप्रदाय के अंतर्गत भट्टलोल्लट ने ही सबसे पहले रस निष्पत्ति संबंधी विवाद का आरंभ किया। इन्होंने रस के अवयवों में से 'विभाव, अनुभाव और संचारी भाव' का; उनके महत्व के आधार पर क्रम निश्चित किया। रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में इनके योगदान को स्पष्ट किया। रस निष्पत्ति की अवधारणा को तीन आयामों (उत्पत्ति, पुष्टि और अभिव्यक्ति) में बाँटकर उसे सरल बनाने की कोशिश की। शंकुक ने इनके बाद न्यायशास्त्र के आधार पर रस निष्पत्ति की व्याख्या की। रस सूत्र के चौथे व्याख्याकार के रूप में अभिनवगुप्त ने शैव दर्शन पर आधारित अभिव्यक्तिवाद का प्रवर्तन किया। इनके ग्रंथ अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोकलोचन के आधार पर ही अन्य आचार्यों के रस संबंधी मतों की प्रतिष्ठा और विवेचना संभव हुई।

2.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं –

1. रस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि हैं।
2. भट्टनायक ने रस निष्पत्ति की व्याख्या सामान्य काव्यदृष्टि से की।
3. भट्ट लोल्लट ने रस निष्पत्ति संबंधी विवाद को सर्वप्रथम आरंभ किया।
4. अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की कई मान्यताओं (भावकत्व और भोजकत्व) का खंडन किया।
5. भट्टनायक की मौलिक देन साधारणीकरण का सिद्धांत है।
6. अभिनवगुप्त का मत ही परवर्ती विद्वानों ने माना।

7. जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। इस दशा में रस की अनुभूति करनेवाला सहृदय स्व-पर के बंधन के साथ हर प्रकार के द्वैत से रहित होकर काव्यानुभूति से प्राप्त आनंद अर्थात रसानुभूति में निमग्न हो जाता है। काव्यगत विषय के साथ सहृदय का यह तादातम्य ही वस्तुतः सधारणीकरण है। इसपर आधुनिक विद्वानों ने भी यथेष्ट प्रकाश डाला है।
8. रस संप्रदाय मुख्य रूप से भाव तत्व की विवेचना करता है।

2.6 : शब्द संपदा

1. रस - काव्यानंद
2. स्थायी भाव - जन्मजात भाव या संस्कार
3. विभाव - स्थायी भाव का कारण
4. अनुभाव - स्थायी भाव के बाद उत्पन्न भाव, आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ
5. संचारी भाव - स्थायी भाव के साथ आते-जाते रहने वाले भाव
6. आलंबन विभाव - जिन व्यक्ति या पात्रों के सहारे स्थायी भाव उत्पन्न होता है
7. उद्दीपन विभाव - स्थायी भाव में तीव्रता लाने वाला तत्व
8. आश्रय - जिसके चित्त में स्थायी भाव उत्पन्न होता है
9. विषय - जिसके प्रति आश्रय में स्थायी भाव उत्पन्न होता है
10. वितर्क- शब्द, अर्थ और ज्ञान की पृथक प्रतीति

2.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए।

1. 'रस संप्रदाय' के आधार पर रस की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. रस निष्पत्ति की विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।

खंड (ब)

लघु श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. रस के विभिन्न अवयवों पर प्रकाश डालिए।
2. विभिन्न विद्वानों के मंतव्यों पर प्रकाश डालते हुए साधारणीकरण को स्पष्ट कीजिए।
3. रस संप्रदाय के अंतर्गत आचार्यों के मौलिक अवदानों को विवेचित करें।

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए -

1. नाट्यशास्त्र के रचयिता कौन हैं? ( )

(अ) मम्मट (आ) भामह (इ) दंडी (ई) भरत मुनि

2. नाट्यशास्त्र पर लिखी गई टीका इनमें से कौन है? ( )

(अ) अभिनवभारती (आ) ध्वन्यालोकलोचन (इ) साहित्य दर्पण (ई) कोई नहीं

3. साधारणीकरण के जनक कौन हैं? ( )

(अ) अभिनवगुप्त (आ) भट्टलोल्लट (इ) भट्टनायक (ई) कोई नहीं

4. संचारी भावों की संख्या कितनी है? ( )

(अ) 33 (आ) 8 (इ) 10 (ई) 40

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

1. भट्टनायक ने ..... की व्याख्या सामान्य काव्यदृष्टि से की।
2. ..... ने रस निष्पत्ति संबंधी विवाद को आरंभ किया।
3. अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की मान्यताओं का ..... किया

III. सुमेल कीजिए –

1. भरत मुनि	(अ) अभिव्यक्तिवाद
2. अभिनवगुप्त	(आ) भोगवाद
3. शंकुक	(इ) उत्पत्तिवाद
4. भट्ट लोल्लट	(ई) रस संप्रदाय
5. भट्टनायक	(उ) अनुमितिवाद

2.8 पठनीय पुस्तकें

1. भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र - गणपतिचंद्र गुप्त
2. चिंतामणि भाग-1- रामचंद्र शुक्ल
3. रस सिद्धांत - नगेंद्र
4. रीतिकाव्य की भूमिका – नगेंद्र
5. काव्य तत्व विमर्श- राममूर्ति त्रिपाठी
6. रस मीमांसा- रामचंद्र शुक्ल

इकाई 3 : अलंकार संप्रदाय

इकाई की रुपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 मूल पाठ : अलंकार संप्रदाय
3.3.1 अलंकार का स्वरूप
3.3.1.1 अलंकार की अवधारणाएँ
3.3.1.2 अलंकार और अलंकार्य
3.3.2 अलंकार संप्रदाय की परंपरा
3.3.2.1 भामह का काव्यालंकार
3.3.2.2 भामह के परवर्ती अलंकारवादी
3.3.3 अलंकार का वर्गीकरण और भेद (प्रकार)
3.3.3.1 शब्दालंकार
3.3.3.2 अर्थालंकार
3.3.3.3 उभयालंकार
3.3.4 काव्य में अलंकार का महत्व
3.4 पाठ सार
3.5 पाठ की उपलब्धियाँ
3.6 शब्द संपदा
3.7 परीक्षार्थ प्रश्न
3.8 पठनीय पुस्तकें

3.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र संबंधी चिंतन की परंपरा के अंतर्गत रस संप्रदाय का अध्ययन आप पिछली इकाई में कर चुके हैं। ध्यातव्य है कि रस संप्रदाय का प्रवर्तन भरत मुनि ने किया था। अपने मत में उन्होंने काव्य क्षेत्र के अंतर्गत रस की महत्ता को सर्वोत्कृष्ट बताया। इसके साथ ही अपने नाट्यशास्त्र में उन्होंने चार अलंकारों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं- उपमा, दीपक, रूपक और यमक। भरत मुनि द्वारा इन अलंकारों की केवल विवेचना की गई है। इनकी महत्ता को उन्होंने प्रतिष्ठापित नहीं किया है। अलंकार की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय 'भामह' को जाता है। इनका समय छठी शताब्दी माना जाता है। भामह ने अलंकार को काव्य की आत्मा घोषित किया। इनकी कृति 'काव्यालंकार' में अलंकार का पूर्ण विवेचन उपलब्ध है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस संप्रदाय के बाद दूसरे महत्वपूर्ण संप्रदाय के रूप में अलंकार संप्रदाय की गणना की जाती है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप-

- अलंकार का अर्थ और उसकी परिभाषा जान सकेंगे।
- अलंकार के स्वरूप और उसकी अवधारणा को सपष्ट कर सकेंगे।
- अलंकार संप्रदाय की परंपरा से परिचित हो सकेंगे।
- अलंकार के वर्गीकरण (श्रेणीगत विभाजन) को समझ सकेंगे।
- अलंकार के भेद के रूप में शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार से परिचित हो सकेंगे।

3.3 मूल पाठ : अलंकार संप्रदाय

3.3.1 अलंकार का स्वरूप

अलंकार का स्वरूप समझने के लिए उसके अर्थ और परिभाषा को जानना आवश्यक है। अलंकार का सामान्य अर्थ है 'आभूषण'। आभूषण की आवश्यकता सौंदर्य की वृद्धि के लिए पड़ती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जो शोभा या सौंदर्य बढ़ाता है वह आभूषण या अलंकार है। "अलंकार का शाब्दिक अर्थ है- 'सुशोभित करनेवाला' या 'वह जिससे सुशोभित हुआ जाता है'। इन दोनों अर्थों में परस्पर थोड़ा अंतर है- पहला अर्थ जहाँ अलंकार को कर्ता या विधायक सूचित करता है, वहाँ दूसरे अर्थ से वह साधन मात्र रह जाता है। काव्यशास्त्र में अलंकार इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ वामन आदि ने अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए सौंदर्य के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है, वहाँ वह काव्य को सुशोभित करनेवाला माना गया है, किंतु जहाँ वह संकुचित अर्थ में – विशिष्ट कथन शैलियों के रूप में प्रयुक्त हुआ है वहाँ वह काव्य सौंदर्य का साधन मात्र रह गया है।" (गणपतिचंद्र गुप्त)

बोध प्रश्न

- अलंकार का अर्थ स्पष्ट करें।

3.3.1.1 अलंकार की अवधारणाएँ

अलंकार संबंधी भामह की अवधारणा : 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम' अर्थात शब्दार्थ ही काव्य है यह कहकर भामह ने काव्य में शब्दार्थ की महत्ता को प्रतिष्ठापित किया। अलंकार को काव्य की सौन्दर्य वृद्धि का अनिवार्य तत्व घोषित किया। काव्य में अलंकार की उपयोगिता को अनिवार्य बताते हुए भी अलंकार को काव्य की आत्मा का पर्याय नहीं माना। अलंकार काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण शोभाकारक तत्व है। इसे प्रतिपादित करते हुए भामह ने कहा है कि जिस प्रकार स्त्री का सुंदर मुख आभूषणों के बिना शोभित नहीं होता है उसी प्रकार अलंकार के बिना कविता भी शोभित नहीं होती है। चूँकि ये अर्थालंकारवादी थे इसलिए काव्य सौन्दर्य के लिए सादृश्यमूलक अलंकारों को इन्होंने विशेष उपयोगी माना।

अलंकार संबंधी दण्डी की अवधारणा : दण्डी ने कहा कि काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं। इन्होंने काव्य को इस प्रकार परिभाषित किया शरीरंतावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली'। अर्थात काव्य शरीर वह शब्द समूह है जिसमें कोई इष्ट अर्थ हो और जो रसयुक्त हो। इन्होंने अलंकार को काव्य में रस के सृजन का कारक माना।

गुण संबंधी वामन की अवधारणा में वामन द्वारा काव्य का शोभा कारण धर्म अलंकार के स्थान पर गुण को माना गया है। भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य के शोभाकारक तत्व के रूप में रीति की अवधारणा का प्रतिपादन अलंकार से आगे की एक सीढ़ी है।

बाद के आचार्यों में कुछ अलंकार संप्रदाय के अनुयायी बने और कुछ आचार्यों ने भामह और दण्डी के मत का खंडन-मंडन करते हुए नवीन अवधारणाओं का प्रतिपादन किया। जो आचार्य किसी भी रूप में अलंकार सिद्धांत का अनुकरण करते हुए अलंकार को काव्य का प्रमुख तत्व स्वीकार करते रहे वे अलंकारवादी कहलाए।

बोध प्रश्न

- संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकार की अवधारणाओं के आधार पर अलंकार को परिभाषित करें एवं उसका स्वरूप स्पष्ट करें।

3.3.1.2 अलंकार और अलंकार्य

जिनका अलंकरण किया जाए या जो शोभित होने की योग्यता रखते हों; अलंकार्य कहलाते हैं। अलंकार काव्य के बाह्य पक्ष में सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाला साधन है। अलंकार और अलंकार्य में अंतर होता है। "भारतीय काव्यशास्त्रियों ने साहित्य में अलंकार और अलंकार्य में परस्पर अंतर माना है। उन्होंने वर्णनीय वस्तु को अलंकार्य तथा वर्णन शैली या शैलीगत विशेषताओं को अलंकार बताया है। जैसे मुख-चंद्र में मुख अलंकार्य है जबकि चंद्र अलंकार है।" काव्य के शब्दार्थ से अंततः रस की ही प्रतीति होती है। इसलिए आचार्यों ने यह माना कि काव्य में प्रयुक्त शब्दालंकार एवं अर्थालंकार वास्तव में काव्य से निकलने वाले रस की प्रतीति में सहायक सिद्ध होते हैं। यानी रस यहाँ अलंकृत होता है या अलंकरण किए जाने की योग्यता रखता है। इसलिए रस अलंकार्य है। इस मत के पोषक आचार्य हैं- अभिनवगुप्त एवं मम्मट।

बोध प्रश्न

- अलंकार और अलंकार्य से आप क्या समझते हैं?

3.3.2 अलंकार संप्रदाय की परंपरा

अलंकार संप्रदाय का प्रवर्तन भामह ने किया। भामह के बाद इस संप्रदाय को आगे बढ़ाने में दण्डी, उद्भट और रुद्रट का नाम आता है। अलंकारों का वर्गीकरण करके उसे सरल बनाने में मम्मट और रुय्यक का योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है। मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक संबंध के आधार पर अलंकारों को तीन भागों में विभाजित किया – शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से रुय्यक ने अर्थालंकारों का श्रेणीगत विभाजन किया। अलंकार संप्रदाय के आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि के आधार पर अलंकारों की संख्या निर्धारित करते रहे। इनमें एकरूपता न बन सकी। अलंकार की संख्या पर मतभेद बना रहा।

बोध प्रश्न

- भामह के बाद अलंकार संप्रदाय को आगे ले जाने का श्रेय किस-किसको जाता है?

3.3.2.1 भामह का काव्यालंकार

भामह ने सभी अलंकारों का मूल वक्रोक्ति को माना है। ऐसा मानकर इन्होंने अलंकारों की संख्या 38 बतायी। अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में काव्य के विविध पक्षों को विवेचित करते हुए

इन्होंने अपना ध्यान मुख्य रूप से अलंकार पर केंद्रित रखा है। काव्य में अलंकार की महत्ता को प्रतिपादित करनेवाले इस ग्रंथ में छः परिच्छेद हैं। इन परिच्छेदों में विवेचित विषय इस प्रकार हैं- काव्य शरीर निर्णय, अलंकृति निर्णय, दोष निर्णय, न्याय निर्णय और शब्द शुद्धि। इस ग्रंथ में शब्दालंकार और अर्थालंकार का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। इस इकाई में आगे हम इन अलंकारों का अध्ययन करेंगे।

बोध प्रश्न

- काव्यालंकार ग्रंथ का परिचय दें।

3.3.2.2 भामह के परवर्ती अलंकारवादी

भामह के बाद अलंकार संप्रदाय को आगे बढ़ाने का श्रेय दण्डी को जाता है। इनका समय सातवीं शताब्दी का है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ का नाम है 'काव्यादर्श'। इन्होंने भामह द्वारा निर्धारित की गयी अलंकारों की संख्या और उसके विवेचन में संशोधन करते हुए; अलंकारों की संख्या 35 बतायी। नवीं शताब्दी में उद्भट ने भामह के अलंकार विवेचन का समर्थन किया। अपनी तरफ से कुछ और अलंकार जोड़कर अलंकारों की संख्या उन्होंने 41 बतायी। इनके ग्रंथ का नाम है 'काव्यालंकार सार संग्रह'। इनके समकालीन रुद्रट ने अलंकार संप्रदाय से संबंधित कई भ्रांतियों का निराकरण किया। जैसे इनके पहले के कुछ अलंकारवादी आचार्यों ने रस और भाव को भी अलंकार मान लिया था। रुद्रट ने इसका साफ़ विरोध किया। इसके साथ ही उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण भी किया। इन्होंने अलंकारों की संख्या 50 से अधिक निर्धारित की। इनके द्वारा रचित ग्रंथ का नाम है 'काव्यालंकार'। काव्यात्मक क्षमता शब्द में है या अर्थ में के विवाद को सुलझाते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि शब्दार्थ ही काव्य है। इस तर्क के समर्थक आचार्यों में कुछ नाम इस प्रकार हैं- हेमचंद्र, विद्यानाथ, वाग्भट्ट, भोज इत्यादि।

"आगे चलकर अनेक आचार्यों ने अलंकारों का अपने-अपने ढंग से निरूपण किया जिनमें मम्मट (काव्यप्रकाश : 11वीं शती), रुय्यक (अलंकार सर्वस्व : 12वीं शती), जयदेव (चंद्रालोक : 13वीं शती), विद्याधर (एकावली : 13-14 वीं शती), विश्वनाथ (साहित्य दर्पण : 14वीं शती), केशव मिश्र (अलंकार शेखर : 16वीं शती), अप्पय दीक्षित (कुवलायानंद : 17वीं शती) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से मम्मट और विश्वनाथ को छोड़कर शेष सभी अलंकारवादी थे, जो कि अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे, जबकि मम्मट ध्वनि को व विश्वनाथ रस को मानते थे।....आधुनिक युग में मुरारीदीन, भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि ने खड़ी बोली गद्य में अलंकारों का विवेचन किया। नवीनता इनमें भी नहीं है किंतु फिर भी लक्षणों एवं उदाहरणों की स्पष्टता की दृष्टि से ये महत्वपूर्ण हैं।" (गणपतिचंद्र गुप्त)। आधुनिक युग में अलंकार संप्रदाय जैसी कोई भावना कार्यरत नहीं है। पर अलंकार पर उत्कृष्ट मौलिक काम के लिए डॉ. नगेंद्र एवं डॉ. ओमप्रकाश का नाम लिया जाता है। अलंकार संप्रदाय में तीन प्रमुख अलंकारवादी आचार्य हुए, वे हैं- 'भामह दण्डी और रुद्रट'।

बोध प्रश्न-

- भामह के परवर्ती अलंकारवादियों द्वारा अलंकार संप्रदाय में दिए गए के अवदान की चर्चा संक्षिप्त में करें।

3.3.3 अलंकार का वर्गीकरण और भेद (प्रकार)

अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकारों को कई श्रेणियों में वर्गीकृत किया है। इस वर्गीकरण का आधार आचार्यों की अपनी दृष्टि रही है। इससे अलंकार की संख्या भी सभी आचार्यों ने अलग-अलग बताई है। 'रुद्रट' ने अलंकारों का वर्गीकरण करते हुए उसकी चार श्रेणियों को स्वीकार किया है जो इस प्रकार हैं- वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुय्यक ने अलंकारों के विभाजन के लिए सात श्रेणियाँ निश्चित की हैं जो इस प्रकार हैं- सादृश्य गर्भ, विरोधमूलक, शृंखलाबद्ध, तर्कमूल न्याय, वाक्यन्याय मूल, लोक् न्याय मूल, गूढार्थ प्रतीति मूल इत्यादि। रुय्यक द्वारा अलंकारों की जो श्रेणियाँ विभाजित की गईं वे हिंदी साहित्य में किसी-न-किसी रूप में आज भी व्यवहृत हो रही हैं। अलंकार की इन श्रेणियों का परिचय गणपतिचंद्र गुप्त के शब्दों में निम्नवत है-

'**सादृश्य गर्भ** : इनमें वस्तु और अलंकार के उपमेय और उपमान के गुण-धर्म आदि में किसी न किसी प्रकार से सादृश्य दिखाकर मूल भाव के प्रभाव की अभिवृद्धि की जाती है। इस वर्ग में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार आते हैं जिनकी संख्या पं. रामदहिन मिश्र ने 28 मानी है।

विरोधमूलक : इनमें वस्तु और अलंकार के गुण-धर्मों में वैषम्य या विरोध की प्रमुखता रहती है। इस वर्ग में विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि 12 अलंकार गिने जाते हैं।

शृंखलाबद्ध : इनमें विषय वस्तु को क्रम या शृंखला के रूप में प्रस्तुत करके सौंदर्य उत्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार कमरे में बिखरी हुई वस्तुओं को एक क्रम से सजा देने पर उनकी शोभा बढ़ जाती है, वैसे ही शृंखलाबद्ध अलंकारों से काव्य सौंदर्य की अभिवृद्धि होती है। इसमें कारणमाला, एकावली आदि आते हैं।

तर्क न्याय मूल : न्यायशास्त्रीय तर्क-अनुमानादि के द्वारा उक्ति को प्रभावशाली बनाया जाता है।

वाक्यन्याय मूल : तर्क पूर्ण सामान्य उक्ति या वाक्य के द्वारा वस्तु को प्रभावशाली बनाया जाय।

लोक न्याय मूल : लोकव्यवहार या नीति के तत्वों के द्वारा उक्ति में प्रभाव उत्पन्न किया जाय।

गूढार्थ प्रतीति मूल : इसमें मुख्यतः व्यंजना शक्ति का वैभव रहता है।'

बाद में मल्लिनाथ ने रुय्यक द्वारा अलंकारों के इस श्रेणीगत विभाजन को और सरल बनाते हुए इसके छः वर्ग निर्धारित किए। मल्लिनाथ ने अलंकारों के इस वर्गीकरण में रुद्रट के औपम्य को शामिल किया तथा रुय्यक के लोकन्याय मूल, तर्क न्याय मूल और वाक्य न्याय मूल नामक तीन वर्गों के लिए एक वर्ग निर्धारित किया न्यायमूलक अलंकार वर्ग। इस प्रकार मल्लिनाथ द्वारा निर्धारित अलंकार वर्ग इस प्रकार हैं- सादृश्यमूलक, औपम्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृंखलाकार, न्यायमूलक तथा गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वर्ग। ध्यान दें अलंकार की ये सभी श्रेणियाँ काव्य में अर्थ आधारित चमत्कार उत्पन्न करती हैं अतः इनका संबंध अर्थालंकार से है।

बोध प्रश्न

- अलंकार के वर्गीकरण और भेद के अंतर को स्पष्ट करें।

3.3.3.1 शब्दालंकार :

जब शब्द के द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है तब उसे शब्दालंकार कहते हैं। यह काव्य में दो तरह से प्रयुक्त होता है- 1. वर्ण सौंदर्य के द्वारा 2. शब्द या वाक्य के सौंदर्य द्वारा। काव्य में शब्दालंकार के प्रयोग के आधार पर इसके भेद निम्नवत हैं-

अनुप्रास : इसकी पहचान करने के लिए वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में यह देखना है कि व्यंजन वर्ण की आवृत्ति दो या दो से अधिक बार समान स्थान पर हुई है अथवा नहीं। यदि वर्णों की आवृत्ति हुई है और उनकी आवृत्ति का स्थान समान है तो वहां अनुप्रास अलंकार है। इसके पाँच भेद हैं- छेकानुप्रास, शृत्यानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास और अंत्यानुप्रास।

उदाहरण : 'चारु चंद्र की चंचल किरणें।'

'तरनि तनुजा तट तमाल।'

उपरोक्त दोनों पंक्तियों में क्रमशः च एवं त वर्ण की आवृत्ति है।

यमक : जब किसी वाक्य में एक या एक से अधिक शब्द की आवृत्ति एक या एक से अधिक बार हो तथा उनका अर्थ अलग-अलग हो तब इस स्थिति में यमक अलंकार की योजना मानी जाती है।

उदाहरण : "कनक कनकते सौ गुनी मादकता अधिकाय

या खाय बौराय जग, वा पाय बौराय।।

यहाँ 'कनक' शब्द धतूरा और सोना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

यमक अलंकार और लाटानुप्रास में अंतर इतना ही है कि यमक में शब्दों की आवृत्ति से अर्थ नहीं बदलता है पर लाटानुप्रास में आवृत्ति से अर्थ बदलता है। यमक अलंकार का उदाहरण आप पहले देख चुके हैं। अब लाटानुप्रास का एक उदाहरण देखिए-

"पूत सपूत तो का धन संचय?

पूत कपूत तो का धन संचय?"

श्लेष : जब किसी वाक्य में एक ही शब्द दो या दो से अधिक अर्थों में प्रयोग किए जाते हैं तब वहाँ श्लेष अलंकर की योजना होती है।

उदाहरण : 'पानी गए न ऊबरै मोती मानुष चून।' यहाँ पानी, मोती की चमक और मनुष्य की प्रतिष्ठा इन तीनों ही अर्थों में पानी शब्द प्रयुक्त हुआ है।

वक्रोक्ति : जब कोई वाक्य प्रत्यक्ष अर्थ के अतिरिक्त किसी अलग अर्थ को भी बताता है तब उस तरह के वाक्य या कथन को वक्रोक्ति कहा जाता है। 'वक्र+उक्ति = वक्रोक्ति' यानी जो कथन या उक्ति वक्र हो। कथन को वक्र बनाने की योग्यता उसमें प्रयुक्त शब्दों में होती है।

उदाहरण : 'भिक्षुक गो कित को गिरिजे? सो तो मांगन बलिद्वार गयी री।'

उपरोक्त उदाहरण में लक्ष्मी ने पार्वती से शिव (भिक्षुक) के संबंध में पूछा कि वे कहाँ गए हैं बदले में पार्वती ने इस (भिक्षुक) संबोधन से विष्णु के बारे में उत्तर दिया कि वे बलि के द्वार पर माँगने गए हैं।

बोध प्रश्न

- शब्दालंकार से आप क्या समझते हैं?

3.3.3.2 अर्थालंकार

अलंकार के श्रेणीगत विभाजन या वर्गीकरण में आपने देखा कि शब्द या वाक्य के अर्थ से उत्पन्न काव्य सौंदर्य को आधार मानते हुए अलंकारों को रुय्यक द्वारा सात श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इसी विभाजन को और सरल बनाने का प्रयास करते हुए मल्लिनाथ ने इसे छः श्रेणियों में वर्गीकृत किया है। इनका संक्षिप्त परिचय आप वहां पा चुके हैं। वर्तमान संदर्भ में यदि देखा जाए तो इन श्रेणियों में से दो श्रेणियाँ ऐसी हैं जो अधिक प्रचलन में हैं; वे हैं- सादृश्यमूलक और विरोधमूलक अलंकार। यहाँ मुख्य रूप से इनका ही अध्ययन किया जाएगा। जब काव्य में चमत्कार तथा सौंदर्य शब्दों या वाक्य के अर्थ द्वारा उत्पन्न होता है तब वहाँ अर्थालंकार माना जाता है। इसके चार अंग होते हैं- उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक शब्द।

उपमेय : जिस मूल विषय की तुलना की जाती है, उसे उपमेय या प्रस्तुत कहते हैं।

उपमान : जिससे उपमेय की तुलना की जाए या उपमेय की समानता बतायी जाए उसे उपमान या अप्रस्तुत कहते हैं।

साधारण धर्म : उपमेय और उपमान में अवस्थित वह समान गुण जिसके कारण उपमेय और उपमान की तुलना की जाती है, साधारण धर्म कहलाता है।

वाचक शब्द : वाचक शब्द से आशय उस शब्द से है जिसके द्वारा उपमेय और उपमान में समानता बतायी जाती है।

सादृश्यमूलक अलंकार: इस अलंकार वर्ग के अंतर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकार आते हैं।

उदाहरण : उपमा अलंकार – इसके अंतर्गत किसी वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना की जाए या समानता बतायी जाती है, जैसे- 'पीपर पात सरिस मन डोला।' इसमें 'पीपर पात' उपमान है। 'सरिस' वाचक शब्द है। 'मन' उपमेय है और 'डोला' वाचक शब्द है। उपमा अलंकार के दो भेद हैं- पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। जब उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द – ये चारो एक साथ उपस्थित रहते हैं तब पूर्णोपमा अलंकार की स्थिति होती है। पूर्व वर्णित चारो अंगों में से किसी अंग के लोप होने पर लुप्तोपमा माना जाता है।

रूपक अलंकार – इसके अंतर्गत उपमेय उपमान का रूप धारण कर लेता है यानी मूल विषय (उपमेय) पर उपमान का आरोप किया जाता है, जैसे- चरण कमल। इसमें चरण ने कमल का रूप धारण कर लिया। यहाँ चरण उपमेय है और कमल उपमान। रूपक अलंकार के तीन रूप हैं- सांगरूपक अलंकार, निरंगरूपक एवं परंपरित रूपक।

भ्रांतिमान अलंकार – इसके अंतर्गत सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का भ्रम होता है साथ ही उपमेय को ही उपमान समझ लिया जाता है। जैसे - अँधेरे में पड़ी रस्सी को साँप समझ लेना भ्रांतिमान है।

उत्प्रेक्षा अलंकार – इसके अंतर्गत उपमेय और उपमान भिन्न होते हैं परंतु यहाँ उपमेय में उपमान की संभावना की जाती है, जैसे- नेत्र मानो कमल है। यहाँ 'मानो' उत्प्रेक्षा अलंकार का वाचक शब्द है। इस अलंकार को पहचानने के लिए अन्य वाचक शब्द इस प्रकार हैं- मानो, जानो, मनु,

जनु, निश्चय, मनहु, जानहु, इव इत्यादि। उत्प्रेक्षा अलंकार के तीन भेद हैं- वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा।

संदेह अलंकार – इसके अंतर्गत उपमेय में साम्य के कारण उपमान का संशय हो तथा उसकी निश्चितता संदिग्ध बनी रहती है। इसमें उपमेय और उपमान दोनों पर समान बल रहता है, जैसे- यह सुंदरी का मुख है या चंद्रमा।

विरोधमूलक अलंकार : इस अलंकार वर्ग के अंतर्गत विभावना, विशेषोक्ति इत्यादि अलंकार आते हैं।

उदाहरण : विभावना अलंकार – इसमें कारण के बिना कार्य संपादित होता है, जैसे-

"बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ जोगी।।"

उदाहरण : विरोधाभास अलंकार – विरोध के आभास का होना और वास्तविक विरोध का अभाव, जैसे -

"तुम मांसहीन, तुम रक्तहीन,
हे अस्थिशेष तुम अस्थिहीन"

बोध प्रश्न

- अर्थालंकार से आप क्या समझते हैं?

3.3.3.3 उभयालंकार

जब एक ही स्थान पर शब्दालंकार या अर्थालंकार में से दो या दो से अधिक अलंकार उपस्थित हों तब वहां उभयालंकार माना जाता है। यानी शब्द और अर्थ का चमत्कार जब किसी वाक्य में समान रूप से रहता है तब वहाँ उभयालंकार माना जाता है। इस प्रकार आप कह सकते हैं कि उभयालंकार शब्द और अर्थ की समान सत्ता को द्योतित करता है। ये शब्द और अर्थ काव्य में समान रूप से चमत्कार उत्पन्न करके काव्य के सौंदर्य की वृद्धि करते हैं तथा उसकी अभिव्यंजना को प्रभावी बनाते हैं।

बोध प्रश्न

- उभयालंकार से आप क्या समझते हैं?

3.3.4 काव्य में अलंकार का महत्व

अलंकार के काव्य में प्रयोग से सृजनात्मकता प्रभावी होती है। इसका प्रयोग कवि की प्रतिभा तथा उसकी मनोवृत्ति दोनों पर निर्भर करता है। अलंकार काव्य में सौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं। इस अभिवृद्धि के दो स्तर हैं- शब्द और अर्थ। कहीं यह सौंदर्य शब्दों, वाक्यों या वर्णों की आवृत्ति पर निर्भर करता है तो कभी शब्दार्थ काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है और कभी-कभी शब्द और अर्थ दोनों मिलकर सौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं। यह तब तक होता है जब तक अलंकारों का सहज प्रवाह बना रहता है। जबरदस्ती लादे गए और विद्वता प्रदर्शन के निमित्त प्रयोग किए गए अलंकार सारहीन प्रतीत होते हैं। इनसे रस की प्रतीति में बाधा पहुँचती है

जिससे काव्य का लक्ष्य बाधित होता है। अतः अलंकार काव्य में रस की प्रतीति कराने में सहायक होने चाहिए।

बोध प्रश्न

- काव्य में अलंकार के प्रयोग का क्या महत्व है?

3.4 पाठ सार

प्रिय छात्रों! अब तक आप समझ ही चुके होंगे कि अलंकार संप्रदाय में अलंकार को काव्य का प्रमुख तत्व उसी प्रकार स्वीकार किया गया जिस प्रकार रसवादियों ने रस को काव्य की आत्मा माना था। अलंकार सिद्धांत के अनुसार अलंकार ही काव्य का शोभाकारक तत्व है। यह स्पष्ट है कि इस संप्रदाय के आचार्यों का ध्यान काव्य के बाह्य पक्ष की सौंदर्य अभिवृद्धि पर ही केंद्रित रहा। शब्द और अर्थ की सत्ता में उन्होंने काव्य सौंदर्य को देखा जिसके परिणामस्वरूप शब्दालंकार एवं अर्थालंकार काव्यशास्त्र के अंतर्गत अध्ययन का विषय बना। इस संप्रदाय के प्रतिष्ठापक भामह हैं। उन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में शब्दालंकार और अर्थालंकार का बृहत विवेचन किया है। भामह के बाद दण्डी ने 'काव्यादर्श' लिखकर इस संप्रदाय को आगे बढ़ाया। इन दोनों के सिद्धांतों का खंडन-मंडन करके परवर्ती आचार्यों ने नए काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का मार्ग प्रशस्त किया। भामह के बाद अलंकार संप्रदाय के अनुयायी आचार्यों ने इसमें अपना योगदान देते हुए लगातार इसे आगे बढ़ाया। अलंकार के साथ एक और शब्द आया अलंकार्य। अलंकार और अलंकार्य में अंतर होता है। जिनका अलंकरण किया जाए या जो शोभित होने की योग्यता रखते हों; अलंकार्य कहलाते हैं। अलंकार काव्य के बाह्य पक्ष में सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाला साधन है। शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार अलंकार के भेद हैं। इससे पहले अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकारों को कई श्रेणियों में वर्गीकृत किया है। इस वर्गीकरण का आधार आचार्यों की अपनी दृष्टि रही है। इससे अलंकार की संख्या भी सभी आचार्यों ने अलग-अलग बताई है। 'रुद्रट' ने अलंकारों का वर्गीकरण करते हुए उसकी चार श्रेणियों को स्वीकार किया है जो इस प्रकार हैं- वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुय्यक ने अलंकारों के विभाजन के लिए सात श्रेणियाँ निश्चित की हैं जो इस प्रकार हैं- सादृश्य गर्भ, विरोधमूलक, शृंखलाबद्ध, तर्कमूल न्याय, वाक्यन्याय मूल, लोक् न्याय मूल, गूढार्थ प्रतीति मूल इत्यादि। रुय्यक द्वारा अलंकारों की जो श्रेणियाँ विभाजित की गईं वे हिंदी साहित्य में किसी-न-किसी रूप में आज भी व्यवहृत हो रही हैं। मल्लिनाथ ने इसे और सुबोध बनाया। साहित्य में अलंकार के सायास प्रयोग से एक बोझिलता का अनुभव होता है जबकि सहज भाव से साहित्य में प्रयुक्त अलंकार हृदयग्राही प्रतीत होते हैं।

3.5 पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं –

1. अलंकार संप्रदाय का प्रवर्तन भामह ने किया। इनके ग्रंथ का नाम काव्यालंकार है। भामह के बाद अलंकार संप्रदाय को आगे बढ़ाने का श्रेय

2. रुद्रट ने अलंकार संप्रदाय की कई भ्रांतियों का निराकरण किया। रस और भाव को कई विद्वानों ने अलंकार माना। रुद्रट ने इसका स्पष्ट विरोध किया। काव्य के संदर्भ में शब्द और अर्थ के विवाद को सुलझाते हुए, इन्होंने स्थापित किया कि शब्दार्थ ही काव्य है। इन्होंने अलंकार को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया।
3. रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण सात श्रेणियों में किया जो इस प्रकार हैं- सादृश्य गर्भ, विरोधमूलक, शृंखलाबद्ध, तर्कमूल न्याय, वाक्यन्याय मूल, लोक् न्याय मूल, गूढार्थ प्रतीति मूल इत्यादि।
4. मल्लिनाथ ने अलंकार के वर्गीकरण को और सरल बनाने का प्रयास करते हुए इसकी छः श्रेणियाँ प्रस्तुत की जो इस प्रकार हैं- सादृश्यमूलक, औपम्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृंखलाकार, न्यायमूलक तथा गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वर्ग इत्यादि।
5. मम्मट ने 'अन्वय-व्यतिरेक संबंध' के आधार पर अलंकार के तीन भेद निर्धारित किया। अलंकार के वे भेद हैं- शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार।
6. दण्डी शब्दालंकार को महत्व देते हैं और भामह अर्थालंकार को महत्व देते हैं। यानी दण्डी का मानना है कि काव्य का असली सौंदर्य शब्द में निहित होता है जबकि भामह काव्य का सौंदर्य शब्दार्थ में देखते हैं।

3.6 : शब्द संपदा

1. व्यवहृत	-	व्यवहारिक रूप से प्रयोग करना, प्रचलित
2. औपम्यगर्भ	–	अलंकार की एक श्रेणी या वर्ग जिसके अंतर्गत व्यतिरेक, श्लेष, दीपक, दृष्टांत इत्यादि अलंकार आते हैं।
3. शृंखलाकार	–	अलंकार की एक श्रेणी या वर्ग जिसके अंतर्गत एकावली, मालादीपक इत्यादि अलंकार आते हैं।
4. न्यायमूलक	–	अलंकार की एक श्रेणी या वर्ग जिसके अंतर्गत काव्यलिंग, यथासंख्या इत्यादि अलंकार आते हैं।
5. गूढ़ार्थप्रतीति मूलक	-	अलंकार की एक श्रेणी या वर्ग जिसके अंतर्गत वक्रोक्ति या व्यंजनामूलक उक्तियाँ आती हैं।
6. मल्लिनाथ	–	एकावली के टीकाकार
7. अलंकार्य	–	अलंकार के प्रयोग से जो अलंकृत होता है, अलंकरणीय
8. अन्वय	–	परस्पर संबंध
9. व्यतिरेक	–	अभाव
10. छेकानुप्रास	–	एक वर्ण या अनेक वर्णों की आवृत्ति केवल एक बार हो

11. वृत्यानुप्रास – जब वृत्तियों के वर्णानुसार एक या अनेक वर्णों की एक से अधिक बार आवृत्ति हो

3.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए।

1. अलंकार संप्रदाय के प्रमुख सिद्धांतों की विवेचना करें।
2. काव्य में अलंकार के प्रयोग के महत्व पर प्रकाश डालें।
3. अलंकार के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

खंड (ब)

लघु श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. भामह के काव्यालंकार का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. अलंकार के भेद तथा उसके श्रेणीगत विभाजन की विवेचना करें।
3. शब्दालंकार और अर्थालंकार के बीच अंतर को स्पष्ट करें।

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए –

1. अलंकार संप्रदाय का प्रवर्तन किसने किया? ( )

(अ) भामह (आ) दण्डी (इ) रुद्रट (ई) उद्भट

2. भरत के नाट्यशास्त्र में कितने अलंकारों का वर्णन है? ( )

(अ) चार (आ) पाँच (इ) एक (ई) शून्य

3. क्या अलंकार और अलंकार्य एक ही हैं? ( )

(अ) हाँ (आ) नहीं (इ) अ और आ (ई) कोई नहीं

4. इनमें से शब्दालंकार कौन है? ( )

(अ) अनुप्रास (आ) यमक (इ) अ और आ (ई) कोई नहीं

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

1. जिस मूल विषय की तुलना की जाती है, उसे .....या प्रस्तुत कहते हैं।
2. उपमान जिससे उपमेय की तुलना की जाए या उसकी समानता बतायी जाए उसे उपमान या ..... कहते हैं।

3. ..... और ..... में अवस्थित वह समान गुण जिसके कारण उपमेय और उपमान की तुलना की जाती है, साधारण धर्म कहलाता है।

III. सुमेल कीजिए –

1. मम्मट	(अ) अलंकार सर्वस्व
2. रुय्यक	(आ) चंद्रालोक
3. जयदेव	(इ) काव्यप्रकाश
4. विद्याधर	(ई) साहित्य दर्पण
5. विश्वनाथ	(उ) एकावली

3.8 पठनीय पुस्तकें

1. भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र - गणपतिचंद्र गुप्त
2. चिंतामणि भाग-1- रामचंद्र शुक्ल
3. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका- नगेन्द्र
4. रीतिकाव्य की भूमिका – नगेंद्र
5. काव्य तत्व विमर्श- राममूर्ति त्रिपाठी

इकाई 4 : रीति संप्रदाय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 मूल पाठ : रीति संप्रदाय
4.3.1 रीति शब्द की उत्पत्ति
4.3.2 रीति का स्वरूप और विकास
4.3.3 रीति के प्रकार
4.3.4 रीति का अन्य संप्रदायों के साथ संबंध
4.4 पाठ सार
4.5 पाठ की उपलब्धियाँ
4.6 शब्द संपदा
4.7 परीक्षार्थ प्रश्न
4.8 पठनीय पुस्तकें

4.1 : प्रस्तावना

सभी भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत में काव्य रचना का कार्य सबसे पहले किया गया। काव्य मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत है। इसमें कोई दोराय नहीं है। भाषा वैज्ञानिकों ने गहन अनुसंधान के बाद यह पाया कि संस्कृत जो देवताओं की भाषा थी उसे ही जब सरल रूप में जनभाषा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा तो लौकिक संस्कृत हमारे सामने आई। यह संस्कृत बहुत समय तक भारत की जनभाषा और साहित्य की भी भाषा रही। इसके बाद पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के बाद जब हिन्दी समीक्षकों और आलोचकों ने संस्कृत को हिन्दी की माता मानकर हिन्दी काव्यशास्त्रिय नियमों को बनाने में संस्कृत के नियमों का ही सहारा लिया। इसी कारण से भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन को दो भागों में बाँटा जा सकता है- 1. संस्कृत काव्यशास्त्र और 2. हिन्दी काव्यशास्त्र।

1. संस्कृत काव्यशास्त्र – संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है- अ) प्रवर्तन काल – ई.पू. से 500 ईस्वी तक
   आ) प्रतिपादन काल- 500 ईस्वी से 1100 ईस्वी तक
   इ)व्याख्या काल- 1100 ईस्वी से 1600 तक
   ई) भाषा काल-1600 ईस्वी से अब तक

2. हिन्दी काव्यशास्त्र- हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की रचना रीतिकाल के समय से प्रारंभ हुआ। अर्थात, 1700 से हिन्दी में लक्षण ग्रंथों को लिखने की परंपरा प्रारंभ हुई। लेकिन यहाँ ध्यान रखनेवाली बात यह है कि सूरदास रचित 'साहित्यलहरी' को अगर हिन्दी काव्यशास्त्र की पहली

पुस्तक कहा जाए तो गलत नहीं होगा क्योंकि इसमें काव्य लक्षणों का वर्णन किया गया है लेकिन इस पुस्तक की कमी यह है कि इस पुस्तक में लक्षणों का काव्यमय वर्णन एवं उद्धरण लिखा गया है लेकिन उनकी व्याख्या नहीं किया गया है।

काव्य रचना क्यों किया जाए? इस प्रश्न पर बहुत अधिक विचार विमर्श भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत किया गया है। काव्य क्यों लिखा जा रहा है और पाठक किस उद्देश्य से उसे पढ़ रहा है यह "काव्य प्रयोजन" का महत्वपूर्ण प्रश्न है। भरतमुनि के 'नाटयशास्त्र' से भारतीय कव्यशास्त्र का आरंभ माना जाता है। काव्य का संबंध शब्द और अर्थ से है। भरतमुनि के अनुसार, 'अर्थक्रियोपेतम काव्यम्' अर्थात, अर्थ क्रिया से युक्त रचना ही काव्य है। यहाँ दृष्यकाव्य से श्रव्यकाव्य का अंतर है। दृष्यकाव्य में अर्थ और क्रिया का योग रहता है, जबकि श्रव्यकाव्य में अर्थ और शब्द का। दार्शनिक विद्वान शब्द को 'ब्रह्म' और अर्थ को उसका उसका 'विश्लेषण' मानते हैं। प्रेमचंद के अनुसार, "साहित्य का उद्देश्य हमारा मनोरंजन करना नहीं है। यह काम तो भाटों, मदारियों, विदुषकों और मसखरों का है। साहित्यकार का पद इनसे बहुत ऊंचा। यह हमारे विवेक को जागरूक करता है, हमारी आत्म को तेजोदीप्त बनाता है"।

ऊपर संस्कृत काव्यशस्त्र के चार विभाजन का उल्लेख किया गया है। इन चार कालों में से द्वितीय काल अर्थात, प्रतिपादन काल का अपना अलग महत्व है क्योंकि इसी काल में काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का निर्माण किया गया। भारतीय काव्यशास्त्र में 6 प्रमुख काव्य संप्रदायों को "काव्य की आत्मा" कहा गया है। इन 6 संप्रदायों के नाम हैं –

1. अलंकार संप्रदाय – आचार्य भामह
2. रस संप्रदाय – आचार्य भरतमुनि
3. रीति संप्रदाय – आचार्य वामन
4. वक्रोक्ति संप्रदाय – आचार्य कुंतक
5. ध्वनि संप्रदाय – आचार्य अनदवर्धन
6. औचित्य संप्रदाय – आचार्य क्षेमेन्द्र

भामह, दंडी, उद्भट ने काव्य सौन्दर्य के प्रमुख तत्व के रूप में 'अलंकार सिद्धांत' को महत्व प्रदान किया तो दूसरी ओर वामन ने गुण तथा अलंकार के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए 'रीति सिद्धांत' को काव्यशास्त्र का प्रमुख तत्व माना।

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख अंग रीति संप्रदाय का अध्ययन करेंगे।

4.2 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप -

1. रीति संप्रदाय से परिचित हो सकेंगे।
2. रीति शब्द की उत्पत्ति को जान सकेंगे।

3. रीति संप्रदाय की विकास यात्रा को समझ सकेंगे।

4.3 : मूल पाठ : रीति संप्रदाय

रीति शब्द की उत्पत्ति - रीति शब्द की उत्पत्ति कहाँ हुई जब इस विषय में चर्चा होती है तो हम पाते हैं कि रीति संस्कृत की "रीङ" धातु से बना हुआ शब्द है जिसका अर्थ है - गति, चलन, मार्ग, पथ, शैली, ढंग, कार्यावधि आदि। "सरस्वतीकंठाभरण" के रचयिता भोजदेव ने रीति शब्द की उत्पत्ति के विषय में यह लिखा है कि

"वैदर्भादिकृतः पंथा काव्यमार्ग इति स्मृतः।
रीङ गतवितिधातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते"

भोजदेव से पहले भामह, दंडी आदि आचार्यों ने रीति के लिए "काव्य मार्ग" अथवा गिरा मार्ग आदि शब्दों का प्रयोग किया था। काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रीति के लिए "कृति –प्रकृति" शब्द का प्रयोग किया था।

रीति संप्रदाय के जन्मदाता के रूप में वामन का नाम लिया जाता है। रीति सिद्धांत 'रीति' को को काव्य के प्रमुख अंग के रूप में स्थापित करने का सबसे पहला प्रयास है। इस सिद्धांत ने ही सबसे पहले गुण और अलंकार के बीच के भेद को स्पष्ट रूप में दिखलाया। एक ओर वामन ने अलंकार को विस्तृत अर्थ में स्वीकार करते हुए 'सौंदर्यमलंकार' अर्थात्, सौन्दर्य को ही अलंकार कहा तो दूसरी ओर "रीति" को काव्य के विशिष्ट तत्व के रूप में प्रतिपादित करते हुए वामन ने कहा है – "विशिष्टा पद रचना रीतिः"। इसका अर्थ यह है कि रीति सामान्य पद रचना न होकर विशिष्ट पद रचना है और यह "विशेष" क्या है इसका विश्लेषण करते हुए आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा है – "विशेषो गुणात्मा। रीतिरात्मा काव्यस्य"।अर्थात गुण रीति का सर्वस्व है और गुणों से युक्त रीति ही काव्य की आत्मा है। ध्यान देनेवाली बात यह है कि आचार्य वामन ने 'गुणों' को विशेष महत्व प्रदान किया है। उनके अनुसार 'गुण' काव्य के महत्वपूर्ण अंग हैं 'गुण' के बिना काव्य की कल्पना असंभव है। 'गुणों' को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हुए ही उन्होंने लिखा है कि 'काव्य शोभायाः कर्तारौ धर्माः गुणाः'। इसी कारण से 'रीति संप्रदाय' को 'गुण संप्रदाय' भी कहा जाता है। आचार्य वामन के अनुसार 'गुण' 2 प्रकार के होते हैं। पहला-शब्दगत और दूसरा-अर्थगत। इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत 10-10 गुण हैं। जिनके नाम हैं-1. ओज, 2. प्रसाद, 3. श्लेष, 4.समता 5. समाधि, 6. माधुर्य, 7. सौकुमार्य, 8. उदारता, 9. अर्थव्यक्ति, 10. कान्ति। इस प्रकार वामन ने कुल बीस गुण माने हैं- 10 शब्दगत और 10 अर्थगत। डॉ. कृष्णदेव झारी ने आचार्य वामन की परिभाषा को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है, "उनके अनुसार पद रचना की विशिष्टता का आधार गुण है – विशेषोगुणात्मा। विशेष गुणों के प्रयोग से पद रचना (रीति शैली) में विशिष्टता आती है। गुणों को वामन ने काव्य शोभा का कारक कहा है"।

बोध प्रश्न

- रीति संप्रदाय के प्रवर्तक कौन है?

- रीति संप्रदाय का दूसरा नाम क्या है?
- आचार्य वामन के अनुसार गुण कितने प्रकार के हैं?

4.3.1 रीति का स्वरूप और विकास –

रीति का विकास भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत किस प्रकार से हुआ है? इस प्रश्न पर विस्तार से विश्लेषण करने की आवश्यकता है। आचार्य वामन की रचना "काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' की रचना 860 ई. में हुई थी। इस समय तक काव्य को अकाव्य से भिन्न करनेवाले 3 तत्वों की पहचान हुई थी –

1. रस तत्व
2. अलंकार तत्व
3. गुण तत्व

कश्मीरी विद्वान वामन, संस्कृत काव्य के विकसित रूप की अंतिम और नष्ट हो रही संस्कृत काव्य की प्रथम अवस्था का कवि है। इन्होंने अपने समय के दो कवियों का उल्लेख किया है। पहला- अरोचकी और दूसरा सतृणाभ्यवहारी। अरोचकी विवेकशील होते हैं, लेकिन इनकी रुचि किसी कारणवश नष्ट हो जाती है। वामन ने अपना ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' इन्हीं अरोचक शिष्यों के लिए लिखा और उन्हीं को दिशा निर्देश देने के लिए 'शब्द-शुद्धि' जैसे पाठों की रचना की। यहीं से 'रीति सिद्धांत' का जन्म हुआ। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बताया यह तो ठीक है लेकिन वे रीति को किसी संप्रदाय के आविष्कारक के रूप में स्थापित नहीं कर सके। वामन के कारण से रीति सिद्धांत तो बनें लेकिन रीति पूर्णतया संप्रदाय नहीं बन सका क्योंकि कोई भी सिद्धांत संप्रदाय तब तक नहीं बनता जब तक उसके बहुत अधिक अनुयायी नहीं बनते लेकिन वामन के बाद किसी भी आचार्य ने काव्य को रीति की आत्मा स्वीकार नहीं किया। जिस कारण से रीति केवल काव्य रचना का नियम बनकर ही रह गई।

डॉ. राजवंश सहाय "हीरा" के अनुसार – रीति के विकास की 3 दशाएं हैं –

1. भौगोलिक स्थिति
2. काव्य के गुण और विषय के साथ संबंध
3. कवि के वैयक्तिक गुणों का संबंध

ऋग्वेद में 'रीति' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। जैसे-

1. 'महीव रीतिः शवसारत् पृथकः'।

यहाँ 'रीति' शब्द का प्रयोग 'धारा' के अर्थ में हुआ है।

2. 'तामस्य रीतिः परशोरिव

यहाँ रीति शब्द का प्रयोग 'स्वभाव या गति' के अर्थ में हुआ है। 'रीति' शब्द का प्रयोग करते समय विद्वानों ने 'रीति' शब्द के साथ अलग प्रांत या देश का नाम भी जोड़ा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्रांत देश की 'रीति' अलग-अलग होती है। जैसे बंगाल की सुंदरता उसके हस्तकरघा में है तो कश्मीर की सुंदरता उसकी केशर में।

बोध प्रश्न

- 'काव्यलंकारसूत्रवृत्ति' की रचना कब की गई?
- वामन का संबंध किस प्रांत के साथ है?
- बंगाल की सुंदरता किस में है?

4.3.2 रीति के प्रकार –

समय-समय पर विद्वानों ने 'रीति' को दूसरे नामों से सुशोभित करने के साथ ही साथ उसे अनेक भागों में विभाजित भी किया है। जैसे दंडी ने सबसे पहले 'रीति' शब्द के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया था तो आचार्य आनंदवर्द्धन ने 'रीति' के लिए 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया था। प्रस्तुत उपशाखा के अंतर्गत हम देखेंगे कि किस प्रकार से विभिन्न नामों के साथ 'रीति' को भिन्न-भिन्न प्रकार से विभाजित किया गया-

(1) भरत - भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'रीति' शब्द के लिए 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने भारतवर्ष में प्रचलित 4 प्रकृतियों- आवंती, दक्षिणात्य, पांचाली, और औढमागधी का वर्णन किया है जो क्रमशः 1.पश्चिम, 2. दक्षिण 3. मध्यप्रदेश तथा 4. उड़ीसा -मगध में प्रचलित थी।

(2) आनंदवर्द्धन - इन्होंने 'रीति' को 'संघटना' नाम प्रदान किया और उसे रस, ध्वनि आदि काव्य के आधारभूत तत्वों का उपकारक स्वीकार किया है। 'संघटना' से इनका अर्थ है 'सम्यक घटना'। वे 'संघटना को संपूर्ण सौन्दर्य का साधन मानते हैं। उनके अनुसार पद रचना तब सार्थक बनता है जब वह गुण के आश्रय में न रहकर रस को भी अभिव्यक्त कर सके। वामन की 'रीति' एक स्वतंत्र अवधारणा है जबकि आनंदवर्द्धन की संघटना रस पर आश्रित है।

(3) राजशेखर - इन्होनें रीति के साथ ही साथ प्रवृत्ति एवं वृत्ति का भी निरूपण किया। इन्होंने रीति को 3 भागों में बाँटा- 1. गौड़ीय, 2. पांचाली,3. वैदर्भी। राजशेखर ने वचन विन्यास को ही पद रचना माना है।

(4) भोज - भोज ने रीतियों की संख्या 6 कहा है। इन 6 रीतियों के नाम भोज के अनुसार 1. वैदर्भी, 2, गौड़ीय 3. पांचाली, 4. लाटिया, 5 आवन्तिका और 6. मागधी है।

(5) रुद्रट - रुद्रट का मानना था कि जिस प्रकार की रस की आवश्यकता रहेगी उसी प्रकार के रीति का चुनाव करना उचित होगा। उन्होंने पदों की समस्तता और असमस्तता के आधार पर रीति का वर्गीकरण किया। जैसे- समासहीन पद रचना को उन्होंने वैदर्भी कहा, समासयुक्त पद रचना को गौड़ीय नाम प्रदान किया, लघु समासयुक्त का नाम पांचाली रखा और मध्य समासा लाटिया कहलाई। रुद्रट ने वैदर्भी को श्रेष्ठ रीति माना।

(6) कुंतक - कुंतक ने रीति को 'मार्ग' नाम प्रदान करते हुए इसे सुकुमार, मध्यम और विचित्र टिन भागों में विभाजित किया है और इसका संबंध कवि-स्वभाव से स्थापित किया है। कुंतक के अनुसार, रीति किसी प्रदेश विशेष के गुण या विशिष्ट रीति रिवाज पर निर्भर न होकर कवि विशेष की शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पर निर्भर करती है। उन्होंने रीति

को उत्तम, मध्यम और अधम में भी विभाजित नहीं किया है क्योंकि उनके अनुसार उत्तम काव्य ही केवल पाठक और श्रोता को आनंदित कर सकता है रीति को फिर से मध्यम और अधम में बाँटने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। अपने विभाजन को स्पष्ट करते हुए कुंतक ने कहा है, सुकुमार मार्ग में कवि जिस वस्तु को लेकर काव्य की जा रही है उसके सहज स्वभाव से प्रभावित होता है, मध्यम मार्ग में वक्रोक्ति वैचित्र्य को अधिक महत्व मिलता है और विचित्र मार्ग में कविता कला को अलंकृत किया जाता है। कुंतक ने विचित्र मार्ग को श्रेष्ठ मार्ग माना है क्योंकि यह मार्ग अधिक कौशल और परिपक्वता की माँग करता है कवि से।

(7) वामन - रीति सिद्धांत के जनक वामन ने रीति को 3 भागों में विभाजित किया है। 1. वैदर्भी, 2. गौड़ीय, 3. पांचाली।

1. वैदर्भी - वामन ने कहा-'समग्र गुणाः वैदर्भी'। विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा, ओज, प्रसाद आदि समस्त गुणों से युक्त और दोष की मात्र से रहित वीणा के शब्द के समान मनोहारिणी वैदर्भी रीति कहलाती है। सिद्धहस्त कवि के पास चाहे कितनी भी सुंदर, चमत्कारपूर्ण शब्द और अर्थ क्यों न हो जब तक वह वैदर्भी रीति को नहीं अपनाता उसकी वाणी अमृतमयी नहीं बन पाती।
2. गौड़ीय - वामन ने कहा- 'ओजः कांतिमती गौड़ीया'। अर्थात्, ओज और कान्ति से परिपूर्ण रचना गौड़ीय रीति कहलाती है।
3. पांचाली - वामन ने कहा- 'माधुर्यसौकुमार्यौपपन्ना पांचाली''। अर्थात्, माधुर्य और सुकुमार गुणों से युक्त रचना पांचाली कहलाती है।

वामन ने समस्त काव्य को तीन रीतियों में समाहित कर दिया और वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए कहा कि कवि केवल वैदर्भी का ही अभ्यास करना चाहिए क्योंकि जैसे बुनकर यदि जूट पर बुनाई का अभ्यास करता है तो वह रेशम की बुनाई की कुशलता नहीं प्राप्त कर सकता है। ऐसा कहते हुए उन्होंने वैदर्भी की तुलना रेशम के साथ की है। क्योंकि वैदर्भी सबसे अधिक गरिमायुक्त है। गौड़ीय में शब्दाडंबर अधिक होता है और पांचाली में वाग्विस्तार।

वामन ने 'रीति' को भौगोलिक बंधन से मुक्त कराया। उनके अनुसार, रीति का संबंध देश-विदेश के कवियों के लेखन प्रणाली से नहीं अपितु गुणों के समावेश से है। वस्तुतः वामन प्रतिपादित 'रीति' एक प्रकार की शैली नहीं, अपितु न्यूनाधिक निश्चित रूढ़ काव्य गुणों के संयोग से उत्पन्न काव्य-सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है।

'रीति' के इतने भेद जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें से मुख्यतः 3 वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली इन तीनों को ही बाद के आचार्यों ने मान्यता प्रदान की है। यहाँ ध्यान देनेवाली बात यह है कि बाद के समय में इन्हें वृत्ति मानते हुए उपनागरिका, परुषा और कोमलता नाम से भी इनकी व्याख्या की गई है।

बोध प्रश्न

- भरत ने नाटयशास्त्र में 'रीति' शब्द के लिए किस शब्द का प्रयोग किया है?

- भोज ने रीति को कितने भागों में बाँटा है?
- वामन ने किस रीति को सर्वश्रेष्ठ माना है?

4.3.3 रीति का अन्य संप्रदायों के साथ संबंध-

(1) रीति और शैली - रीति और शैली को समानार्थक मान लिया जाता है लेकिन इनमें बहुत अंतर है। रीति शब्द पद-रचना की पहचान होने के कारण इसका पद्धति, परंपरा, ढंग, तरीका, रिवाज आदि अर्थों के साथ भी संबंध है। जबकि शैली शब्द 'शील' से बना है। 'शील' का संबंध स्वभाव से है। स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति का अलग होता है। रीति में जहाँ परंपरा को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है वहीं शैली में कवि के व्यक्तित्व को प्रमुखता मिलती है। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को 'style' कहकर इसमें कवि के व्यक्तित्व की महत्ता को रेखांकित किया है। इसे कवि का आत्मतत्व (style is the man) भी माना जा सकता है।

(2) रीति और अलंकार – रीति और अलंकार दोनों ही काव्य के लिए आवश्यक है यह सभी विद्वान मानते हैं। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना लेकिन बाद के विद्वानों ने उसे केवल रस उत्पत्ति का साधन माना। सौन्दर्य को काव्य का अंतिम प्रमाण मानते हुए, सौन्दर्य, को सावधानीपूर्वक किया गया पद-विन्यास माना गया जो उन तथाकथित साहित्यिक गुणों को नहीं अपनाता जो दोषपूर्ण हैं और अलंकार को सौन्दर्य का उत्कर्षक साधन मानते हुए भी उसकी अनिवार्यता पर बल नहीं देता। विद्वानों ने अलंकार को काव्य की बाहरी शोभा माना। अलंकार सिद्धांत से रीति सिद्धांत कई दृष्टियों से आगे है। रीति सिद्धांत में अलंकार सिद्धांत की अपेक्षा की अपेक्षा स्पष्टता अधिक है और इसमें दार्शनिक तत्वों को भी अधिक महत्व प्रदान किया गया है। रीति आचार्यों ने सबसे पहले इस बात की खोज की थी कि काव्य में चमत्कार उत्पन्न करनेवाले तत्व कौन से हैं?

(3) रीति और रस – वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर रस के महत्व को कम कर दिया था लेकिन वामन के बाद सभी आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा माना। वामन ने नाटक को काव्य की सर्वोत्तम विधा माना और नाटक में रस का महत्व प्रारंभ से ही स्वीकृत है। अतः रस के महत्व का अनुभव कर वामन ने उसे काव्य का एक आवश्यक मान लिया, लेकिन उसका विवेचन गुण के अंतर्गत ही किया। रीतिवादी आचार्य गुण की महत्ता स्वीकार करते हैं और गुण रस का ही धर्म है। इसी कारण से विद्वानों ने रीति को रस पर आश्रित माना है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, 'सुंदर शरीर रचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्षवर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है।

(4) रीति और ध्वनि - वामन ने ध्वनि को अपने काव्य सिद्धांत में समाहित नहीं किया है। जिस कारण से दोनों में विषमता दिखाई पड़ती है लेकिन रीति गुण पर निर्भर करती है और गुण ध्वनि के अंतर्निहित विशेषताओं के कारण महत्व पाती है।

(5) रीति और वक्रोक्ति - कुंतक रीति का समाहार वक्रोक्ति में करते दिखाई देते हैं। वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में स्थान प्रदान किया है। डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार, 'वस्तुतः वक्रोक्ति का धरातल रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वक्रोक्ति कवि-स्वभाव को मूर्धन्य स्थान प्रदान करती है, जबकि रीति में काव्य सर्वस्व मानकर व्यक्तित्व की लगभग उपेक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त, वक्रोक्ति में, प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता की भी व्यवस्था है, जबकि रीति में वक्रोक्ति के केवल 4 आरंभिक प्रकार आ पाते हैं- वर्णविन्यास वक्रता, पदपूर्वाद्ध वक्रता, पदपरार्द्ध और वचनक्रता। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, 'वक्रोक्ति वास्तव में काव्य-कला की समानार्थी है और रीति काव्य शिल्प की। इस प्रकार वामन की रीति वक्रोक्ति का एक अंग मात्र रह जाती है। इन दोनों सिद्धांतों के अंतर का सार यही है।

बोध प्रश्न

- पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को कौन सा नाम दिया है?
- विद्वानों ने अलंकार को क्या माना है?

4.4 : पाठ सार

प्रस्तुत इकाई को पढ़ते हुए आपने जाना कि संस्कृत बहुत समय तक भारत की जनभाषा और साहित्य की भी भाषा रही। इसके बाद पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के बाद जब हिन्दी समीक्षकों और आलोचकों ने संस्कृत को हिन्दी की माता मानकर हिन्दी काव्यशास्त्रिय नियमों को बनाने में संस्कृत के नियमों का ही सहारा लिया। इसी कारण से भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन को दो भागों में बाँटा जा सकता है- 1. संस्कृत काव्यशास्त्र और 2. हिन्दी काव्यशास्त्र। आपने ने यह भी पढ़ा कि संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है- अ) प्रवर्तन काल – ई.पू. से 500 ईस्वी तक

आ) प्रतिपादन काल- 500 ईस्वी से 1100 ईस्वी तक

इ)व्याख्या काल- 1100 ईस्वी से 1600 तक

ई) भाषा काल-1600 ईस्वी से अब तक

हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की रचना रीतिकाल के समय से प्रारंभ हुआ। अर्थात, 1700 से हिन्दी में लक्षण ग्रंथों को लिखने की परंपरा प्रारंभ हुई। लेकिन यहाँ ध्यान रखनेवाली बात यह है कि सूरदास रचित 'साहित्यलहरी' को अगर हिन्दी काव्यशास्त्र की पहली पुस्तक कहा जाए तो गलत नहीं होगा क्योंकि इसमें काव्य लक्षणों का वर्णन किया गया है लेकिन इस पुस्तक की कमी यह है कि इस पुस्तक में लक्षणों का काव्यमय वर्णन एवं उद्धरण लिखा गया है लेकिन उनकी व्याख्या नहीं किया गया है। काव्य रचना क्यों किया जाए? इस प्रश्न पर बहुत अधिक विचार विमर्श भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत किया गया है। प्रेमचंद के अनुसार, "साहित्य का उद्देश्य हमारा मनोरंजन करना नहीं है। यह काम तो भाटों, मदारियों, विदुषकों और मसखरों का है। साहित्यकार का पद इनसे बहुत ऊंचा। यह हमारे विवेक को जागरूक करता है, हमारी आत्म को तेजोदीप्त बनाता है"।

आपने यह भी पढ़ा कि भारतीय काव्यशास्त्र में 6 प्रमुख काव्य संप्रदायों को "काव्य की आत्मा" कहा गया है। इन 6 संप्रदायों के नाम हैं –

1. अलंकार संप्रदाय
2. रस संप्रदाय
3. रीति संप्रदाय
4. वक्रोक्ति संप्रदाय
5. ध्वनि संप्रदाय
6. औचित्य संप्रदाय

मूल पाठ का अध्ययन करते हुए आपने यह जाना कि रीति शब्द की उत्पत्ति - रीति शब्द की उत्पत्ति कहाँ हुई जब इस विषय में चर्चा होती है तो हम पाते हैं कि रीति संस्कृत की "रीङ" धातु से बना हुआ शब्द है जिसका अर्थ है - गति, चलन, मार्ग, पथ, शैली, ढंग, कार्यावधि आदि। "सरस्वतीकंठाभरण" के रचयिता भोजदेव ने रीति शब्द की उत्पत्ति के विषय में यह लिखा है कि

"वैदर्भादिकृतः पंथा काव्यमार्ग इति स्मृतः।
रीङ गतवितिधातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते"

भोजदेव से पहले भामह, दंडी आदि आचार्यों ने रीति के लिए "काव्य मार्ग" अथवा गिरा मार्ग आदि शब्दों का प्रयोग किया था। काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रीति के लिए "कृति –प्रकृति" शब्द का प्रयोग किया था।

रीति संप्रदाय के जन्मदाता के रूप में वामन का नाम लिया जाता है। रीति सिद्धांत 'रीति' को को काव्य के प्रमुख अंग के रूप में स्थापित करने का सबसे पहला प्रयास है। इस सिद्धांत ने ही सबसे पहले गुण और अलंकार के बीच के भेद को स्पष्ट रूप में दिखलाया। एक ओर वामन ने अलंकार को विस्तृत अर्थ में स्वीकार करते हुए 'सौंदर्यमलंकार' अर्थात्, सौन्दर्य को ही अलंकार कहा तो दूसरी ओर "रीति" को काव्य के विशिष्ट तत्व के रूप में प्रतिपादित करते हुए वामन ने कहा है – "विशिष्टा पद रचना रीतिः"। इसका अर्थ यह है कि रीति सामान्य पद रचना न होकर विशिष्ट पद रचना है और यह "विशेष" क्या है इसका विश्लेषण करते हुए आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा है – "विशेषो गुणात्मा। रीतिरात्मा काव्यस्य"।अर्थात गुण रीति का सर्वस्व है और गुणों से युक्त रीति ही काव्य की आत्मा है। ध्यान देनेवाली बात यह है कि आचार्य वामन ने 'गुणों' को विशेष महत्व प्रदान किया है। उनके अनुसार 'गुण' काव्य के महत्वपूर्ण अंग हैं 'गुण' के बिना काव्य की कल्पना असंभव है। 'गुणों' को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हुए ही उन्होंने लिखा है कि 'काव्य शोभायाः कर्तारौ धर्माः गुणाः'। इसी कारण से 'रीति संप्रदाय' को 'गुण संप्रदाय' भी कहा जाता है। डॉ. कृष्णदेव झारी ने आचार्य वामन की परिभाषा को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है, "उनके अनुसार पद रचना की विशिष्टता का आधार गुण है – विशेषोगुणात्मा। विशेष गुणों के प्रयोग से पद रचना (रीति शैली) में विशिष्टता आती है। गुणों को वामन ने काव्य शोभा का कारक कहा है"। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है

कि रीति का विकास भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत किस प्रकार से हुआ है? इस प्रश्न पर विस्तार से विश्लेषण करते हुए आप सबने यह जाना कि आचार्य वामन की रचना "काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' की रचना 860 ई. में हुई थी। इस समय तक काव्य को अकाव्य से भिन्न करनेवाले 3 तत्वों की पहचान हुई थी –

1. रस तत्व
2. अलंकार तत्व
3. गुण तत्व

कश्मीरी विद्वान वामन, संस्कृत काव्य के विकसित रूप की अंतिम और नष्ट हो रही संस्कृत काव्य की प्रथम अवस्था का कवि है। इन्होंने अपने समय के दो कवियों का उल्लेख किया है। पहला- अरोचकी और दूसरा सतृणाभ्यवहारी। अरोचकी विवेकशील होते हैं, लेकिन इनकी रुचि किसी कारणवश नष्ट हो जाती है। वामन ने अपना ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' इन्हीं अरोचक शिष्यों के लिए लिखा और उन्हीं को दिशा निर्देश देने के लिए 'शब्द-शुद्धि' जैसे पाठों की रचना की। यहीं से 'रीति सिद्धांत' का जन्म हुआ। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बताया यह तो ठीक है लेकिन वे रीति को किसी संप्रदाय के आविष्कारक के रूप में स्थापित नहीं कर सके। वामन के कारण से रीति सिद्धांत तो बनें लेकिन रीति पूर्णतया संप्रदाय नहीं बन सका क्योंकि कोई भी सिद्धांत संप्रदाय तब तक नहीं बनता जब तक उसके बहुत अधिक अनुयायी नहीं बनते लेकिन वामन के बाद किसी भी आचार्य ने काव्य को रीति की आत्मा स्वीकार नहीं किया। जिस कारण से रीति केवल काव्य रचना का नियम बनकर ही रह गई।

अध्ययन करते हुए आप सबने यह जाना कि ऋग्वेद में 'रीति' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। जैसे-

3. 'महीव रीतिः शवसारत् पृथकः'।

यहाँ 'रीति' शब्द का प्रयोग 'धारा' के अर्थ में हुआ है।

4. 'तामस्य रीतिः परशोरिव

यहाँ रीति शब्द का प्रयोग 'स्वभाव या गति' के अर्थ में हुआ है।

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत रीति के प्रकारों पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। अध्ययन करते हुए आपने यह जाना कि समय-समय पर विद्वानों ने 'रीति' को दूसरे नामों से सुशोभित करने के साथ ही साथ उसे अनेक भागों में विभाजित भी किया है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'रीति' शब्द के लिए 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने भारतवर्ष में प्रचलित 4 प्रकृतियों- आवंती, दक्षिणात्य, पांचाली, और औढमागधी का वर्णन किया है जो क्रमशः 1.पश्चिम, 2. दक्षिण 3. मध्यप्रदेश तथा 4. उड़ीसा -मगध में प्रचलित थी। आनंदवर्धन ने 'रीति' को 'संघटना' नाम प्रदान किया और उसे रस, ध्वनि आदि काव्य के आधारभूत तत्वों का उपकारक स्वीकार किया है। 'संघटना' से इनका अर्थ है 'सम्यक घटना'। वे 'संघटना को संपूर्ण सौन्दर्य का साधन मानते हैं। उनके अनुसार पद रचना तब सार्थक बनता है जब वह गुण के आश्रय में न रहकर रस को भी अभिव्यक्त कर सके। वामन की 'रीति' एक स्वतंत्र अवधारणा है जबकि आनंदवर्द्धन की

संघटना रस पर आश्रित है। राजशेखर ने रीति के साथ ही साथ प्रवृत्ति एवं वृत्ति का भी निरूपण किया। इन्होंने रीति को 3 भागों में बाँटा- 1. गौड़ीय, 2. पांचाली,3. वैदर्भी। राजशेखर ने वचन विन्यास को ही पद रचना माना है। भोज ने रीतियों की संख्या 6 कहा है। इन 6 रीतियों के नाम भोज के अनुसार 1. वैदर्भी, 2, गौड़ीय 3. पांचाली, 4. लाटिया, 5 आवन्तिका और 6. मागधी है। रुद्रट का मानना था कि जिस प्रकार की रस की आवश्यकता रहेगी उसी प्रकार के रीति का चुनाव करना उचित होगा। उन्होंने पदों की समस्तता और असमस्तता के आधार पर रीति का वर्गीकरण किया। जैसे- समासहीन पद रचना को उन्होंने वैदर्भी कहा, समासयुक्त पद रचना को गौड़ीय नाम प्रदान किया, लघु समासयुक्त का नाम पांचाली रखा और मध्य समासा लाटिया कहलाई। रुद्रट ने वैदर्भी को श्रेष्ठ रीति माना। कुंतक ने रीति को 'मार्ग' नाम प्रदान करते हुए इसे सुकुमार, मध्यम और विचित्र टिन भागों में विभाजित किया है और इसका संबंध कवि-स्वभाव से स्थापित किया है। कुंतक के अनुसार, रीति किसी प्रदेश विशेष के गुण या विशिष्ठ रीति रिवाज पर निर्भर न होकर कवि विशेष की शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पर निर्भर करती है। वामन ने कहा-'समग्र गुणाः वैदर्भी'। विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा, ओज, प्रसाद आदि समस्त गुणों से युक्त और दोष की मात्र से रहित वीणा के शब्द के समान मनोहारिणी वैदर्भी रीति कहलाती है। सिद्धहस्त कवि के पास चाहे कितनी भी सुंदर, चमत्कारपूर्ण शब्द और अर्थ क्यों न हो जब तक वह वैदर्भी रीति को नहीं अपनाता उसकी वाणी अमृतमयी नहीं बन पाती। वामन ने कहा- 'ओजः कांतिमती गौड़ीया'। अर्थात्, ओज और कान्ति से परिपूर्ण रचना गौड़ीय रीति कहलाती है। वामन ने कहा- 'माधुर्यसौकुमार्यौपपन्ना पांचाली''। अर्थात्, माधुर्य और सुकुमार गुणों से युक्त रचना पांचाली कहलाती है। वामन ने समस्त काव्य को तीन रीतियों में समाहित कर दिया और वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए कहा कि कवि केवल वैदर्भी का ही अभ्यास करना चाहिए क्योंकि जैसे बुनकर यदि जूट पर बुनाई का अभ्यास करता है तो वह रेशम की बुनाई की कुशलता नहीं प्राप्त कर सकता है। ऐसा कहते हुए उन्होंने वैदर्भी की तुलना रेशम के साथ की है। क्योंकि वैदर्भी सबसे अधिक गरिमायुक्त है। गौड़ीय में शब्दाडंबर अधिक होता है और पांचाली में वाग्विस्तार।

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत रीति का अन्य संप्रदायों के साथ किस प्रकार का संबंध है इस विषय पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। आपने यह जाना है कि रीति और शैली को समानार्थक मान लिया जाता है लेकिन इनमें बहुत अंतर है। रीति शब्द पद-रचना की पहचान होने के कारण इसका पद्धति, परंपरा, ढंग, तरीका, रिवाज आदि अर्थों के साथ भी संबंध है। जबकि शैली शब्द 'शील' से बना है। 'शील' का संबंध स्वभाव से है। स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति का अलग होता है। रीति में जहाँ परंपरा को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है वहीं शैली में कवि के व्यक्तित्व को प्रमुखता मिलती है। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को 'style' कहकर इसमें कवि के व्यक्तित्व की महत्ता को रेखांकित किया है। इसे कवि का आत्मतत्व (style is the man) भी माना जा सकता है। रीति और अलंकार दोनों ही काव्य के लिए आवश्यक है यह सभी विद्वान मानते हैं। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना लेकिन बाद के विद्वानों ने उसे केवल रस

उत्पत्ति का साधन माना। ठीक उसी प्रकार से विद्वानों ने अलंकार को काव्य की बाहरी शोभा माना। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर रस के महत्व को कम कर दिया था लेकिन वामन के बाद सभी आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा माना। रीतिवादी आचार्य गुण की महत्ता स्वीकार करते हैं और गुण रस का ही धर्म है। इसी कारण से विद्वानों ने रीति को रस पर आश्रित माना है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, 'सुंदर शरीर रचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है। वामन ने ध्वनि को अपने काव्य सिद्धांत में समाहित नहीं किया है। जिस कारण से दोनों में विषमता दिखाई पड़ती है लेकिन रीति गुण पर निर्भर करती है और गुण ध्वनि के अंतर्निहित विशेषताओं के कारण महत्व पाती है। कुंतक रीति का समाहार वक्रोक्ति में करते दिखाई देते हैं। डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार, 'वस्तुतः वक्रोक्ति का धरातल रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वक्रोक्ति कवि-स्वभाव को मूर्धन्य स्थान प्रदान करती है, जबकि रीति में काव्य सर्वस्व मानकर व्यक्तित्व की लगभग उपेक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त, वक्रोक्ति में, प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता की भी व्यवस्था है, जबकि रीति में वक्रोक्ति के केवल 4 आरंभिक प्रकार आ पाते हैं- वर्णविन्यास वक्रता, पदपूर्वाद्ध वक्रता, पदपरार्द्ध और वचनवक्रता। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, 'वक्रोक्ति वास्तव में काव्य-कला की समानार्थी है और रीति काव्य शिल्प की। इस प्रकार वामन की रीति वक्रोक्ति का एक अंग मात्र रह जाती है। इन दोनों सिद्धांतों के अंतर का सार यही है।

4.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

प्रस्तुत इकाई 'रीति' को पढ़ने के बाद अब आप जान गये हैं कि-

1. भारतीय काव्यशास्त्र कितने भागों में विभाजित है।
2. रीति का उद्भव और विकास कैसे हुआ है।
3. रीति को किन-किन विद्वानों ने किस-किस प्रकार से विभाजित किया है।
4. रीति का अन्य संप्रदायों के साथ कैसा संबंध है।

4.6 : शब्द संपदा

1.	वर्णविन्यास -	वर्णों का एक-दूसरे के साथ सही प्रकार से जुड़ा रहना। अर्थात, सार्थक अर्थ प्रदान करना।
2.	मूर्धन्य -	महत्वपूर्ण
3.	पदपरार्द्ध -	बाद का पद
4.	वचनवक्रता -	शब्दों का टेढ़ापन
5.	रेखांकित -	underlined
6.	विवेकशील -	बुद्धिमान
7.	विशिष्टता -	मुख्यतः
8.	उद्भव -	जन्म
9.	संप्रदाय -	शाखा

10. समानार्थी - समान
11. वाग्विस्तार – साधारण बात को कहने के लिए भी कठिन-जटिल शब्दों का प्रयोग करना।
12. व्यक्तित्व - personality
13. उत्पत्ति – जन्म
14. सिद्धांत – नियम

4.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

(अ) दीर्घ प्रश्नों के उत्तर (500 शब्द)

1. रीति के स्वरूप के बारे में विस्तार से लिखिए।
2. रीति के प्रकार पर विस्तार से लिखिए।

खंड (ब)

(आ) लघु प्रश्न उत्तर (200 शब्द)

1. रीति और शैली के बीच में क्या संबंध है?
2. रीति और अलंकार का संबंध बताइए।
3. वामन ने रीति को कितने भागों में विभाजित किया है?

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए

1. वामन किस प्रदेश के विद्वान हैं? ( )
   अ) इटावा आ) कश्मीर इ) इलाहाबाद ई) बनारस
2. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति के रचीयता कौन है? ( )
   अ) कुंतक आ) मम्मट इ) वामन ई) इनमें से कोई नहीं
3. वामन ने रीति को कितने भागों में बाँटा? ( )
   अ) 2 आ) 4 इ) 3 ई) 1
4. style का हिन्दी नाम क्या है? ( )
   अ) शैली आ) गुण इ) रूप ई) काव्य

II. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

1. मम्मट ने रीति को ---------- नाम प्रदान किया।
2. माधुर्य और सुकुमार गुणों से युक्त रीति ---------- कहलाती है।
3. सबसे अधिक शुद्ध रीति ---------- रीति कहलाती है।

III. सुमेल कीजिए।

1. अलंकार संप्रदाय	(अ) आचार्य भरतमुनि
2. रस संप्रदाय	(आ) आचार्य वामन
3. रीति संप्रदाय	(इ) आचार्य भामह
4. वक्रोक्ति संप्रदाय	(ई) क्षेमेन्द्र
5. ध्वनि संप्रदाय	(उ) आचार्य कुंतक
6. औचित्य संप्रदाय	(ऊ) आचार्य आनंदवर्धन

4.8 पठनीय पुस्तकें

1. भारतीय काव्यशास्त्र – निशा अग्रवाल
2. भारतीय काव्यशास्त्र – सच्चिदानन्द चतुर्वेदी
3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव

इकाई 5: ध्वनि संप्रदाय

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 मूल पाठ : ध्वनि संप्रदाय

5.3.1 ध्वनि की परिभाषा

5.3.2 शब्द शक्तियां

5.3.3 ध्वनि का अस्तित्व

5.3.4 काव्य का अधिवास

5.3.5 ध्वनि के भेद

5.3.6. लक्षणामूला ध्वनि

5.3.7.ध्वनि –संप्रदाय का महत्त्व

5.4 पाठ सार

5.5 पाठ की उपलब्धियाँ

5.6 शब्द संपदा

5.7 परीक्षार्थ प्रश्न

5.8 पठनीय पुस्तकें

5.1 : प्रस्तावना

साहित्य को वांग्मय कहा जाता है। काव्य को आचार्य भामह ने **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** कहते हुए परिभाषित किया है। मनुष्य की इन्द्रियों के आधार पर काव्य के रसास्वादन के अनुकरण पर इसे दो भागों में बाँटा गया है- दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने प्रबंध काव्य तथा मुक्तक काव्य के रूप में काव्य के दो भेद किए हैं। प्रबंध काव्य के भी दो उपभेद हैं, जिन्हें महाकाव्य तथा खंड काव्य के रूप में विभाजित किया गया है। मुक्तक काव्य के पाठ मुक्तक तथा गेय मुक्तक उपभेद किए गए हैं। काव्य के लक्षण को आचार्य आनंदवर्धन ने विवेचित करते हुए आचार्य भामह के '**शब्दार्थो सहितौ काव्यं'** को ही स्वीकृति दी है। शब्द शक्तियों के आधार पर ध्वनिवाद को काव्य की आत्मा के रूप में आचार्य आनंदवर्धन ने प्रतिपादित किया था। पद रचना और मनःस्थितियों की संगति को **'विशिष्ट गुणात्मा'** कहकर रीतिवादी आचार्य वामन ने प्रतिपादित किया है। ध्वनि सिध्दांत का अर्थ है कि काव्य और कला एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अनिवार्यतः ध्वन्यात्मक होती है। इस ध्वनि को काव्यमय रूप प्रदान करने के लिए विविध विद्वानों ने काव्य की आत्मा को अपने विचारों के अनुसार बताने का प्रयत्न

किया है। इसी प्रयत्न में ध्वनि संप्रदाय का प्रतिपादन हुआ। इस संप्रदाय के प्रमुख आचार्य आनंदवर्धन हैं।

5.2 : उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के बाद आप –

- काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि संप्रदाय से परिचित हो सकेंगे।
- ध्वनि की विविध परिभाषाओं से अवगत होंगे।
- शब्द शक्तियों के माध्यम से ध्वनि संप्रदाय को समझ सकेंगे।
- ध्वनि संप्रदाय को अलंकार तथा रस से समन्वित करते हुए काव्यात्मा के रूप में समझ सकेंगे।
- ध्वनि सिध्दांत के महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।

5.3 : मूल पाठ : ध्वनि संप्रदाय

ध्वनि सिध्दांत में काव्य के लगभग समस्त तत्वों को समाविष्ट किया गया है। दूसरे शब्दों में ध्वनि सिध्दांत में व्याकरण के **'स्फोटवाद'** का स्पष्ट प्रभाव है। स्फोटवाद का अर्थ डॉ भगीरथ मिश्र के शब्दों में स्पष्टतः समझा जा सकता है, 'पूर्ववर्ती वर्णों के उच्चारण के साथ अंतिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव से अर्थ की अभिव्यक्ति स्फोट है।' अर्थात किसी शब्द के जितने भी वर्ण होते हैं उनमें से कोई एक वर्ण अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं करता वरन उस शब्द के पूर्ववर्ती वर्ण या वर्णों के उच्चारण से प्राप्त पूर्ण अनुभव के संस्कार के साथ अंतिम वर्ण के उच्चारण का अनुभव मिल जाता है तथा (सभी वर्ण के मेल से या पूरे शब्द से) अर्थ प्रकट होता है। उदाहरण के लिए 'सरस' शब्द को 'स', 'र', 'स' अलग –अलग उच्चारित करने पर कोई अर्थ नहीं निकलता है। इस प्रकार अंतिम वर्णों के साथ पूर्व उच्चरित वर्ण के संस्कार से अर्थ का प्रस्फुटन ही स्फोट कहलाता है। शब्द के अलग-अलग वर्ण अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाते, अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्द शक्ति के माध्यम से यह अर्थ व्यक्त हो पाता है। शब्दों के सामान्य अर्थ से इतर विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए व्यंजना शब्द की शक्ति का प्रयोग किया जाता है। अतः अभिधा, लक्षणा के उपरांत व्यंजना में ध्वनित होने वाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि के रूप में जाना जाता है। ध्वनि को आचार्य आनंदवर्धन '**अनुरणन**' मानते हुए कहते हैं, जिस प्रकार घंटे पर आघात करने पर प्रथमतया टंकार, तत्पश्चात झंकार की मधुरतम ध्वनि सुनाई देती है, जिसे अनुरणन कहा जाता है। इसी प्रकार जिस काव्य में व्यंग्यार्थ प्रथमतया ध्वनित हो, उसे **ध्वनि काव्य** कहा जाता है।

बोध प्रश्न:

- आचार्य आनंदवर्धन के अनुसार अनुरणन क्या है?
- स्फोटवाद का क्या अर्थ है?

5.3.1 ध्वनि की परिभाषा

ध्वनि की परिभाषा करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने लिखा है- **'जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।'** अर्थात जहाँ व्यंग्यार्थ प्रमुख हो और वाच्यार्थ गौण हो, वहाँ ध्वनि होता है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाती है कि ध्वनि को अधिक महत्त्व अभिव्यंजना सौन्दर्य के आधार पर दिया जाता है। आचार्य आनंदवर्धन ध्वनि का विवेचन करते हुए कहते हैं, ऐसा काव्य जहाँ कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम सुंदर हो तथा वह वाच्यार्थ का अंग बन जाता हो, उसे **'गुणीभूत व्यंग्य'** कहते हैं। जहाँ व्यंग्यार्थ अस्फुट रहता है, उसे **'चित्र काव्य'** कहा है। इस तरह से काव्य की तीन कोटियाँ ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य तथा चित्र काव्य आदि हैं। ध्वनि काव्य को **उत्तम काव्य** माना जाता है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य को **मध्यम काव्य** तथा चित्र काव्य को **अधम कोटि** का काव्य माना जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि संप्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य आनंदवर्धन के अनुसार 'ध्वनि-काव्य' वह विशिष्ट काव्य है जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छिपाए हुए उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, जो काव्य का परम रहस्य है। अतएव यही उत्तम काव्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सिध्दांत के सन्दर्भ में आचार्यों ने अपने विचार व्यक्त किए है। आचार्य आनंदवर्धन ने अपनी रचना **'ध्वन्यालोक'** में ध्वनि को परिभाषित करते हुए लिखा है-

'योऽर्थ सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदाबुभौ स्मृतौ-

पाश्चात्य विचारक क्रिस्टोफर कॉडवेल ने अपनी रचना 'इल्यूज़न एंड रियलिटी' में कहा है कि, **'हिंदू दर्शन ने ध्वनि अथवा शब्दों के गुप्त अर्थ की पहचान की थी और वे ध्वनि को कविता की विशिष्टता मानते थे।'**

आचार्य मम्मट के अनुसार, 'वाक्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट व्यंग्य ही विद्वानों द्वारा ध्वनि कही गई है।'

आचार्य विश्वनाथ के मत से 'वाक्यार्थ से अधिक चमत्कारक व्यंग्यार्थ ध्वनि है।'

आचार्य आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में एक स्थान पर इस बात का उल्लेख किया है कि उनसे पूर्व भी ध्वनि की परंपरा रही है। इसी बात को व्यक्त करते हुए 'ध्वन्यालोक' में एक स्थान पर वे लिखते हैं-

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरित बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः'

'ध्वन्यालोक' को चार भागों में विभाजित किया गया है। 'ध्वन्यालोक' के आरम्भ में भगवान विष्णु की आराधना करते हुए मंगलाचरण किया गया है। रचना के **प्रथम उद्योत** में ध्वनि सिध्दांत के विरोधी विचारों का खंडन किया गया है। इसके **द्वितीय उद्योत** में शब्द की अभिधा (अविवक्षितवाच्य) तथा (विवक्षितवाच्य) के विविध भेदों की विवेचना की गयी है। द्वितीय उद्योत में ही ध्वनि के गुण-दोषों का भी विश्लेषण किया गया है। **तृतीय उद्योत** में पदों, वाक्यों, पदांशों, रचना आदि के माध्यम से ध्वनि को व्याख्यायित किया गया है। तृतीय उद्योत

में ही काव्य में रस के विरोधी एवं अविरोधी उपादानों पर भी प्रकाश डाला गया है। **चतुर्थ उद्योत** में काव्य में प्रयुक्त ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य से उत्पन्न होने वाले चमत्कारों पर प्रकाश डाला गया है।

बोध प्रश्न:

- आचार्य मम्मट ने ध्वनि को किस प्रकार परिभाषित किया है?
- आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि को किस प्रकार विवेचित किया है?
- ध्वन्यालोक के अभिधानों के बारे में बताइए।

5.3.2 शब्द शक्तियां

शब्द और अर्थ के संबंध में विचार करने वाले तत्व को **शब्द शक्ति** कहते हैं। क्योंकि शब्द अर्थवान होने पर ही सार्थक होते हैं। प्रत्येक शब्द एक अथवा अनेक अर्थों का सूचक हो सकता है। शब्द के इसी अर्थ का बोध करने की प्रक्रिया को **शब्दशक्ति** कहा जाता है। 'ध्वन्यालोक' से पहले दूसरी रचनाओं के न मिलने के कारण आचार्य आनंदवर्धन को ही ध्वनि परंपरा के प्रतिपादक का स्थान प्राप्त है। ध्वनि सिध्दांत को भलीभाति समझने के लिए सर्वप्रथम शब्द शक्तियों को समझना आवश्यक है। भाषा के अर्थ को जिन ध्वनियों के माध्यम से समझा जाता है, उसे शब्द की शक्ति कहा जाता है। शब्द की इन शक्तियों को विविध विद्वानों ने अलग-अलग रूप में बताया है। विद्वानों द्वारा अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य, रसना, भावना तथा भोग आदि के रूप में इसकी विवेचना की गयी है। इनमें अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का संबंध शब्द की तीन प्रमुख शक्तियों से है। तात्पर्य का सम्बन्ध वाक्य से है तथा रसना, भावन तथा भोग शब्द के अर्थ के रसास्वादन में सहयोगी होती हैं। ध्वनि संप्रदाय के सन्दर्भ में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना को निम्नलिखित बिन्दुओं में समझा जा सकता है।

बोध प्रश्न:

- शब्दशक्ति से आप क्या समझाते हैं?
- ध्वनि से शब्द्शक्तियों का क्या संबंध है?

5.3.2.1 अभिधा

शब्द के जिस रूप से किसी शब्द का सीधा अर्थ समझा जाता है, उसे **अभिधा शब्द शक्ति** कहा जाता है। अभिधा शब्दशक्ति द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है, उसे **वाच्यार्थ** कहा जाता है। यथा –मकान, कुर्सी, मोर, बत्तख तथा मनुष्य आदि शब्दों के उच्चारण मात्र से सुनने वाले को अर्थ का बोध हो जाता है। अभिधा शब्द शक्ति के मुख्यतः तीन भेद होते हैं- रूढ़ि, योग एवं योगरूढ़ि। जो शब्द समुदाय के अर्थ के बोधक होते हैं, उन्हें **रूढ़ि शब्द** कहा जाता है। रूढ़ि शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं होती है। रूढ़ि शब्द अखंड होते हैं, जैसे पर्वत, पशु, सूर्य आदि।

योगात्मक शब्द के अर्थ को समझने के लिए उनके अवयवों की जानकारी आवश्यक होती है। इन शब्दों की व्युत्पत्ति होती है। अगरू, नरपति, सुधांशु आदि।

योगरूढ़ि शब्द में शब्द यौगिक होने पर भी अपने अर्थ के स्तर पर रूढ़ होते हैं। 'जलज' का अर्थ है जिसका जन्म जल में हो वह जलज है, लेकिन इसे रूढ़ अर्थ में कमल के लिए लिया जाता है। भारतीय **नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य** ने शब्दों का अर्थ ईश्वर द्वारा निश्चित किया जाना मानते हैं। किन्तु अद्यतन समाज ईश्वरीय अस्तित्व पर प्रश्न उठा रहा है, तो भट्टाचार्य के मत का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। पाश्चात्य विचारधारा में विकासवादियों के अनुसार मानव जाति के विकास के साथ ही भाषा का भी स्वतः विकास होने लगा। यद्यपि अभिधा शब्द के विकास के अन्य कारण भी हो सकते हैं, किन्तु विकासवादियों के मत इस सन्दर्भ में अधिक सटीक है। अभिधावादी मत के अंतर्गत पाँच वर्ग हैं, जो निम्नतः हैं :

1) अभिहितान्वयवादी 2) अन्विताभिधानवादी 3) निमित्तवादी
4) दीर्घतराभिधाव्यापारवादी
5) तात्पर्यवादी

अभिहितान्वयवादी का मानना है कि काव्य में प्रयोग किए जाने वाले शब्द सबसे पहले अपने अभिधेय अर्थ को ध्वनित करते हैं। उसके बाद पूरे वाक्य का अर्थ प्रकट होता है, जिसे तात्पर्यार्थ कहा जाता है। व्यंग्यार्थ को ही तात्पर्यार्थ के रूप में जाना जाता है। **अन्विताभिधानवादी** कहते हैं कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अलग न होकर शब्दों के अन्वय से प्रकट होते हैं। **निमित्तवादी** प्रतीयमान अर्थ के निमित्त शब्द का अस्तित्व मानते हैं। **दीर्घतराभिधाव्यापारवादी** का कहना है कि किसी भी शब्द और वाक्य से जितने भी अर्थ प्रतीत होते हैं, उन सभी में अभिधा शक्ति ही प्रमुख होती है। अभिधा शब्द शक्ति किसी एक ही अर्थ को प्रकट करने के बाद भी अन्य अर्थों की प्रतीति कराती रहती है। इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है, जब शरीर में तीर कवच भेद कर हृदय में घुसता है तो वह प्राण ले लेता है। तीर का कवच भेदना, हृदय में घुसना और प्राण लेना आदि तीनों कार्य एक तीर से ही होता है।

बोध प्रश्न:

- अभिधावादी मत के कितने वर्ग होते हैं?
- शब्दों का अर्थ ईश्वर द्वारा निश्चित किया जाना किस विद्वान् ने बताया है?

5.3.2.2 लक्षणा

लाक्षणिक अर्थ को व्यक्त करने वाली शब्द शक्ति को **लक्षणा** कहा जाता है। अर्थात किसी शब्द के मुख्यार्थ में बाधा होने पर अथवा किसी विशेष उद्देश्य के कारण मुख्य अर्थ के बजाय अन्य अर्थ को लक्षित करे, वहाँ लक्षणा शब्द की शक्ति होती है। लक्षणा शब्द शक्ति के भिन्न लक्षण हैं, जो इस प्रकार हैं –

5.3.2.2.1 मुख्यार्थ की बाधा

मुख्यार्थ का अर्थ है वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ। जहाँ लक्षणा शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ शब्द का अर्थ अभिधा की तरह नहीं लागू होता है। जैसे- 'वह उल्लू है' किसी के लिए कहा जाय तो इसका सीधा अर्थ उल्लू न होकर मूर्खता के अर्थ में ध्वनित होगा।

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा शब्दशक्ति **रूढ़ि लक्षणा** तथा **प्रयोजनवती लक्षणा** के रूप में जानी जाती है। जिस वाक्य से प्रचलित परंपरा के अनुसार लक्ष्यार्थ का बोध होता है उसे **रूढ़िलक्षणा शब्द शक्ति** कहते हैं। जैसे- 'लड़का चौकन्ना है' वाक्य में चौकन्ना शब्द का अर्थ चार कान न होकर रूढ़ अर्थ में सतर्क का परिचायक है।

प्रयोजनवती लक्षणा में किसी विशेष प्रयोजन के आधार पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है। 'गंगा में आभीरों की बस्ती' वाक्य का अर्थ गंगा नदी के अंदर नहीं बल्कि गंगा के तट पर आभीरों की बस्ती होगा, जो एक परम्परागत अर्थ को ध्वनित करता है।

रूढ़ि लक्षणा तथा प्रयोजनवती लक्षणा के पुनः दो भेद किए गए हैं, शुध्दा तथा गौणी रूढ़ि। जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्यता न हो, वहाँ **शुध्दारूढ़ि लक्षणा** होता है, जैसे-'वीर पंजाब है जाग उठा'। इस वाक्य में पंजाब शब्द प्रांत के अर्थ में नहीं बल्कि पंजाब की जनता के अर्थ में लक्षित है।

जहाँ मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का सादृश्य सम्बन्ध हो, वहाँ **गौणी रूढ़ि लक्षणा** होती है, जैसे- 'चिड़ियों से मैं बाज लडाऊँ'। इस वाक्य में बाज पक्षी के मुख्यार्थ में वीर सैनिकों से गुण सादृश्य होने से गौणी रूढ़ि लक्षणा है।

किसी विशेष प्रयोजन के आधार पर प्रतीत होने वाले लक्ष्यार्थ की मुख्यार्थ से समानता न होने पर **शुध्दा प्रयोजनवती लक्षणा** शब्द शक्ति होती है, जैसे- 'ओ! नील आवरण जगती के' वाक्य में नील आवरण आकाश को लक्षित होते हुए भी आकाश से समानता न होने के कारण शुध्दा प्रयोजनवती लक्षणा शब्दशक्ति है।

गौणी प्रयोजनवती लक्षणा के दो उपभेद **सरोपा** तथा **साध्यवसाना** के रूप में विभाजित हैं। जहाँ उपमेय से उपमान का समान सम्बन्ध हो, वहाँ सरोपा होता है।जैसे- 'महाराजा रणजीतसिंह (उपमेय) शेर (उपमान) थे' वाक्य में दोनों का अलग –अलग नाम लेकर उल्लेख किया गया है।

जिस वाक्य में उपमेय का उपमान में अध्यवसान अथवा विलीनीकरण हो वहाँ **साध्यवसाना शब्द शक्ति** होती है। 'लातों के भूत (उपमान) बातों से नहीं मानते' वाक्य में ढीठ व्यक्ति पर अध्यवसित (अवलंबित) है।

बोध प्रश्न:

- रूढ़ि लक्षणा से आप क्या समझाते हैं?
- प्रयोजनवती लक्षणा किसे कहते हैं?

5.3.2.2.2 भिन्नार्थक

लक्षणा का दूसरा लक्षण यह है कि वह भिन्न अर्थ आरोपित न होकर मुख्य शब्द से सम्बन्धित होना चाहिए। जैसे- 'उल्लू' को प्रायः मूर्ख समझा जाता है। अतः उसे मूर्ख के अर्थ में ले लिया जाता है। लक्षणा को भिन्न अर्थ में कई बार मात्र परंपरा के निर्वाह के लिए अथवा किसी विशेष उद्देश्य लिए भी प्रयुक्त किया जाता है। जैसे-'हरिजन' शब्द का परंपरागत प्रयोग किया जाता है, जबकि 'जनसेवक' विशेष प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। आचार्य महिम भट्ट ने ध्वनि के विरोध में '**व्यक्ति-विवेक**' लिखा था, जिसमें उन्होंने ध्वनि की परिभाषा, उसके भेदों का खंडन करते हुए ध्वनि शब्द के स्थान पर '**काव्यानुमिति**' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार अर्थ के मात्र दो रूप होते हैं –वाच्य तथा अनुमेय। आचार्य महिम भट्ट का कहना है कि वाच्य अर्थ से अनुमित अन्य अर्थ के लिए जिसकी अनुमिति हो, वही अनुमेय कहलाता है। ध्वनिमत में इसे ही प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है।

बोध प्रश्न:

- काव्यानुमिति किसे कहते हैं?
- व्यक्ति विवेक किसकी रचना है?

5.3.2.3 व्यंजना

जब अभिधा तथा लक्षणा वाक्यार्थ को प्रकट करने में सक्षम न हो तो व्यंजना शब्द शक्ति काव्य के गूढ़ार्थ को व्यक्त करती है। दूसरे शब्दों में अभिधा और लक्षणा शब्द शक्ति से भिन्न शब्द शक्ति को व्यंजना कहा जाता है। व्यंजना शब्द शक्ति से प्रकट होने वाले अर्थ को **व्यंग्यार्थ** तथा उस अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द को **व्यंजक** कहते हैं। व्यंजना शब्द शक्ति के दो भेद होते हैं - **शाब्दी व्यंजना** तथा **आर्थी व्यंजना**। जहाँ व्यंग्यार्थ किसी शब्द विशेष के प्रयोग पर आश्रित हो, वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है।

शाब्दी व्यंजना के दो उपभेद होते हैं-**'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना'** तथा **'लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना'**। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में अनेकार्थ शब्दों का सहयोग, साहचर्य, वियोग, विरोध, अर्थ-प्रकरण एवं लिंगादी से अर्थ नियंत्रित होते हैं. जैसे-

'सोहत नाग न मद बिना, तान बिना न राग'

उक्तवाक्य में 'नाग' तथा 'राग' एक साथ कई अर्थों का द्योतन करते हैं।

जिस वाक्य में अभिधा का बोध होने पर लक्षणा द्वारा अर्थ की प्रतीति व्यंग्यार्थ के साथ हो, वहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना होती है, जैसे-

'फली सकल मन कामना, लूट्यौ अनगिन चैन।
आजु अंचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन।।

उक्त वाक्य में 'फली'(पूर्ण), 'लूट्यौ' (प्राप्त किया) 'अंचै' (देखा) शब्द के प्रयोग से सम्पूर्ण पद का व्यंग्यार्थ प्रियतम के दर्शन से आनंद प्राप्ति का भाव प्रकट होता है।

आर्थी व्यंजना में अर्थ की सहायता से व्यंग्यार्थ का बोध होता है। जहाँ व्यंग्यार्थ किसी विशेष शब्द के बजाय अर्थ के द्वारा व्यक्त हो, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरण के लिए –

'अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

उक्त वाक्य में स्त्री की असीमित क्षमता के बावजूद उसके कष्ट में जीने के भाव प्रकट होते हैं। यहाँ 'दूध' को क्षीर 'आँखों' को नयनों कहने पर भी व्यंग्यार्थ में कोई अंतर नहीं आएगा।

डॉ भोलाशंकर व्यास कहते हैं, 'जिस प्रकार कोई वस्तु पहले से ही विद्यमान किन्तु गूढ़ वस्तु को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार यह शक्ति मुख्यार्थ के झीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर देती है।' उदाहरण के लिए बिहारीलाल का यह दोहा वाच्यार्थ से अधिक व्यंग्यार्थ को ध्वनित करता है-

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इही काल।
अली कली ही सों बंध्यो आगे कौन हवाल।।

उपर्युक्त दोहे में अलंकार की दृष्टि से अन्योक्ति है तो ध्वनिवादियों के अनुसार व्यंजना शब्द शक्ति का प्रयोग किया गया है।

शब्द शक्तियों की उक्त कल्पना भारतीय शब्दार्थ विचार की प्रमुख विशेषता है। शब्द शक्तियों की अलग-अलग स्तर पर व्याख्या की जाती है। भौतिकतावादियों के अनुसार शब्द का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है, बल्कि किसी भाव, विचार अथवा प्रत्यय से जुड़ने पर ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। जैसे- गणित में शब्द का अर्थ प्रत्येक स्थिति में एक ही होगा, जबकि साहित्य में वातावरण तथा व्यक्ति के संवेगों अथवा मानसिक द्वंद्व से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए श्रोता यदि कहता है कि, 'देखो, यह गुलाब है।' तो यहाँ वक्ता श्रोता को गुलाब देखने के लिए कहता है। वक्ता जब यहाँ आगे कहते है कि – 'कुछ गुलाब पीले हैं' तो यह वक्ता श्रोता का ज्ञानवर्धन करना चाहता है। इस उदाहरण के द्वारा यहाँ शब्द शक्तियों के सन्दर्भ में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न है कि शब्द को लिखने अथवा कहने वाले पाठक या श्रोता तक तभी अपने विचार को व्यक्त कर सकते हैं, जबकि वक्ता-श्रोता अथवा लेखक-पाठक के मध्य शब्द का अर्थ समान रूप से स्वीकृत हो।

5.3.3 ध्वनि का अस्तित्व

ध्वनि सम्प्रदाय के विरोधियों ने ध्वनि के केन्द्रीय पक्ष व्यंग्यार्थ के अस्तित्व पर भी प्रश्नचिन्ह लगा दिए थे। इन ध्वनि विरोधी पक्षों का मानना है कि व्यंजना का अभिधा से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। इन विरोधी विद्वानों का यह भी मानना है कि व्यंजना का लक्षणा से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। इन विचारकों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ यदि अनुमान से ग्रहण होता है तो ऐसी स्थिति में व्यंजना तथा ध्वनि को मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। ध्वनि का समन्वय अप्रस्तुत-प्रशंसा अथवा समासोक्ति अलंकार से किया जाता है। ध्वनि के अस्तित्व पर विचार करते हुए व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ में अंतर करते हुए इसे अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है:

क) **बोध की दृष्टि से**- वाच्यार्थ का अर्थ सभी समझने में सक्षम होते हैं, जबकि व्यंग्यार्थ को समझने में कुछ ही लोग समर्थ होते हैं।

ख) **स्वरूप-** इन दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अंतर होता है। उदाहरण के लिए किसी स्वस्थ व्यक्ति को यह कहा जाय कि 'आप बड़े पतले हो गए हो', तो इस वाक्य का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के विपरीत ही होगा।

ग) **संख्या** – वाचार्थ एक ही होता है, जबकि व्यंग्यार्थ एक से अधिक भी हो सकता है।

घ) **निमित्त** – वाच्यार्थ को सामान्य समझ वाले व्यक्ति समझ सकते हैं, जबकि व्यंग्यार्थ को समझने के लिए बुध्दि-कौशल की आवश्यकता होती है।

ङ) **काल-** वाच्यार्थ तुरंत समझ में आ जाता है, जबकि व्यंग्यार्थ को समझने के लिए थोडा समय लगता है।

च) **कार्य-** वाच्यार्थ के द्वारा मात्र किसी विषय की जानकारी प्राप्त होती है, जबकि व्यंग्यार्थ के अंतर्गत आनंद एव अर्थ चमत्कार की अनुभूति होती है।

छ) **आश्रय**- वाच्यार्थ में शब्द पर आधारित होता है, जबकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्द, वक्ता के कहने के ढंग तथा प्रसंग के अनुसार होता है।

इस प्रकार वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों के अंतर को देखते हुए इनके पृथक अस्तित्व को स्वीकारना ही उचित होगा।

बोध प्रश्न:

- ध्वनि के अस्तित्व से आप क्या समझते हैं?
- वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में मौलिक भेद कीजिए।

5.3.4 काव्य का अधिवास

ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है। अलंकारवादी आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' में काव्य में अलंकार को प्रमुख तत्व माना है। आचार्य आनंदवर्धन ने अलंकार में ध्वनि के बजाय चमत्कार प्रमुख बताया है। रीति सम्प्रदाय में गुणों की प्रधानता होती है। आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र'में तथा आचार्य विश्वनाथ ने 'कव्यदार्पण' में 'रस' को काव्य की आत्मा कहा है। आचार्य कुंतक ने अपनी कृति 'वक्रोक्ति जीवितम्' में 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा है। आचार्य क्षेमेंद्र ने अपनी कृति 'औचित्य विचार चर्चा" में औचित्य को काव्य की आत्मा कहा है।

ध्वनि सम्प्रदाय के सन्दर्भ में काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ पक्ष में है अथवा व्यंग्यार्थ पक्ष में, विद्वानों में इस बात पर भी मतभेद है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं- 'वाच्यार्थ के अयोग्य और अनुपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है- 'वाच्यार्थ में', चाहे वह योग्य हो या

उपपन्न हो अथवा योग्य और अनुपपन्न।' आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस विवेचन को भलीभाति समझने के लिए यह उदाहरण लिया जा सकता है- मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'साकेत' महाकाव्य के इस वाक्य में वाच्यार्थ के महत्त्व को अधिक स्पष्टतापूर्वक समझा जा सकता है- 'आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ। मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।'

पंडित रामदहिन मिश्र तथा डॉ नगेंद्र ने काव्यत्व का अधिवास व्यंग्यार्थ में ही माना है। डॉ नगेंद्र ने अपने मत को स्पष्ट करते हुए लिखा है –' किसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो आनंदानुभूति होती है उसके लिए उस वाक्य का कौन-सा तत्व उत्तरदायी है? उस वाक्य का वाच्यार्थ, जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार रहता है? अथवा व्यंग्यार्थ जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाव रमणीयता रहती?.....इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का संबंध रतिजन्य व्यग्रता में ही है जो व्यंग्य है।'

इस प्रकार काव्यत्व के अधिवास की उक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में से काव्यत्व का अधिवास जानना ठीक वैसा ही है जैसे यह जानना कि प्राण सर में रहता है या धड़ में? क्योंकि सर और धड़ के जुड़े रहने में ही जीव का शरीर प्राणवान रहता है, दोनों के अलग होते ही शरीर प्राणहीन हो जाता है। काव्य में भी ठीक उसी तरह से वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में समन्वित रहता है अथवा दोनों के एक-दूसरे के साथ आवृत रहने पर ही काव्य-तत्व की प्राणवत्ता बनी रहती है।

ध्वनि की परिभाषा एवं उसके लिए पाँच अर्थों के अनुसार व्यंग्यार्थ से संबंधित शब्द, अर्थ (वाच्यार्थ), व्यंग्यार्थ व्यंजना शक्ति, व्यंजित वस्तु, अलंकार रस आदि ध्वनि के रूप में ही जाने जाते हैं। ध्वनि काव्य के यदि दो तरह से अनुवाद किए जाय, जिनमें एक मात्र वाच्यार्थ अनुवाद हो और दूसरा मात्र व्यंग्यार्थ तो ऐसी स्थिति में काव्यप्रेमी को वाच्यार्थ ही अधिक रूचिकर होगा। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ पर आधारित होता है। ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। विद्वानों का मानना है कि व्यंग्यार्थ समन्वित वाच्यार्थ ही ध्वनि कहलाता है। अतः दोनों के साथ होने पर ही काव्य सौन्दर्य की वृध्दि होती है।

बोध प्रश्न:

- काव्य के अधिवास से आप क्या समझाते हैं?
- वाच्यार्थ अनुवाद क्या होता है?

5.3.5 ध्वनि के भेद

ध्वनि के मुख्यतः दो भेद किए जा सकते हैं-पहला अभिधामूला तथा दूसरा लक्षणामूला।

5.3.5.1.अभिधामूला ध्वनि

अभिधामूला ध्वनि के अंतर्गत शब्द का सीधे अर्थ ध्वनित होता है। अभिधामूला ध्वनि को भली प्रकार से समझने के लिए इसके दो उपभेद किए जा सकते हैं। पहला- **असंलक्ष्यक्रम ध्वनि** एवं दूसरा **संलक्ष्यक्रम ध्वनि**।

5.3.5.1.1. असंलक्ष्यक्रम ध्वनि :

जिस वाक्य में वाच्यार्थ के साथ-साथ व्यंग्यार्थ ध्वनित होते समय दोनों में कोई अंतर प्रतीत न हो, वहाँ असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होता है। जैसे- 'एक तो करेला दूजे नीम चढ़ा' कहने पर व्यंग्यार्थ यह है कि कुटिल स्वभाव वाले मनुष्य बुरी संगत में पड़ कर और भी अधिक कुटिल हो जाते हैं। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के छः अन्य भेद भी होते हैं, जो इस प्रकार हैं-
पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत, रचनागत तथा प्रबंधगत आदि।

5.3.5.1.2.संलक्ष्यक्रम ध्वनि: संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बोध होने का क्रम प्रतीत हो जाता है, जैसे –

'माली आवत देखि के कलियाँ करें पुकार। फूले फूले चुनि लिए कालि हमारी बार।।'

उक्त दोहे में 'माली' शब्द 'काल' या 'मृत्यु' का बोधक है, वही व्यंग्यार्थ है, यह वाच्यार्थ की अनुभूति के किंचित बाद प्रतीत होता है।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि के पंडित रामदहिन मिश्र ने अपनी रचना **'काव्य दर्पण'** में तीन भेद किए है, यथा- शब्द शक्ति-उद्भव, अर्थ शक्ति-उद्भव तथा शब्दार्थोभय शक्ति-उद्भव आदि।

बोध प्रश्न:

- ध्वनि के प्रमुख भेदों को बताइए।
- असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद बताइए।

5.3.6. लक्षणामूला ध्वनि :

लक्षणामूला ध्वनि के अंतर्गत लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है। इसके दो भेद किए जा सकते हैं-पहला, **अर्थान्तर संक्रमित वाच्य** तथा दूसरा **अत्यंत तिरस्कृत वाच्य**। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि लक्षणा में मूल वाच्यार्थ की प्रायः उपेक्षा होती है। लेकिन यह उपेक्षा भी दो स्तरों पर देखी जा सकती है। एक जहाँ थोड़ी उपेक्षा होती है और दूसरी जहाँ पूरी उपेक्षा होती है। लक्षणामूला ध्वनि के भेद इन्हीं बातों पर निर्भर करते हैं। अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य में वाच्यार्थ किंचित अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है। इसे निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है- 'राखी सजी पर कलाई नहीं है।' 'कलाई' यहाँ पर भाई के अर्थ में है। इस वाक्य में कलाई का अर्थ संक्रमित हो गया है। दूसरी ओर 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य' में वाच्यार्थ का पूर्णतः तिरस्कार कर दिया जाता है। जैसे- 'मेरे पेट में तो चूहे कूद रहे हैं।' इस वाच्य में 'चूहे' का अर्थ पूर्णतः तिरस्कृत किया गया है।

ध्वनि के भेदों में कुछ अन्य आधार को भी लिया जा सकता है, जैसे- रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा वस्तु (तथ्य अथवा विषय) ध्वनि आदि। ध्वनि संप्रदाय में इन तीनों में से रस ध्वनि को सबसे उत्तम माना जाता है।

बोध प्रश्न:

- लक्षणामूला ध्वनि से आप क्या समझते हैं?

- अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का क्या तात्पर्य है?
- अत्यंत तिरस्कृत वाच्य के बारे में बताइए।

5.3.7.ध्वनि –संप्रदाय का महत्त्व:

ध्वनि सिध्दांत की व्यापकता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इसके अंतर्गत रस के समन्वय की कल्पना भी कर ली जाती है। तार्किक आधार पर रस का सम्बन्ध काव्य के मूल आधार तत्व से समन्वित होता है। जबकि ध्वनि का सम्बन्ध काव्य की अभिव्यक्ति से समन्वित होता है। यह बात सही है कि अभिव्यक्ति की प्रणाली रस को अनुभूत करने में सहायक होती है, किन्तु उसे आधारभूत तत्वों की तरह कुछ विद्वान महत्त्व देने के पक्ष में नहीं हैं। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी बात यह भी है कि कवि को प्रतीयमान अर्थवाली धारणा को सदैव साथ लेकर ही रचना करना होगी। इसीलिए ध्वनि संप्रदाय वालों ने अलंकार ध्वनि, रस ध्वनि आदि भेद करते हुए थोडा सुधार किया है। किन्तु ध्वनि संप्रदाय को स्वतंत्र काव्यात्मा के रूप में प्रतिपादित नहीं किया जा सका है। वह रस तथा अलंकार संप्रदाय के साथ ही अस्तित्ववान हुई। प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता, अप्रधानता तथा शून्यता के परिमाणस्वरूप ही ध्वनि को उत्तम, मध्यम तथा निम्न काव्य की श्रेणी में स्थित किया जा सका है।

साहित्य में अभिधात्मक सृजन की उपेक्षा करने वाले भी इस बात पर सहमत होते हैं कि विचार तथा भावों की दुरुहता को पार करने में अभिधा शब्द शक्ति ही सक्षम होती है। ध्वनि संप्रदाय काव्य को समाचार पत्र से साहित्य की श्रेणी में इसी व्यंजनात्मक शैली को अपनाकर प्रस्तुत करता है। रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, तथा ध्वनि का सम्बन्ध कृति से होता है। भारतीय काव्यशास्त्र के कुल छः सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने संप्रदायों को काव्य की आत्मा तथा काव्य के अनिवार्य अंग के रूप में प्रतिपादित किया है।

बोध प्रश्न:

- ध्वनि के महत्त्व को निरुपित कीजिए।
- काव्य की आत्मा को विवेचित करने वाले कुल कितने संप्रदाय हैं?

5.4 : पठनीय पुस्तकें

मानव के मानवीय विकास की झांकी कविताओं में प्राप्त होती है। काव्य के इस अमृत रस को तभी अनुभूत किया जा सकता है, जब उसके आस्वादन की प्रक्रिया से पाठक अथवा श्रोता परिचित होंगे। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने इसी विषय को लेकर काव्यशास्त्र का विवेचन किया है। आधुनिक काव्य में काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित काव्य की विविध शैलियों को आधार बनाकर सहृदय में काव्य की समझ विकसित होती है। आचार्य आनंदवर्धन के अनुसार - 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' अर्थात काव्य की आत्मा ध्वनि है। आचार्य आनंदवर्धन से पहले कई आचार्यों ने ध्वनि को काव्य का महत्वपूर्ण अंग माना था, किन्तु इसे काव्य की आत्मा के रूप में आचार्य आनंदवर्धन ने बड़ी स्पष्टतापूर्वक स्थापित किया। कई विद्वानों ने ध्वनि सिध्दांत का अत्यधिक विरोध किया। ध्वनि मत का विरोध करने वाले विद्वानों में धनञ्जय, धनिक, कुंतक,

भट्टनायक, प्रतिहारेंदुराज, क्षेमेन्द्र, महिम भट्ट प्रभृति का नाम लिया जा सकता है। जबकि आचार्य आनंदवर्धन के समान ही आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी रचना ' **ध्वन्यालोक-लोचन'** तथा आचार्य मम्मट ने **'काव्य प्रकाश'** में ध्वनि सिध्दांत को दृढ़तापूर्वक स्थापित किया।

5.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं –

1. ध्वनि संप्रदाय का काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है।
2. आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि संप्रदाय का प्रतिपादन किया है।
3. काव्य के छः संप्रदाय होते हैं।
4. ध्वनिमत के क्षेत्र में व्यंजना का महत्वपूर्ण स्थान है।
5. शब्द शक्तियों के तीनों रूप अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के अंतर से परिचित हुए।
6. काव्य का अधिवास ध्वनि संप्रदाय में निहित होता है।

5.6 : शब्द संपदा

1. स्फोट = फटना / बलपूर्वक बाहर निकलना
2. अनुरणन= प्रतिध्वनि
3. नैयायिक= न्याय-दर्शन का ज्ञाता
4. कवच= सुरक्षा-आवरण
5. प्रयोजनवती= वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रकट करने वाली लक्षणा
6. उद्योत= प्रकाश
7. रमणीयता= सुंदरता
8. व्यग्रता= विकलता
9. अधिवास= वास स्थान
10. आवृत= छिपा हुआ
11. योग=मिलाप
12. रूढ़ि=परंपरा

5.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड -(अ)

दीर्घ प्रश्न:

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों मर दीजिए।

1. ध्वनि-संप्रदाय में शब्द शक्तियों का स्थान बताइए।
2. ध्वनि संप्रदाय के अस्तित्व एवं अधिवास का विस्तार से वर्णन कीजिए।

खंड -(ब)

लघु श्रेणी के प्रश्न:

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 200 शब्दों में दीजिए।

1. अभिधा शब्द शक्ति का उदाहरण सहित परिचय दीजिए।
2. लक्षणा शब्द शक्ति के भेदोपभेदों की चर्चा कीजिए।
3. काव्य में व्यंजना के महत्त्व का परिचय दीजिए।

खंड -(स)

I. सही विकल्प चुनिए :

1. जिस वाक्य से प्रचलित परंपरा के अनुसार लक्ष्यार्थ का बोध होता है उसे क्या कहते हैं?

अ) रूढ़िलक्षणा आ) योग लक्षणा इ) लक्षण लक्षणा ई) विशुध्दा लक्षणा

2. 'वाक्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट व्यंग्य ही विद्वानों द्वारा ध्वनि कही गई है।'- ध्वनि की यह परिभाषा किसकी है?

अ) आचार्य मम्मट आ) आचार्य विश्वनाथ
इ) आचार्य आनंदवर्धन ई) आचार्य क्षेमेंद्र

3. 'ध्वन्यालोक' के प्रणेता का नाम बताइए।

अ) डॉ नगेन्द्र आ) आचार्य विश्वनाथ इ) आचार्य आनंदवर्धन ई) आचार्य वामन

4. 'ध्वन्यालोक लोचन' किसकी कृति है?

अ) आचार्य अभिनवगुप्त आ) आचार्य भामह इ) आचार्य आनंदवर्धन ई) आचार्य क्षेमेंद्र

II. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए :

1. आचार्य महिम भट्ट ने ध्वनि के विरोध में '**.....विवेक**' लिखा था।
2. जिस वाक्य में उपमेय का उपमान में अध्यवसान अथवा विलीनीकरण हो वहाँ **..... शब्द शक्ति** होती है।
3. ऐसा काव्य जहाँ कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम सुंदर हो तथा वह वाच्यार्थ का अंग बन जाता हो, उसे '**.....व्यंग्य'** कहते हैं।
4. लाक्षणिक अर्थ को व्यक्त करने वाली शब्द शक्ति को **.....** कहा जाता है।
5. **.....**के अनुसार व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अलग न होकर शब्दों के अन्वय से प्रकट होते हैं।

III. सुमेल कीजिए:

1. आचार्य अभिनवगुप्त	अ) 'काव्य दर्पण'
2. पंडित रामदहिन मिश्र	आ)' ध्वन्यालोक-लोचन'
3. मैथिलीशरण गुप्त	इ) 'वक्रोक्ति जीवितम्'
4. आचार्य कुंतक	ई) 'नाट्यशास्त्र'
5. आचार्य भरतमुनि	उ) 'साकेत'

5.8 पठनीय पुस्तकें

1. काव्यशास्त्र के विविध आयाम: डॉ सुधांशु कुमार नायक
2. भारतीय काव्यशास्त्र: डॉ विश्वंभरनाथ उपाध्याय
3. ध्वन्यालोक लोचन- भाग-2 : रामसागर त्रिपाठी
4. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिध्दांत: गणपतिचन्द्र गुप्त

इकाई : 6 वक्रोक्ति संप्रदाय

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 मूलपाठ : वक्रोक्ति संप्रदाय

6.3.1 काव्यशास्त्र और काव्य संबंधी प्रमुख संप्रदाय

6.3.2 वक्रोक्ति शब्द का अर्थ

6.3.3 वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य

6.3.4 वक्रोक्ति की परंपरा

6.3.5 वक्रोक्ति के भेद

6.3.6 वक्रोक्ति का काव्य संबंधी दृष्टिकोण

6.3.7 वक्रोक्ति संप्रदाय और अभिव्यंजनावाद

6.4 पाठ सार

6.5 पाठ की उपलब्धियां

6.6 शब्द संपदा

6.7 परीक्षार्थ प्रश्न

6.8 पठनीय पुस्तकें

6.1 : प्रस्तावना

काव्य पर बहुत ही प्राचीन समय से विचार किया जाता रहा है। विभिन्न आचार्यों द्वारा काव्य पर विचार करने का प्रयास किया गया। उन्हीं आचार्यों द्वारा या उनके बाद के आचार्यों के आधार पर काव्य संबंधी विभिन्न संप्रदाय बन गए। सभी ने काव्य के अंगों – प्रत्यंगों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। बाद में कुछ संप्रदाय अधिक प्रभावी और प्रचलन में रहे। कुछ को अपेक्षाकृत कम महत्व मिला लेकिन मिला। विभिन्न संप्रदायों के बीच 'वक्रोक्ति संप्रदाय' का अपना अलग महत्व है। इस इकाई में हम 'वक्रोक्ति संप्रदाय' के विषय में जानने और समझने का प्रयास करेंगे-

6.2 : उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियो ! इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- काव्यशास्त्र और काव्य संबंधी प्रमुख संप्रदाय के विषय में बता सकेंगे।
- वक्रोक्ति शब्द के अर्थ के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के विचार जान सकेंगे।
- वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य के नाम बता पाएंगे।
- वक्रोक्ति की परंपरा को बता सकेंगे।
- वक्रोक्ति का काव्य संबंधी दृष्टिकोण जान सकेंगे।
- वक्रोक्ति संप्रदाय और अभिव्यंजनावाद को तुलनात्मक रूप से समझ सकेंगे।

6.3 : मूलपाठ : वक्रोक्ति संप्रदाय

वक्रोक्ति संप्रदाय को हम निम्नलिखित उपशीर्षकों के जरिए समझने का प्रयास करेंगे-

6.3.1 काव्यशास्त्र और काव्य संबंधी प्रमुख संप्रदाय

काव्य और काव्यांगों को जानने-समझने का प्रयास प्राचीनकाल से होता रहा है। इन्हें समझने का कार्य काव्यशास्त्र के अंतर्गत किया जाता है। सवाल उठता है कि काव्यशास्त्र क्या है? काव्यशास्त्र के लिए अंग्रेजी में Poetics शब्द प्रचलन में है। काव्यशास्त्र शब्द और उसकी अवधारणा का विकास संस्कृत साहित्य के साथ जुड़ा हुआ है। डॉ. अमरनाथ लिखते हैं 'जिस ज्ञान को प्राप्त कर कवि सुंदर कविता कर सकता है और सहृदय काव्य का पूरा आनंद प्राप्त करता है, वह ज्ञान है काव्यशास्त्र। काव्य के स्वरूप को समझना और उसके तत्वों का विश्लेषण करना इसी का कार्य है।' काव्यशास्त्र को मुख्यतः दो भागों में बांटते हैं-

(क)भारतीय काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र-भारतीय साहित्यशास्त्र का आरंभ सामान्य रूप से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (लगभग प्रथम शती ईस्वी) से माना जाता है। भरतमुनि से लेकर अब तक के साहित्यशास्त्र के इतिहास को हम पाँच कालों में विभक्त कर सकते हैं-

(1)स्थापना काल- पाँचवीं शती के अंत तक

(2)नव अन्वेषण काल- छठी शती से ग्यारहवीं शती तक

(3)संशोधन काल- बारहवीं शती से सत्रहवीं शती तक

(4)पद्यानुवाद काल- सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती के मध्य तक

(5)नवोत्थान काल- उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण से अब तक

(ख)पाश्चात्य काव्यशास्त्र- भरत के अलावा पाश्चात्य आलोचकों ने भी काव्य और काव्यांगों पर विचार किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास को सामान्य रूप से तीन कालों में बाँटा जाता है-

1-प्राचीनकाल- पाँचवीं शती ई. पूर्व से चौथी शती ई. तक

2-मध्यकाल- पाँचवीं शती ई. से पंद्रहवीं शती तक

3-सोलहवीं शती से अब तक

यहाँ हम भारतीय काव्यशास्त्र पर ही विचार कर रहे हैं। भारतीय काव्यशास्त्र काव्य के विभिन्न अंगों में से किसी एक पर बल देने या महत्व प्रदान करने के आधार पर ही काव्य संबंधी संप्रदाय अस्तित्व में आए हैं। नीचे हम काव्य संबंधी प्रमुख संप्रदायों और उनके प्रवर्तक व पोषक आचार्यों के नाम दे रहे हैं-

संप्रदाय	**आचार्य**
1-अलंकार संप्रदाय	भामह, दंडी, उद्भट आदि
2-वक्रोक्ति संप्रदाय	कुंतल वा कुंतक
3-रीति संप्रदाय	वामन
4-ध्वनि संप्रदाय	ध्वनिकार और आनंदवर्धन
5-रस संप्रदाय	भरत मुनि, विश्वनाथ

बोध प्रश्न –

- 'अलंकार संप्रदाय' और 'रस संप्रदाय' के आचार्यों के नाम बताइए।

6.3.2 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ

वक्रोक्ति शब्द का अर्थ है- वक्र + उक्ति = टेढ़ा कथन या टेढ़ी उक्ति। सामान्य रूप में यह शब्द काव्यशास्त्र में भामह के द्वारा प्रयुक्त होता है। वक्रोक्ति शब्द दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है-

1- अलंकार विशेष के रूप में।

2- उक्ति की वक्रता वा असाधारणता के रूप में।

वक्रोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहां पर कि श्रोता श्लेष या काकु (कंठ ध्वनि) के आधार पर व्यक्त के अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ लगाकर उसक उत्तर देता है। वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य 'कुंतल' या 'कुंतक' हैं।

गणपतिचंद्र गुप्त ने लिखा है 'वक्रोक्ति का अर्थ है वह उक्ति जिसम वक्रता हो, वक्रता का शाब्दिक अर्थ है, टेढ़ापन, असामान्य विचित्र आदि। वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुंतक ने वक्रता का अर्थ 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न' अर्थात असामान्य या विचित्र ही किया है। अस्तु वक्रोक्ति संप्रदाय के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विशिष्टता व विचित्रता में है तथा ऐसी उक्ति ही काव्य की आत्मा है। इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य कुंतक ने लगभग दसवीं शताब्दी में अपने नए मत की स्थापना करते हुए 'वक्रोक्ति जीवितम्' की रचना की।'

बोध प्रश्न –

- वक्रोक्ति का संधि विच्छेद करके उसका अर्थ बताइए।

6.3.3 वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य

वक्रोक्ति संप्रदाय के आचार्यों में सबसे पहले वक्रोक्ति की कल्पना आलंकारिक भामह ने की थी। आचार्य दंडी, आचार्य वामन, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक और हेमचन्द्र का भी नाम स्वीकार किया जाता है। इन सबके बावजूद इस संप्रदाय को सबसे ज़्यादा महत्व दिलवाने और स्थापित करने का श्रेय आचार्य कुंतक या कुंतल को जाता है। इसलिए कुंतक या कुंतल ही इस संप्रदाय के सबसे अधिक महत्वपूर्ण आचार्य हैं।

6.3.4 वक्रोक्ति की परंपरा

काव्यशास्त्र में सबसे पहले आलंकारिक भामह ने वक्रोक्ति की कल्पना की थी। 'भामह के मतानुसार अतिशयोक्ति का रूपांतर ही वक्रोक्ति है तथा काव्य का मूल तत्व भी वक्रोक्ति है।' इस तरह अर्थ यह हुआ कि वक्रोक्ति ही अलंकार का कार्य सम्पादन करती है। गणपतिचंद्र गुप्त लिखते हैं 'भामह (छठी शती) ने अपने काव्यालंकार में वक्रोक्ति को अत्यंत व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए इसे सब अलंकारों की जननी माना है। उनके विचारानुसार वक्रोक्ति के अंतर्गत शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता सम्मिलित है।' इस संदर्भ में आचार्य दंडी का नाम भी लिया जाता है। वे सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में बांटते हैं- 'स्वाभाविक कथन को स्वाभावोक्ति के अंतर्गत तथा शेष समस्त भावों को वक्रोक्ति अलंकार के अंतर्गत स्वीकार करते हैं। दंडी विभिन्न अलंकारों का मूलाधार वक्रोक्ति को मानते हैं। आचार्य वामन भी वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं लेकिन वे सादृश्य के ऊपर आश्रित अर्थालंकार के अंतर्गत मानते हैं।' वे इसे एक विशिष्ट अलंकार मानते हैं। रुद्रट के समय में 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार के अंतर्गत स्वीकार किया जाने लगा था। रुद्रट की दृष्टि से उक्ति एवं प्रयुक्ति में ही वक्रोक्ति अलंकार की सत्ता है। रुद्रट के अनुसार 'वक्ता ने कुछ कहा श्रोता ने सम्बद्ध दूसरे अर्थ को लगा लिया यही वक्रोक्ति है।' रुद्रट ने इसका क्षेत्र संकीर्ण कर दिया और इसे मात्र शब्दालंकार माना जाने लगा। वक्रोक्ति को अलंकार मानने की इस परंपरा का अनुसरण मम्मट, रुय्यक तथा हेमचंद्र ने भी किया। आनंदवर्धन ने इसे अवश्य ही सम्मान प्रदान किया। आनंदवर्धन ने लिखा है-

सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति रनयाऽर्थो विभाव्यते।

यत्नोंअस्यां कविना कार्य:, कोअलंकारोऽनया बिना।

कहने का तात्पर्य है 'यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा अर्थ चमक उठता है। कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना अलंकार है ही क्या?'

वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुंतक की मान्यता इन सभी आचार्यों से अलग है। कुंतक वक्रोक्ति को केवल अलंकार ही नहीं मानते बल्कि काव्य का मूलाधायक तत्व भी मानते हैं। वे वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्यमंगी मणितिः वक्रोक्ति प्रसिद्धा भिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।' और 'वैदग्ध्यं कवि कौशल यस्यं भंगी विच्छितिः।' अर्थात अलौकिक कथन (जन साधारण से विलक्षण) के प्रकार का नाम वक्रोक्ति है। इस प्रकार वक्रोक्ति का निरंतर अर्थ परिवर्तन होता रहा और अंततः वह काव्य को आत्मा के पद पर भी प्रतिष्ठित हो जाती है, 'इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकार के मूलतत्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सदृश्यमूला लक्षण के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुंतक के मतानुसार काव्य का मूलतत्व स्वीकार की गई है।'

वक्रोक्ति संप्रदाय में वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्।' कुंतक ने वक्रोक्ति का पूरा ढांचा ध्वनि सिद्धांत के आधार पर ही खड़ा किया और यही कारण है कि उन्होंने अपने विवेचन में रस तथा ध्वनि को वक्रोक्ति में ही शामिल करने का प्रयास किया है। बलदेव उपाध्याय लिखते हैं 'वक्रोक्ति काव्य का नितांत व्यापक, रुचिर तथा सुगढ़ तत्व है जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता चमत्कृति का संचार होता है। कुंतक अभिधा वादी आचार्य हैं परंतु उनकी अभिधा के भीतर लक्षणा तथा व्यंजना का समग्र संसार विराजमान है।' इस संप्रदाय की एक खास बात यह है कि इसने अलंकार, रीति, रस और ध्वनि आदि सिद्धांतों की एकांगिकता को दूर कर काव्य के पूरे स्वरूप और तत्वों का परिचय दिया है। इस संप्रदाय के संबंध में यह जरूर है कि इसका विकास आगे नहीं हो पाया। इसके पीछे क्या कारण थे इस पर गणपतिचंद्र गुप्त जी ने लिखा है। वे इसके तीन कारण मानते हैं।

1-यह सिद्धांत देर से आया। इससे पूर्व रस, अलंकार, ध्वनि, रीति आदि आदि विद्वानों के हृदय में स्थान बना चुके थे। अब लोगों में इतना उत्साह नहीं रह गया था कि वे किसी नव आविष्कृत सिद्धांत को समझने का कष्ट करते।

2-यह सिद्धांत शैली पक्ष की दृष्टि से तो ठीक है, लेकिन काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता जैसी व्याख्या रस सिद्धांत प्रस्तुत करता है। वास्तव में जिन पक्षों की वक्रोक्ति सिद्धांत व्याख्या करता है। उन्हीं की व्याख्या रीति, अलंकार, ध्वनि से भी हो जाती है।

3-इसका विवेचन तथा भेदोपभेदों का वर्गीकरण भी थोड़ा अस्पष्ट एवं जटिल हो गया है। संभवतः इन्हीं कुछ कारणों से यह लोकप्रिय नहीं हो सका।

बोध प्रश्न –

- वक्रोक्ति संप्रदाय को आगे चलकर उतन महत्व नहीं मिल। इसके पीछे क्या कारण थे?

6.3.5 वक्रोक्ति के भेद

वक्रोक्ति के छः भेद स्वीकार किए जाते हैं। इसके अलावा भेद में भी कुछ उपभेद हैं। पहले हम इनके छः भेदों को एक बार देख लेते हैं-

1-वर्ण विन्यास वक्रता

2-पदपूर्वार्द्ध वक्रता

3-पदपरार्द्ध वक्रता

4-वाक्य वक्रता

5-प्रकरण वक्रता

6-प्रबंध वक्रता

अब हम प्रत्येक भेद पर अलग-अलग विचार करेंगे-

(1) वर्ण विन्यास वक्रता

जहाँ वर्णों या शब्दों की आवृत्ति (क्रमशः अनुप्रास और श्लेष) हो, वहाँ 'वर्ण विन्यास वक्रता' मानी जाती है। एक, दो या तीन या विशिष्ट वर्णों की आवृत्ति के अनुसार इस वक्रता के भेद किए गए हैं।

हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि केवल वर्णों या शब्दों की आवृत्ति से ही कोई काव्य सुंदर नहीं बन जाता। ऐसा काव्य जो अनुप्रास आदि अलंकारों को ही साध्य मानकर रचा जाता था। वह काव्य निम्न स्तर का माना जाता था। यही वजह है कि वर्ण विन्यास वक्रता के अंतर्गत कुंतक ने कुछ निर्देश भी दिए हैं। जिनका पालन करना चाहिए। आचार्य कुंतक ने कहा है कि वर्ण विन्यास वक्रता विषय के अनुकूल होनी चाहिए, उसमें अनेकरूपता होनी चाहिए तथा उसमें नवीनता होनी चाहिए। इससे साफ हो जाता है कि वर्ण विन्यास वक्रता साध्य नहीं है बल्कि काव्य को सुंदर बनाने का साधन ही है।

बोध प्रश्न-

- वर्ण विन्यास वक्रता के विषय में बताइए।

(2) पदपूर्वार्द्ध वक्रता

वह वक्रता जो शब्द के प्रधान रूप पर प्रातिपदिक तथा धातु पर आधारित होती है। उसे पद पूर्वार्ध वक्रता कहते हैं। जैसे पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की रचना 'राम की शक्ति पूजा' की ये पंक्तियाँ देखें –

है अमानिशा ; उगलता गगन घन अंधकार ;
खो रहा दिशा का ज्ञान ; स्तब्ध है पवन चार

यहाँ 'अमानिशा' और 'अंधकार' शब्द राम की निराशाजनक स्थिति के द्योतक हैं। यहाँ 'पद पूर्वार्ध वक्रता' है। आचार्य कुंतक ने पद पूर्वार्ध वक्रता के 11 भेद माने हैं। जिनके नाम इस तरह हैं- रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, पर्यपया वक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्ति वक्रता, प्रत्यय वक्रता, आगम वक्रता, वृत्ति वक्रता, भाव वक्रता, लिंग वक्रता, क्रिया वैचित्र्य वक्रता।

(3) पदपरार्द्ध वक्रता

इसका संबंध शब्द के उत्तरार्द्ध अंश या प्रत्यय आदि से है। इसके भी छः भेद माने गए हैं यथा- काल वक्रता, कारक वक्रता, वचन वक्रता, पुरुष वक्रता, उपग्रह वक्रता, प्रत्यय वक्रता। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

पिय सों कहहु संदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
या
विकंपित मृदु पुलकित गात।

यहाँ 'संदेसड़ा' में 'ड़ा' और 'विकंपित' में 'वि' के प्रयोग से जो सौन्दर्य आ गया है। वह 'पदपरार्द्ध वक्रता' का उदाहरण है।

(4) वाक्य वक्रता

वाक्य वक्रता में वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है। स्वयं वक्रोक्तिकार ने कहा है 'वस्तु का उत्कर्ष युक्त, स्वभाव से सुंदर रूप में केवल सुंदर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है।' इसे और स्पष्ट शब्दों में गणपतिचंद्र गुप्त इस तरह से कहते है 'जहां किसी वस्तु या विषय के स्वाभाविक रूप का ही ऐसा सहज वर्णन हो कि उसमें किसी प्रकार का अर्थ सौन्दर्य उत्पन्न हो, उसे 'वाक्य वक्रता' कहते हैं।' इसके अनेक भेद किए गए हैं। जिसमें मुख्य भेद है– स्वभावोक्ति, अर्थालंकार। स्वभावोक्ति का उदाहरण द्रष्टव्य है-

मैया मोही दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीन्हो,
तोहों जसुमति कब जायो।

इसी तरह से अर्थालंकार का उदाहरण देखें-

उषा सुनहले तीर बरसती,
जय लक्ष्मी सी उदित हुई।

यहाँ प्रमुख अर्थालंकारों का समावेश हो जाता है।

बोध प्रश्न –

- वाक्य वक्रता के विषय में अपने विचार प्रकट कीजिए।

(5) प्रकरण वक्रता

जब किसी भी कथा के एक प्रसंग या प्रकरण के उपयुक्त परिवर्तन संशोधन से पूरी कथा या पूरे प्रबंध का उत्कर्ष बढ़ जाता है तो वहाँ 'प्रकरण वक्रता' मानी जाती है। आधुनिक काव्यों में भी प्रकरण वक्रता को देखा जा सकता है जैसे- साकेत महाकाव्य में कैकेयी के चरित्र में परिवर्तन, कामायनी में देव सभ्यता और प्रलय का वर्णन आदि। छायावादी काव्य के अंतर्गत तथा उसके बाद प्रबंध काव्यों को लिखने की प्रवृत्ति कम हुई। उस समय किसी एक प्रकरण या प्रसंग को आधार बनाकर खंडकाव्य या लंबी कविता लिखने की परंपरा का अधिक विकास हुआ। इसलिए आधुनिक युग में कई रचनाएँ ऐसी दिखती हैं जो किसी प्रकरण को ही केंद्र में रखकर खंडकाव्य के रूप में रची गईं। उदाहरणस्वरूप 'पंचवटी', 'नहुष', 'कुरुक्षेत्र', 'अंधायुग', 'आत्मजयी' आदि। प्रकरण वक्रता के कुल नौ भेद माने जाते हैं। गणपति चंद्र गुप्त ने कुछ प्रमुख भेदों को बताया है-

1-भाव पूर्ण स्थिति की उद्भावना

2-प्रसंग की मौलिकता

3-पूर्व प्रचलित प्रसंग में संशोधन

4-रोचक प्रसंगों का विस्तृत वर्णन

5-प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुंदर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना

6-प्रसंगों का पूर्वा पर से अन्वय

बोध प्रश्न- 6 प्रकरण वक्रता के कम से कम तीन भेद बताइए।

(6) प्रबंध वक्रता

जहां लेखक की रुचि, प्रयोजन या परिवेश के प्रभाव से किसी परंपरागत कथादि में मूलभूत संशोधन – परिवर्तन कर दिया जाय। वहाँ 'प्रबंध वक्रता' मानी जाती है। इसके भी छः भेद माने गए हैं-

1-मूल रस-परिवर्तन-ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि जिससे उसका मूल भाव और रस परिवर्तित हो जाय।

2-नाटक के चरित्र में संशोधन

3-कथा के मध्य में किसी ऐसे कार्य की अवतारणा करना जो कि प्रधान कार्य की सिद्धि में योग दे।

4-नायक द्वारा मुख्य फल के साथ-साथ आने फलों की प्राप्ति।

5-प्रबंध का नामकरण प्रधान कथा या घटना या सूचक।

6-एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबंधों का वैचित्र्य वैविध्य।

बोध प्रश्न –

- वक्रोक्ति के छः भेदों के नाम लिखिए।

डॉ. तारक नाथ बाली ने उदाहरण के द्वारा इसे बखूबी समझाया है। वे उदाहरण देते हैं कि श्रद्धा और मनु की कथा में परंपरा के अंतर्गत मनु ही प्रधान हैं लेकिन जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' नामकरण करके नारी की महिमा का चित्रण भी किया है इसके साथ ही यह भी दिखाया है कि अपने काव्य के मूल उद्देश्य हृदय या आस्था द्वारा ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इसी तरह से युग की दिशाहीनता और मूल्यहीनता को व्यापक करने के लिए धर्मवीर भारती ने अपने काव्य नाटक का नाम 'अंधा युग' रखा। इसी तरह से 'प्रियप्रवास', 'राम की शक्तिपूजा', 'साकेत', 'कुरुक्षेत्र', 'आत्मजयी' आदि का उदाहरण दिया जा सकता है।

इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा की परवर्ती विद्वानों ने इस पर बहुत ध्यान नहीं दिया। आगे चलकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार के रूप में ही रह गई। जिसके दो भेद माने गए। 'काकु वक्रोक्ति' और 'श्लेष वक्रोक्ति'। काकु वक्रोक्ति में स्वर के उतार चढ़ाव या बोलने के लहजे के द्वारा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जैसे-

मैंने कहा – प्रिये जाओ मत, बैठो !

वह भोली समझी कि जाओ, मत बैठो !

श्लेष वक्रोक्ति में शब्द के अन्य अर्थ को ग्रहण करके अर्थ बदल दिया जाता है। जैसे- 'अरे घनश्याम हो तो यहाँ क्या काम, जाकर वर्षा करो।'

इस विषय में डॉ. नगेन्द्र कहते हैं 'कवि प्रतिभा के बल पर अपनी कृति में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए सहज या सचेष्ट रूप में जिन साधनों-प्रसाधनों का उपयोग करता है, वे सभी वक्रोक्ति के भेद हैं। अतएव कुंतक की वक्रोक्ति का साम्राज्य वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबंध-कल्पना तक और उधर उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक विस्तृत है।' इसी तरह से डॉ. तारक नाथ बाली लिखते हैं 'वक्रोक्ति सिद्धांत मात्र भाषागत सिद्धांत नहीं है, वरन वह काव्य की वस्तु संरचना की भी गंभीर समीक्षा कर उसके अंतर्गत किए गए विशिष्ट प्रयोगों के उद्घाटन का प्रयास करता है। वक्रोक्ति सिद्धांत केवल अभिव्यक्ति या अभिव्यंजना तक सीमित नहीं है।'

वक्रोक्ति सिद्धांत का आगे चलकर अनुकरण नहीं हुआ। इसका कारण है 'कुंतक का समन्वयवादी दृष्टिकोण।' वे इसका निर्वाह व्यवस्थित रूप से वे नहीं कर सके। एक दूसरा करण

है 'ध्वनि' जैसे आंतरिक सिद्धांत की तुलना में फिर से कोई 'अलंकार' और 'रीति' जैसे अधिकांशतः बाह्यपरक सिद्धांतों की तरह का कोई भी सिद्धांत पनप नहीं सकता था.

कुंतक के सिद्धांतों का खंडन दो आचार्यों ने किया है-

एक हैं 'महिमभट्ट' और दूसरे हैं आचार्य 'विश्वनाथ'। महिमभट्ट के कहने का मतलब है कि कुंतक ने वक्रोक्ति को अनेक स्थलों पर 'प्रसिद्ध अभिधान (वाच्यार्थ) से व्यतिरेकिणी' अर्थात भिन्न अर्थ बताने वाली कहा है किन्तु ऐसे काव्य-तत्व दो ही माने गए हैं 'औचित्य' और 'ध्वनि', जो कि स्वयं महिमभट्ट को अस्वीकार्य है। आचार्य विश्वनाथ ने तो 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम' का यह कहकर खंडन किया है कि वक्रोक्ति तो एक अलंकार मात्र है। डॉ. अमरनाथ ने सत्य ही कहा है 'वासदतुत कुंतक ने सहृदय को काव्य के बाह्य कलेवर से ही आकृष्ट करना चाहा है, जबकि काव्य जैसे आंतरिक व्यापार को बाह्य कलेवर के अवयवों के आधार पर मूल्यांकित करना संतुलित दृष्टिकोण का सूचक नहीं है। इन्हीं सब कारणों से हिंदी समीक्षा जगत में वक्रोक्ति सिद्धांत को अपेक्षित महत्व नहीं मिला और यहाँ वक्रोक्ति एक अलंकार के रूप में ही प्रचलित है।'

बोध प्रश्न –

- कुंतक के सिद्धांतों का खंडन किस तरह से किया गया है?

6.3.6 वक्रोक्ति का काव्य संबंधी दृष्टिकोण

आचार्य कुंतक ने अपने ग्रंथ के आरंभ में काव्य संबंधी अपनी मान्यताओं को अभिव्यक्त किया है। काव्य के विषय में वे लिखते हैं 'कवि: कर्म काव्यम्' कहने का अर्थ है 'कवि का कर्म ही काव्य है।' अब सवाल यह उठता है की कवि किसे कहते हैं? इस संबंध में वे मौन हैं। आगे चलकर वे काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं-

शब्दार्थो सहितौ वक्रकविध्यापारशालिनि ।
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहलादकारिणी।।

उपर्युक्त पंक्तियों का अर्थ है कि – काव्य मर्मज्ञों को आनंद देने वाली सुंदर (वक्र) कवि-व्यापार युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। इस बात से यह समझ में आता है कि आचार्य कुंतक काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को बराबर महत्व देते थे। दूसरी बात वे प्रत्येक रचना के लिए 'आह्लाद-कारिणी' होना आवश्यक मानते हैं। नगेन्द्र जी ने कुंतक की मान्यताओं को विवेचित करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष दिए जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं-

1-आचार्य कुंतक के विचार से काव्य में वस्तु-तत्व एवं माध्यम या अनुभूति और अभिव्यक्ति- दोनों का तादात्म्य होता है।

2-काव्य का वस्तु-तत्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है अर्थात उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो अति प्रचलित होने के कारण प्रभावहीन हो गए हैं।

3-काव्य की अभिव्यंजना-शैली असाधारण या अद्वितीय होती है।

4-अलंकार काव्य का मूल तत्व है, केवल बाह्य भूषण मात्र नहीं।

5-काव्य का काव्यत्व कवि कौशल पर आश्रित है- दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है।

6-काव्य की कसौटी काव्य मर्मज्ञों का मन प्रसादन है।

डॉ. दुर्गा शंकर मिश्र तथा राज किशोर सिंह ने कुंतक के विवेचन का सार प्रस्तुत करते हुए लिखा है 'उनकी वक्रोक्ति चमत्कारप्राण है, वह चमत्कार उत्पन्न करने के कारण ही वक्र – उक्ति है। कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति से ही अर्थ का विभावन होता है। 'अतः कवियों को इसके लिए विशेष सचेष्ट रहता चाहिए, क्योंकि इसके बिना न तो अलंकार का अस्तित्व रह सकता है और न उसका महत्व ही।' कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है किन्तु उनके इस मत को परवर्ती काल में स्वीकार नहीं किया गया है। वे अकेले ही इस मत के प्रवर्तक और अनुयायी हैं, पीछे के काव्यशास्त्रियों ने वक्रोक्ति को केवल एक अलंकार माना है।'

बोध प्रश्न –

- डॉ. नगेन्द्र ने कुंतक की मान्यताओं को विवेचित करके जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। उसको बताइए।

6.3.7 वक्रोक्ति संप्रदाय और अभिव्यंजनावाद

वक्रोक्ति पर चर्चा करते समय अन्य वादों से उसकी तुलना या साम्य- वैषम्य भी देखा जाता है। पुस्तकों में विद्वानों ने वक्रोक्ति और ध्वनि, वक्रोक्ति और रस, वक्रोक्ति एवं अलंकार, वक्रोक्ति और रीति, वक्रोक्ति और औचित्य वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद जैसे विषयों पर विचार किया है। इन सबके बीच वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद की चर्चा खास तौर से की जाती है। यहाँ पर हम वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद पर ही विचार कर रहे हैं।

अभिव्यंजनावाद के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है 'क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है।' शुक्ल जी का यह कथन पूरी तरह सत्य नहीं है। क्योंकि दोनों वादों में पर्याप्त अंतर है। डॉ. दुर्गा शंकर मिश्र और डॉ. राज किशोर सिंह ने इन दोनों सिद्धांतों के बीच साम्य और वैषम्य को बताया है-

(क) साम्य (समानता)-

1-अभिव्यंजनावाद काव्य का प्राण है- 'Art is expression' और 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' जिस प्रकार कुंतक की वक्रोक्ति में समस्त आंतरिक और वाह्य काव्य विषय और अभिव्यंजना शैली अंतर्भूत हो जाती है। उसी प्रकार क्रोचे की अभिव्यंजना में भी सहजानुभूति और अभिव्यंजना अभिन्न रूप से अभिन्न हैं।

2-कल्पना का प्राधान्य- सहजनाभूति कल्पना ही है क्योंकि वह वस्तु के भाव में भी हो जाती है और अभाव में भी। कुंतक में भी 'वक्रोक्ति वैदग्ध्य भगिभणिति' होने के कारण कवि की कल्पना ही है। और वह इसीलिए लोक व्यवहार और दर्शन व्यवहार से भिन्न है। अभिव्यंजना अखंड है।

3-कुंतक के यहाँ अन्यूनातिरिक्त संबंध और उसकी छाया अपेक्षित है जो उनके अनुसार किसी एक शब्द से ही हो सकता है। शायद यही कारण है कि दोनों काव्य को अनुकरणीय नहीं मानते हैं।

4-कुंतक काव्य रीतियों में उत्तम, मध्यम, अधम की कल्पना उचित नहीं मानते। जबकि क्रोचे भी पूर्णतर, पूर्णतम, भेद मानने को प्रस्तुत नहीं है।

(ख)वैषम्य (विषमता)

1-क्रोचे दार्शनिक हैं, अतः वे अलंकारशास्त्र का निषेध करते हैं। क्योंकि आध्यात्मिक जीवन से उसका पृथक्करण है, जबकि कुतक का संकल्प है कि 'मैं संकल्प के साथ लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि तथा उसके द्वारा काव्य की व्युत्पत्ति के लिए अलंकारशास्त्र की रचना कर रहा हूँ।'

2-क्रोचे सहजानुभूति – अभिव्यक्ति को वे सहज मानते हैं। उसके वक्र, ऋजु भेद नहीं करते हैं। कुंतक लोकभिन्न, दर्शनभिन्न वक्रता को महत्वहीन तथा सामान्य उक्ति को काव्य नहीं मानते हैं।

3-क्रोचे के अनुसार मानस निर्माण के बाद कला का काम पूर्ण हो जाता है, बह्याभिव्यक्ति गौण है। जबकि कुंतक व्यष्टि अनुभूति की समष्टिगत परिणति अनिवार्य मानते हैं।

4-क्रोचे कला का कोई प्रयोजन नहीं मानते जबकि कुंतक 'तद्विदह्लादकारित्व' को काव्य का अनिवार्य गुण मानते हैं। काल की सिद्धि और कारण दोनों उनके अनुसार आनंद ही हैं।

5-कला का उद्देश्य क्रोचे के अनुसार, 'अपने अनुभवों का विस्तार कर मनुष्य अपने आपको उनसे मुक्त करता है। - अतः आत्म-वैषम्य का उद्देश्य है,' जबकि कुंतक के अनुसार 'चतुवर्ग फलास्वाद मप्यति क्रम्यताद्विदां' काव्य का उद्देश्य है।

6-क्रोचे के अनुसार वस्तु तत्व गौण अरूप संवेदन, अभिव्यंजना के अभाव में अस्तित्वहीन है। कुंतक के अनुसार कवि व्यापार के महत्व होते हुए भी नगण्य वस्तु नहीं। प्रबंध वक्रता में वे रस और वस्तु का स्पष्ट अंतर और महत्व मानते हैं।

7-क्रोचे और कुंतक में से एक दार्शनिक है जबकि दूसरा काव्यशास्त्री। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कुंतक महत्वपूर्ण है किन्तु क्रोचे का महत्व भी कम नहीं है।

नगेन्द्र जी ने इन दोनों (वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद) के बीच साम्य को ढूँढे हैं लेकिन उनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। उन्होंने कहा भी है 'यही कहना उचित है कि दोनों के सिद्धांतों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है।'

बोध प्रश्न-

- 'वक्रोक्ति' और 'अभिव्यंजनावाद' के विषय में अपने विचार प्रकट कीजिए।

6.4 : पाठ सार

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य और काव्यांगों को जानने-समझने का प्रयास प्राचीनकाल से होता रहा है। इन्हें समझने का कार्य काव्यशास्त्र के अंतर्गत किया जाता है। सवाल उठता है कि काव्य शास्त्र क्या है? काव्यशास्त्र के लिए अंग्रेजी में 'Poetics' शब्द प्रचलन में है। काव्यशास्त्र शब्द और उसकी अवधारणा का विकास संस्कृत साहित्य के साथ जुड़ा हुआ है। काव्य शास्त्र को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जाता है यथा- भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र।

भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत कई तरह के वाद/संप्रदाय हैं। जैसे- अलंकार संप्रदाय (भामह, दंडी, उद्भट आदि), वक्रोक्ति संप्रदाय (कुंतल वा कुंतक), रीति संप्रदाय (वामन), ध्वनि संप्रदाय (ध्वनिकार और आनंदवर्धन), रस संप्रदाय (भरतमुनि, विश्वनाथ)।

जहां तक वक्रोक्ति की बात है तो वक्रोक्ति शब्द का अर्थ है- वक्र + उक्ति = टेढ़ा कथन या टेढ़ी उक्ति। सामान्य रूप में यह शब्द काव्यशास्त्र में भामह के द्वारा प्रयुक्त होता है। वक्रोक्ति शब्द दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है- पहला- अलंकार विशेष के रूप में, दूसरा-उक्ति की वक्रता वा असाधारणता के रूप में। वक्रोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहां पर कि श्रोता श्लेष या काकु (कंठ ध्वनि) के आधार पर व्यक्त के अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ लगाकर उसक उत्तर देता है। वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य 'कुंतल' या 'कुंतक' हैं।

वक्रोक्ति के प्रमुख 6 भेद हैं। जैसे- वर्ण विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्ध वक्रता, पद परार्द्ध वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता, और प्रबंध वक्रता। इसके अलावा भेदों के अंतर्गत उपभेद

भी हैं। वक्रोक्ति की तुलना या उनके बीच साम्य और वैषम्य भी देखने का प्रयास किया जाता है। हमने वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद के बीच साम्य और वैषम्य देखा है।

6.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं-

1-काव्यशास्त्र और काव्य संबंधी कई प्रमुख संप्रदाय हैं।

2-विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत वक्रोक्ति संप्रदाय भी एक संप्रदाय है।

3-विभिन्न संप्रदायों के आचार्य हैं। इसी तरह से वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य कुंतक हैं।

4-वक्रोक्ति की एक परंपरा रही है। जिसमें कई सारी बातें और आचार्य आते हैं।

5-वक्रोक्ति का मात्र काव्य के बाह्य बिंदुओं पर ही ज़ोर नहीं रहता बल्कि यह काव्य के आंतरिक भाग को भी महत्व देता है।

6-वक्रोक्ति संप्रदाय के साथ अन्य वादों की चर्चा भी की जाती है लेकिन 'वक्रोक्ति' और 'अभिव्यंजनावाद' की चर्चा पर विशेष बल दिया जाता है।

6.6 : शब्द संपदा

1-काव्यांग	=	काव्य के अंग
2-धातु	=	शब्द का मूल, क्रियावाचक प्रकृति, वह मूल जिससे क्रियाएँ बनी हैं या बनती हैं।
3-भेदोपभेद	=	भेद के अंदर भेद
4-काव्यशास्त्र	=	काव्य को समझने का शास्त्र
5-अन्वेषण	=	खोजना, ढूँढना
6-नवोत्थान	=	नवीन उत्थान, नवजागरण, नवजागृति, नई चेतना
7-अतिशयोक्ति	=	किसी बात को बहुत बढ़-चढ़ाकर कहना
8-वक्ता	=	बोलने वाला
9-श्रोता	=	सुनने वाला
10-साध्य	=	जिसे प्राप्त किया जा सके
11-साधन	=	कार्य को सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त वस्तुओं का संग्रह

6.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड – (अ)

(अ) दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए-

1-वक्रोक्ति की परंपरा पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

2-वक्रोक्ति संप्रदाय और अभिव्यंजनावाद के विषय में लिखिए।

3-वक्रोक्ति के भेद के विषय में लिखिए।

खंड – (ब)

(आ) लघु श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए-

1-प्रबंध वक्रता के विषय में लिखिए।

2-वक्रोक्ति के काव्य संबंधी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।

3-वक्रोक्ति शब्द के अर्थ के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के विचार लिखिए।

खंड – (क)

I. निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प छाँटिए-

1-काव्यशास्त्र को मुख्यतः किन भागों में बांटते हैं?

(क)भारतीय काव्यशास्त्र (ख)पाश्चात्य काव्यशास्त्र (ग)भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र (घ)इनमें से कोई नहीं

2-'वक्रोक्ति जीवितम्' किसकी रचना है?

(क)दंडी (ख)भामह (ग)कुंतक (घ)विश्वनाथ

3-'यही कहना उचित है कि दोनों के सिद्धांतों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक हैं।' यह कथन किस आलोचक का है?

(क)हजारी प्रसाद द्विवेदी (ख)बच्चन सिंह (ग)नगेन्द्र (घ)रामचंद्र शुक्ल

ii. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1-वामन ..... के आचार्य हैं।

2-क्रोचे का अभिव्यंजनावाद.....का ही विलायती उत्थान है।

3-भारतीय काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र का स्थापना काल ..... स्वीकार किया जाता है।

iii. सुमेल प्रश्न

(क)नाट्यशास्त्र	(अ)poetics
(ख)वाक्य वक्रता	(ब)कवि का कर्म ही काव्य है
(ग)काव्यशास्त्र	(स)वक्रोक्ति का एक भेद
(घ)आचार्य कुंतक	(द)भरतमुनि

6.8 : पठनीय पुस्तकें

1- काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र

2- काव्यशास्त्र सिद्धांत – डॉ. दुर्गा शंकर मिश्र, डॉ. राज किशोर सिंह

3- भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. तारकनाथ बाली

4- भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त

5- भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिंदी आलोचना – डॉ. रामचंद्र तिवारी

6- सिद्धांत और अध्ययन – बाबू गुलाबराय

7-हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली – डॉ. अमरनाथ

इकाई 7: औचित्य संप्रदाय

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 मूल पाठ: औचित्य संप्रदाय

7.3.1 औचित्य का अर्थ एवं स्वरूप

7.3.2 औचित्य के प्रकार

7.3.3 औचित्य का प्रयोजन

7.3.4 पाश्चात्य चिंतन के संदर्भ में औचित्य विवेचन

7.4 पाठ सार

7.5 पाठ की उपलब्धियाँ

7.6 शब्द संपदा

7.7 परीक्षार्थ प्रश्न

7.8 पठनीय पुस्तकें

7.1 : प्रस्तावना

औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य, क्षेमेन्द्र है जैसा कि हम जानते हैं कि काव्य कला का प्रमुख अंग है जो रसास्वादन करता हुआ ब्रह्मनानंद का ज्ञान कराता है। उसमें औचित्य का रहना आवश्यक है। औचित्य सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे नवीन सिद्धांत है। सिद्धांत का आविमति अन्य सभी-सिद्धांतों के अन्त में हुआ अतः इसे हम संस्कृत काव्यशास्त्र का अंतिम सिद्धांत भी कह सकते हैं।

संसारी लोक व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए, ये सभी बातें औचित्य के अन्दर में आती है। औचित्यपूर्ण व्यवहार की ही तरह औचित्य पूर्ण काव्य भी सहृदय लोगों के मन को आनंदित करने योग्य बन जाता है। काव्यशास्त्र के सभी-आचार्यों ने अपने अपने तरीके से रस, अलंकार आदि के सही प्रयोग का विवेचन करते हुए औचित्य का संकेत दे दिया था, किन्तु सही रूप से औचित्य को काव्य का तत्व मानकर और काव्य की कसौटी मानकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने विचार किया है। उन्होंने औचित्य पर आधारित औचित्य विचार चर्चा नामक ग्रंथ की रचना की, इस ग्रंथ में क्षेमेन्द्र ने प्रतिष्ठित कर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

7.2 : उद्देश्य

इस इकोई को पढ़ने के बाद आप-

- औचित्य के अर्थ तथा स्वरूप को समझ सकेंगे।
- औचित्य के प्रयोजन को समझ सकेंगे।
- औचित्य के भेदों से परिचित हो सकेंगे।
- औचित्य की समस्याओं को समझ सकेंगे और
- औचित्य और हिंदी के आचार्य के तालमेल को समझ सकेंगे।

7.3 : मूल पाठ: औचित्य संप्रदाय

7.3.1 औचित्य का अर्थ एवं स्वरूप

औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र है। वैसे क्षेमेन्द्र मूलतः ध्वनिवादी आचार्य थे परन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य को व्यापक काव्य तत्व में रूप में प्रतिष्ठित कर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताया कि यदि कोई अपने गले में मेखला पहन लें, हाथों में बिछुए बांध ले, पैरों में केचुर बांध ले तो इस औचित्य पर कौन नहीं हँसेगा। अतः औचित्य के बिना न तो कोई समझ ही अच्छी लगती है और न ही गुण। औचित्य काव्य का आन्तरीक तत्व है। इसके बिना सभी गुण या विशेषता महत्वहीन हो जाते हैं।

11वीं शती में आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्य संप्रदाय का विकास हुआ। क्षेमेन्द्र के अनुसार 'औचित्य ही काव्य की आत्मा है।'

औचित्य के लिए तीन प्रमुख आचार्यों के नाम याद किए जाते हैं - भरत, आनन्दवर्धन तथा क्षेमेन्द्र। औचित्य का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाटयशास्त्र में मिलता है। नाटक के लिए इन्होंने औचित्य की चर्चा की है। वैसे तो इन्होंने अपने नाटक में औचित्य शब्द का उल्लेख नहीं किया किन्तु नाटक के परमतत्व रस का वर्णन औचित्य की दृष्टि से किया, जिसके लिए उन्होंने अनुरूपता अनुकूलता शब्द का प्रयोग किया है।

क्षेमेन्द्र यह मानते हैं कि औचित्य रसानुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाला रस का जीवन है। औचित्य को उन्होंने काव्य का प्राण माना है। इनसे पहले आचार्य आनन्दवर्धन ने छः प्रकार के औचित्यों की चर्चा की है। रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गणौचित्य, संघटनौचित्य प्रबन्धौचित्य, रीत्यौचित्य। आनन्दवर्धन ने औचित्य की तुलना में ध्वनि को ही महत्व दिया, किन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का मूल आधार मानते हुए उसे ही सर्वाधिक महत्व दिया है। क्षेमेन्द्र ने किसी एक तत्व को महत्व न देकर सभी तत्वों के संतुलन, सामंजस्य या संगति पर बल देकर काव्य-चिंतन को व्यापक संदर्भ प्रदान किया है। औचित्य पर बल देकर क्षेमेन्द्र ने काव्य को जीवन मूल्यों के निकट ला दिया है। औचित्य जीवन को भी सुंदर और

तालमेल वाला बनाता है। औचित्य के द्वारा हमें सामाजिक मर्यादा प्राप्त होती है। अनौचित्य की स्थिति सामाजिक मर्यादा के भंग होने से उत्पन्न होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि क्षेमेंद्र ने काव्य को सामाजिक मूल्य एवं मर्यादा के संदर्भ में देखने की नई दिशा दी है।

काव्यशास्त्र में औचित्य को स्थान देने के कारण एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट किया है कि केवल अलंकार और रीति का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायता भी नहीं देता बल्कि उसे ठेस भी पहुँचाता है। यदि हम छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक की संस्कृत रचनाओं को देखें तो यह पता चलता है कि इस युग का साहित्य किस प्रकार कृत्रिम अलंकार-योजना से आच्छदित होकर सौन्दर्यविहीन, शुष्क एवं जटिल हो गया था। औचित्यवाद ने इसका घोर विरोध किया तथा परवर्ती युग की काव्य रचनाओं को नया दृष्टिकोण दिया।

क्षेमेन्द्र का औचित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण आज भी संदर्भवान है। औचित्य से काव्य के मूल सौन्दर्य की रक्षा होती है, औचित्य के आभाव में सौन्दर्य नहीं रहता बल्कि कुरूपता में बदल सकता है किन्तु वह मूल सौन्दर्य का स्थापना नहीं बन सकता है। अतः यह काव्य की आत्मा के पद पर आसीन नहीं हो सकता। औचित्य में अपने आपमें इतनी ताकत नहीं है कि वह काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर सकें।

हम देखते हैं कि कई बार औचित्य के कारण कोई उक्ति सुन्दर बन जाती है, किन्तु वहाँ पर औचित्य के साथ अन्य तत्व भी सम्मिलित होते हैं।

"औचित्य रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

अतः रस से सिद्ध काव्य पर स्थिर जीवित (प्राणतत्व) औचित्य है। औचित्य में इसका बहुत अधिक तहत्व देखा गया है। अर्थात् औचित्य के बिना रस की कल्पना की ही नहीं जा सकती है। रस को स्थिर जीवन शक्ति देने वाला तत्व औचित्य है, अतः वही काव्य का प्राण तत्व है।

आचार्य क्षेमेन्द्र से पहले भी आचार्यों ने औचित्य पर प्रकाश डाला और विचार किया है, किन्तु उसे काव्य की आत्मा कहने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है। भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में नायक के स्वरूप, अभिनय वेशभूषा आदि के लिए औचित्य की आवश्यकता पर बल दिया है वे सकते हैं-

"वयोऽनुरूप प्रथमस्तु वेषो वेधानुरूपश्च गतिः प्रचारः।

गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।।"

अर्थात आयु के अनुसार वेश, वेश के अनुरूप क्रिया, गति प्रचार के अनुरूप पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए। अगर औचित्य का ध्यान न रखा जाए तो उपहास होता है। भरत मुनि का ये श्लोक इस प्रसंग के लिए बहुत ही उपयुक्त है-

"अदेशजो हि वेषश्तु न शोमां जनयिष्यति।

मेरकलोरसि बन्धे न हास्यायेवोपजायते।।''

अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि जो जिस देश का वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है, उससे अलग देश और अंग में उसका उपयोग करने पर वह शोभा नहीं पाता है। अगर कोई कमरधनी को गले में पहन लें तो वो हँसी का ही पात्र बन जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी कुछ इसी तरह से औचित्य को परिभाषित किया है।

''गण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।।
शौर्येण प्रणते रिपौ करूणया नायान्ति के हास्यता।।
मौचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिनो गुणाः ''

अर्थात् कंठ में मेखला, नितम्ब पर दीप्तिमय हार, चरणों पर केयुर धारण करने तथा शरणागत व्यक्ति पर शौर्य एवं शत्रु पर करूणा दिखाने से कौन नहीं हँसता है। अतः यह सही ही कहा गया है कि औचित्य के बिना न अलंकार शोभा देवे है और न गुण ही आकृष्ट कर सकते हैं।

भरत के अतिरिक्त अन्य आचार्य भी औचित्य के महत्व को समझा ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने काव्य और रस के साथ औचित्य का बहुत ही गहरा सम्बन्ध स्थापित किया गया है अतः इस प्रकार हम कह सकते हैं कि औचित्य ही रस का परम रहस्य है। अतः क्षेमेन्द्र ने औचित्य विवेचना का मुख्य आधार भरत और आन्दवर्धन क ेमत को ही बनाया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी है।

उचितं प्राटुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्र।
उचितस्य चयो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात् इस का यह अर्थ यह हुआ कि जो वस्तु जिसके अनुरूप् होती है उसे ही उचित कहा जाता है और उचित का भाव ही औचित्य है।

बोध प्रश्न

- रस को स्थिर जीवन शक्ति देने वाला तत्व किसे मन गया है?

7.3.2 औचित्य के प्रकार

औचित्य क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। आचार्य क्षेनेन्द्र ने काव्य के शूक्ष्म से शूक्ष्म तत्व से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखकर औचित्य पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य में औचित्य के छः भेद बताए गए हैं।

(1) अलंकार औचित्य

(2) गुण औचित्य

(3) संगठन औचित्य

(4) प्रबन्ध औचित्य

(5) रीति औचित्य

(6) रस औचित्य

(1) अलंकार औचित्य:- जहाँ अलंकार के प्रयोग द्वारा कोई वस्तु, भाव या विशेष रूप से प्रभावशील हो उठता है वहाँ अलंकार औचित्य होता है, अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसार ही अलंकार का प्रयोग होना चाहिए जैसे-

'सांझ के सेंदुर लिए आकाश में

सरक आया क्षुधित बादल-व्याल'

इन पंक्तियों में रूपक अलंकार का चमत्कार दिखाया गया है। अतः काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभावित रूप से मुख्य भाव की पुष्टि के लिए किया जाता है।

(2) गुण औचित्य से अभिप्राय यह है कि काव्य में विभिन्न गुणों का समावेश रस के अनुकूल होना चाहिए जैसे ओज का वीर रस में, माधुर्य का श्रृंगार और करूण अतः इन गुणों से सम्पन्न कविता तदनुसार प्रभाव उत्पन्न करेगी।

(3) संगठन औचित्य से चार बातों पर विचार किया जाता है (1) रस का औचित्य (2) विषय का औचित्य (3) वक्ता का औचित्य और (4) वाच्य का औचित्य

सम्यक 'सामासिक पद रचना को संगठन औचित्य कहा जाता है।

(4) प्रबन्ध औचित्य का मतलब यह है कि प्रबन्ध काव्य में प्रख्यात एवं कल्पित कथा का उचित अनुपात होना चाहिए। कोई कथा रस के अनुकूल होनी चाहिए। तथा सभी घटनाएं देश काल स्वभाव आदि के अनुसार होनी चाहिए।

(5) रीति औचित्य के अनतर्गत हम देखते हैं कि विविध गुणों के अनुकूल वैदर्मी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों का प्रयोग होना चाहिए।

(6) रस औचित्य में हम यह देखते हैं कि विभाव अनुभाव संचारी भाव आदि का वर्णन करने में औचित्य का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। मुख्य रस का विवेचन किस प्रकार होना चाहिए, अंग रस किस प्रकार मुख्य रस को विकसित करते हैं, रसों में पारस्परिक विरोध किस प्रकार होता है, कौन सा रस किस रस के साथ किस तरह से मिलता है, यह सारा विवेचन रसौचित्य का विषय है। काव्य को दोषों से मुक्त रख्रे के लिए रसौचित्य की आवश्यकता पड़ती है।

अतः इन विवेचनों से यह स्पष्ट है कि काव्य के निगार्ण में इन सब अनुकूलताओं पर ध्यान देना ही औचित्य है। इसका ध्यान रखने से काव्य में सरसता आती है, उसकी शोभा पढ़ती है, भाव के संप्रेषण में वृद्धि होती है और काव्य सहृदयों के लिए लाभकारी बन जाता है। काव्य के सभी सिद्धान्त अपने स्थान पर भले ही उपस्थित हों, परन्तु यदि उसमें औचित्य का ध्यान नहीं रखा गया है तो ऐसे काव्य काव्य में अनेक काव्य दोषों से युक्त हो जाएगा और उसकी प्रभावोत्पादकता खत्म हो जाएगी।

बोध प्रश्न

- गुण औचित्य से क्या अभिप्राय है?

7.3.3 औचित्य का प्रयोजन

औचित्य काव्य का प्रमुख गुण होता है। औचित्य के बिना कोई भी काव्यशास्त्र का सिद्धान्त अधुरा माना जाता है। औचित्य के बिना न तो कोई समझ ही अच्छी लगती है और न गुण ही। काव्य में वैसे देखा जाए तो किसी एक तत्व का ही महत्व नहीं होता है, बल्कि सभी तत्वों के संतुलन, सामंजस्य और संगति में उचित भाव का होना आवश्यक होता है। औचित्य द्वारा जीवन किस प्रकार सुन्दर और सामंजस्य पूर्ण बनता है - यह व्यंजित होता है। औचित्य ही काव्य के मूल सौन्दर्य का रक्षक है। औचित्य के बिना सौन्दर्य-सौन्दर्य नहीं रहता। काव्य में रस, गुण, अलंकार इन सभी का महत्व तभी होता है, जब ये सभी औचित्य के साथ हो। अतः काव्य के अच्छे ज्ञान के लिए औचित्य सिद्धांत का ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक होता है। काव्य में घटनाओं एवं पात्रों के आयोजन में स्वाभाविकता होने पर ही वह समझ में आता है। अतः उस स्वाभाविकता को जानना ही औचित्य सिद्धांत का उद्देश्य है।

बोध प्रश्न

- काव्य का प्रमुख गुण किसे मन जाता है?

7.3.4 पाश्चात्य चिंतन के संदर्भ में औचित्य विवेचन

जैसा कि हम जानते हैं औचित्य जीवन के विभिन्न पक्षों में महत्वपूर्ण तत्व है। उसी प्रकार साहित्यिक मूल्यांकन के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य साहित्य चिंतन में औचित्य को किस रूप समझा गया है, तथा पश्चिम में औचित्य सिद्धांत जैसा कोई और दूसरा मता है।

औचित्य के दो पक्ष होते हैं - विषयगत औचित्य तथा पद्धतिगत औचित्य, विषयगत औचित्य में जहाँ वर्णण विषय या अन्तर्वस्तु के सन्दर्भ में औचित्य का निर्धारण किया जाता है, वहीं पद्धतिगत औचित्य में रचना में प्रयुक्त शिल्प विधान या शैली और संरचना के औचित्य का विवेचन किया जाता है। इस तरह से देखे तो आई.ए. रिचर्डस के मूल्य सिद्धांत तथा संप्रेषण सिद्धांत दोनों में ही औचित्य की चर्चा की गई है। रिचर्डस का यह मानना है कि कविता का मूल्य इस बात में है िकवह मानसिक चिकित्सा करती है तब वे काव्य के औचित्य को ही रेखांकित कर रहे होते हैं। इसी प्रकार काव्यभाषा के संदर्भ में जब वे भाषा के रागात्मक प्रयोग की बात करते हैं तब उनका आदाय स्पष्ट रूप से यह होता है कि कविता में भाषा के रागात्मक प्रयोग का ही औचित्य होता है।

मार्क्सवादी विचारधारा रचना का महत्व इस बात में मानती है कि रचना सर्वहारा वर्ग में बूर्जुआ वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न करे। शोषण के विरूद्ध विद्रोह ही मार्क्सवाद का मूलमंत्र है। इसीलि मार्क्सवाद के अनुसार इसे संयोजन का भाव भी कहा जा सकता है। औचित्य का काव्य के क्षेत्र में बहुत अधिक महत्व देखा जाता है।

बोध प्रश्न

- मार्क्सवादी विचारधारा क्या है

7.4 : पाठ सार

औचित्य एक सर्वसमावेशी आलोचना सिद्धांत है। इसमें परंपरा और सामायिक स्वीकृति पर विशेष बल दिया गया है। इसके प्रवर्तक आचार्य क्षेमेंद्र ने तो औचित्य को ही काव्य की आत्मा भी घोषित किया है। उनका मत है कि औचित्य के महत्व को बताते हुए क्षेमेन्द्र ने बताया कि काव्य में गुण और अलंकार यदि उचित रूप में पाए जाते हैं तो काव्य के भूषण कहे जाते हैं और यदि ये उचित रूप में नहीं होते हैं तो ये ही काव्य के दूषण बन जाते हैं। अतः हम कहते हैं कि अलंकार और गुण को भूषण बनाने वाला तत्व औचित्य ही है।

7.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं।

- हमने भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य के सिद्धान्त के महत्व को समझा।
- काव्य में औचित्य एक महत्वपूर्ण तत्व है।
- औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र है।
- औचित्य सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे नवीन सिद्धांत है।
- इस सिद्धांत को संस्कृत काव्यशास्त्र का अंतिम सिद्धांत भी कह सकते हैं।
- आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य ही काव्य की आत्मा है।
- औचित्य सिद्धांत के लिए तीन प्रमुख आचार्यों का नाम लिया जा सकता है,
- भरत, आनन्दवर्धन तथा क्षेमेन्द्र।

7.6 शब्द संपदा

1. औचित्य सम्प्रदाय - औचित्य का विवेचन काव्य के संदर्भ में किया गया है। काव्य के संदर्भ में आचार्य क्षेमेंद्र द्वारा प्रवर्तित सिद्धांत औचित्य सम्प्रदाय के रूप में जाना जाता है।

2. सहृदय की अवधारणा - जो दुसरे के दुःख सुख आदि समझने की योग्यता रखता हो

3. मेखला - करधनी,बेल्ट

4 . बिछुआ - पैर में पहने का एक गहना

5 . उपहास - हंसी

6 अलंकर - सजावट,आभूषण

7. औचित्य - यौगता,शुद्धता,

7.7 परीक्षार्थ प्रश्न

खण्ड (अ)

(अ) दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए।

1. औचित्य का अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

2. आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त के कितने भेद माने हैं। स्पष्ट कीजिए।

3. औचित्य सिद्धान्त की उत्पत्ति एवं विकास पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिए।

खण्ड (ब)

(आ) लघु श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. औचित्य सिद्धान्त की मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।

2. औचित्य विवेचन की समस्याओं का वर्णन कीजिए।

3. औचित्य के प्रयोजनों को स्पष्ट कीजिए।

खण्ड (स)

। सही विकल्प चुनिए

1. औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक है -

(क) मामह (ख) आचार्य वामन (ग) आचार्य रूद्रह (घ) आचार्य क्षेमेन्द्र

2. औचित्य सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे -

(क) नवीन सिद्धांत है (ख) पुराना सिद्धांत है

(ग) सरल सिद्धांत है (घ) सही सिद्धांत नहीं है

3. 'औचित्यविचार चर्चा' नामक ग्रंथ किस आचार्य है।

(क) भरतमुनि (ख) दण्डी (ग) मम्मट (घ) औचित्य

।।. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. .....वी शती में आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्य संप्रदाय का विकास हुआ।

2. क्षेमेन्द्र के अनुसार ही काव्य की ..... है।

3. आनन्दवर्धन ने ..... प्रकार के औचित्य की चर्चा की है।

4. काव्य में गुण और अलंकार यदि उचित रूप में पाए जाते हैं तो वे काव्य के .... कहलाते हैं।

।।।. सुमेल कीजिए।

(a) औचित्य संप्रदाय	1 आनंदवर्धन
(b) ध्वनि संप्रदाय	2 क्षेमेन्द्र
(c) रस संप्रदाय	3 भरत

7.8 : पठनीय पुस्तकें

1. भारतीय काव्यशास्त्र, योगेन्द्र प्रताप सिंह

2. भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज, राममूर्ति त्रिपाठी

3. भारतीय काव्यशास्त्र, निशा अग्रवाल

इकाई 8 : पाश्चात्य काव्यशास्त्र :ऐतिहासिक विकास

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 मूल पाठ : पाश्चात्य काव्यशास्त्र :ऐतिहासिक विकास

8.3.1 पूर्वाभास और उद्भव

8.3.2 ग्रीक शास्त्रीय (क्लासिकल) आलोचक : प्लेटो, अरस्तू और लोंजाइनस

8.3.3 सोलहवीं शताब्दी से पहले और उसके बाद

8.3.4 नव्य –शास्त्रीयतावाद

8.3.5 स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) आलोचना

8.3.6 बीसवीं सदी की शुरुआत

8.3.7 बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अब तक

8.4 पाठ सार

8.5 पाठ की उपलब्धियां

8.6 शब्द संपदा

8.7 परीक्षार्थ प्रश्न

8.8 पठनीय पुस्तकें

8.1 : प्रस्तावना

आधुनिक हिंदी आलोचना पर भारतीय काव्यशास्त्र और विशेष रूप से संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा का प्रभाव तो पड़ा ही है,पर पाश्चात्य चिंतन और साहित्यिक विमर्शों का प्रभाव भी कुछ कम नहीं रहा है। यह प्रभाव अनेक आलोचकों पर इतना अधिक रहा है कि उनकी आलोचना दृष्टि को इस परिप्रेक्ष्य के ज्ञान के बिना समझना कठिन है।आचार्य राम चंद्र शुक्ल, डॉ राम विलास शर्मा, नामवर सिंह, डॉ नगेंद्र, अज्ञेय, मुक्तिबोध जैसे प्रमुख हिंदी साहित्यकारों और आलोचकों की आलोचना दृष्टि को सही ढंग से समझने के लिए आपको पाश्चात्य और विशेष रूप से अंग्रेजी काव्य चिंतन तथा चिंतकों के विचारों से परिचित होना होगा। प्लेटो से लेकर देरिदा तक अनेक मूर्धन्य आलोचक हैं जिनको पढे बिना आपकी समीक्षात्मक दृष्टि अधूरी रहेगी। इसलिए इस इकाई में आप पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करेंगे। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के उद्भव के निशान ईसा के आठ शताब्दी पूर्व ही मिलने लगते हैं। होमर और हेसिओड जैसे महाकवियों के काव्य में पाश्चात्य काव्य शास्त्रीय

चिंतन के प्रारम्भिक बिन्दु मिलने लगते हैं। प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस, वड्र्सवर्थ, कॉलरिज़,क्रोचे, टी एस इलियट, और आई ए रिचड्र्स आदि के सिद्धांतों से चलकर आप नई समीक्षा, मार्क्सवादी समीक्षा, यथार्थवाद, जादुई यथार्थवाद, आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता से रु-ब-रु होंगे। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की अनेक प्राचीन और नवीन प्रमुख संकल्पनाओं से परिचय प्राप्त करते हुए उनकी हिंदी साहित्य समीक्षा में उपयोगिता को देखते हुए आगे बढ़ेंगे।"पाश्चात्य काव्यशास्त्र : ऐतिहासिक विकासक्रम" इकाई का खास सरोकार पश्चिमी ज्ञान परंपरा के प्रमुख प्रस्थान बिंदुओं को देखते हुए और उन पर गौर करते हुए आगे बढ़ना है। आप तभी तो इसके अंतर्गत रेखांकित की जा रही अवधारणाओं, संकल्पनाओं और सिद्धांतों को स्पष्ट समझते हुए हिंदी आलोचना पर इनके प्रभावों का विश्लेषण कर सकेंगे।

8.2 : उद्देश्य

इस इकाई के पाठ से आप

- पश्चिमी ज्ञान परंपरा के प्रमुख सिद्धांतकारों का परिचय प्राप्त करेंगे
- पश्चिमी काव्यशास्त्रीय परंपरा के प्रमुख प्रस्थान बिंदुओं को चिन्हित कर सकेंगे
- विविध आलोचकों की आलोचनात्मक दृष्टि को समझ सकेंगे
- पाश्चात्य साहित्य चिंतन का अद्यतन और विश्लेषणात्मक परिदृश्य देख सकेंगे
- पाश्चात्य काव्यशास्त्र की अनेक संकल्पनाओं से रु-ब-रु हो सकेंगे।

8.3 : मूल पाठ : पाश्चात्य काव्यशास्त्र :ऐतिहासिक विकास

8.3.1 पूर्वाभास और उद्भव

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी पहले साहित्य आया और बाद में शास्त्र। कला और विज्ञान के दूसरे रूपों की तरह से ही पाश्चात्य काव्य शास्त्र का आरंभ भी यूनान में ही हुआ। पाश्चात्य साहित्य की सबसे पुरानी मिसाल होमर नामक कवि का काव्य है। होमर ईसा से पहले की आठवीं सदी में रहा होगा और उनके महाकाव्य उनके जमाने के भी दस्तूर को दिखाते हैं। होमर के दो महाकाव्यों इलियड और ओडीसी में मुश्किल से कोई काव्य सिद्धांत मिलेगा किन्तु वे यह जरूर कह देते हैं कि कविता दैवी प्रेरणा से प्राप्त होती है (ठीक वैसे ही जैसा संस्कृत के कवि वाल्मीकि अपनी 'रामायण' में कहते हैं)। दूसरी बात जो होमर मानते हैं वह है कविता का प्रयोजन। वे कहते हैं कि कविता का प्रयोजन आनंद है, कोई शिक्षा या तालीम देना इसका कोई मकसद नहीं। होमर के बाद कविता की जगह यूनानी नाटकों का वक्त आता है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक अनेक हास्य-नाटक लिखे गए। एरिस्टोफेनीज़ के एक नाटक 'फ्रॉग्स' (मेंढक)को ही देखें तो उसमें अपने जमाने के लिए उपहास और घृणा भरी है। इस नाटक में दो नाटककारों

एस्काइलस और यूरिपाइडीज़ के बीच तीखी नोकझोंक है। इन दोनों के वाद विवाद से इस नाटक में दो बातें उभर कर आती हैं –

1. काव्य वस्तु और काव्य भाषा का आपस में गहरा रिश्ता है।
2. काव्य की वस्तु और काव्य की भाषा गैरमामूली होनी चाहिए।

बोध प्रश्न

- होमर कविता के संबंध में कौन सी दो बातें मानते हैं?
- यूनानी नाटकों में काव्य के संबंध में क्या कहा गया है?

8.3.2 ग्रीक शास्त्रीय (क्लासिकल) आलोचक : प्लेटो, अरस्तू और लोंजाइनस

ईसा से पहले तीसरी –चौथी सदी में प्लेटो-अरस्तू जैसे दार्शनिकों और डायोनीसियस और लोंजाइनस जैसे आलंकारिकों ने इन प्रश्नों को बड़ी गंभीरता से उपरोक्त प्रश्नों को उठाया। यहीं से पाश्चात्य काव्य शास्त्र का बाकायदा विकास शुरू हुआ। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि भारतीय काव्यशास्त्र से बिल्कुल अलग भी है और मिलती जुलती भी। भारतीय काव्यशास्त्र का सिलसिलेवार अध्ययन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से हुआ। वे रस और सुखांत नाटकों को केंद्र में रखकर बात कर रहे थे। दूसरी ओर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ यूनान में हुआ जिसमें प्लेटो और अरस्तू भी कमोबेश नाटक और दुखांत नाटकों के प्रभाव से चिंतन का प्रारंभ करते दिखाई देते हैं।

चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के पहले दशक में लिखा गया प्लेटो का "आयन" सबसे पुराना मौजूदा पाश्चात्य लेखन है जो जानबूझकर, औपचारिक रूप से और विशेष रूप से साहित्यिक आलोचना के सामान्य मसले को संबोधित करता है। यह संवाद कुछ सवाल खड़े करता है: (1) एक कविता क्या कहती है जो सुनने लायक है? और (2) आलोचना क्या कहती है? प्लेटो के समय से लेकर आज तक साहित्यिक आलोचना और सिद्धांत का पूरा पाश्चात्य क्रम इन प्रश्नों के सटीक उत्तर देने में कमोबेश लगा हुआ है।

प्लेटो – प्लेटो (अफलातून) का जन्म 427 ईस्वी पूर्व यूनान में हुआ था। वे उपयोगितावाद के संस्थापक सुकरात के होशियार और होनहार शिष्य थे और अरस्तू उनके बेमिसाल शिष्य थे। जो काम सुकरात ने तकरीरे देकर किया, वही काम प्लेटो ने लिखकर किया। उन्होंने भी अपना लेखन अपने गुरु की शैली पर, संवाद और बातचीत की तरह किया। उनके लेखन में सारे उत्तर सुकरात देते हैं, प्लेटो कहीं नहीं हैं। प्लेटो आलोचक नहीं बल्कि दार्शनिक हैं। उन्होंने आलोचना पर स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं लिखा और उनके विचार अनेक संवादों में बिखरे मिलते हैं। त्रासदी की संकल्पना, अनुकरण आदि पर उनके विचार बेहतरीन हैं। कविता और कवि से वे बहुत उम्मीद रखते थे, और जब कवि और उनकी कविता उनकी उम्मीद से कमतर

निकलती थी तो वे नाराज हो जाते थे। प्लेटो की कृति 'आयन' में शुद्ध प्रेरणा के रूप में कविता की उनकी धारणा के बारे में पता चलता है। इस तरह के विचार ने उनकी दृष्टि में कवि को सामान्य से असामान्य बना दिया और उसे एक प्रोफेट और एक पागल व्यक्ति के बीच खड़ा कर दिया। प्लेटो के विचार उनकी एक अन्य पुस्तक "द रिपब्लिक" में बदलते हैं जिसमें वे कहते हैं कि कवि का नैतिक उत्तरदायित्व है। यूँ तो कविता के प्रति प्लेटो की आपत्तियां संयोगवश ही सामने आई हैं पर उनका यह वक्तव्य आलोचना के इतिहास में एक प्रमुख दस्तावेज है। 'रिपब्लिक' उनकी प्रतिनिधि रचना है जिसमें न्याय, नगर, तथा न्याय प्रिय व्यक्ति की चर्चा है। काव्य के संबंध में उनका मत है कि 'कविता जगत की अनुकृति है, जगत स्वयं अनुकृति है, अतः कविता सत्य से दुगुनी दूर है। वह भावों को उद्वेलित कर व्यक्ति को कुमार्ग पर ले जाती है। इसलिए कविता अनुपयोगी है और कवि का महत्व एक मोची से भी कम है।" एक व्यक्ति के रूप में कवि और उसके बयान के रूप में कविता दोनों ही प्लेटो को अविश्वसनीय लगते थे। उनके अनुसार कवियों ने भौतिक जगत को पारलौकिक विचारों और कविता की प्रतिलिपि के रूप में एक अपूर्ण प्रति के रूप में चित्रित किया था। इस प्रकार साहित्य सत्य के साधक को केवल भटका भर सकता है। प्लेटो ने कवि को दैवीय प्रेरणा का श्रेय दिया, लेकिन यह भी उनकी चिंता का कारण था कि इस तरह के पागलपन से ग्रसित व्यक्ति एक तर्कसंगत राजनीति के हितों को नष्ट कर देगा। इसलिए कवियों को उन्होंने अपने काल्पनिक गणतंत्र से निर्वासित किया जाना ठीक समझा।

प्लेटो के खिलाफ कविता की किसी भी रक्षा को पहले उस ज्ञानमीमांसीय तर्क का मुकाबला करना था कि कविता हीन है क्योंकि यह एक नकल की नकल है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) ने अपनी पुस्तक "द पोएटिक्स" में कविता का बदस्तूर बचाव किया। अरस्तू की साहित्य की परिभाषा कविता के गुणों को सामने लाती है, इसके अच्छे कार्य को प्रदर्शित करती है और उस कार्य के संदर्भ में इसके मूल्य का आकलन करती है और इसे उन लोगों के विरुद्ध प्रमाणित करती है जो इसे बेकार या अनैतिक मानते हैं।अरस्तू ने कहा कि साहित्य हमें अंदरूनी ताकत देता है। प्लेटो यदि समाज के लिए फायदेमंद साहित्य चाहते हैं, अरस्तू आनंद को प्रधानता देते हैं।अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के अनुकृति शब्द की व्याख्या की और एक वाजिब सवाल उठाया कि दुखांत नाटक द्वारा आनंद की प्राप्ति कैसे होती है। इसी के जवाब में वे 'विरेचन' का सिद्धांत देते हैं।

इसी तरह लोंजाइनस (ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी) पाठक या श्रोता को एकरस या तन्मय कर देना ही काव्य का लक्ष्य मानते थे।उन्होंने प्लेटो और अरस्तू से अलग सवाल खड़े किये और अपनी पुस्तक 'ऑन द सबलाइम" में काव्य को समझने की एक भिन्न दृष्टि रखी। उन्होंने एक नए पारिभाषिक शब्द 'उदात्त' को आगे बढ़ाया। अरस्तू के विचारों को स्वीकार

करते हुए कि कविता से अपना एक विशेष आनंद प्राप्त किया जाता है, लोंजाइनस ने अपना ध्यान पाठक या दर्शकों पर इसके आनंददायक प्रभाव की ओर लगाया। लोंजाइनस ने साहित्य के पहले 'भावात्मक' सिद्धांत का प्रस्ताव किया। उनका मानना है कि पाठक या श्रोता के आत्मनिरीक्षण से किसी साहित्यिक कृति के मूल्य का आकलन किया जा सकता है: यदि वह किसी रचना की भव्यता और जुनून से बहक जाता है, ले जाया जाता है, आनंदित हो जाता है, तो वह कृति श्रेष्ठ है। यह कहना सही नहीं है कि ये केवल प्रभाववादी आलोचक हैं जो साहित्य को विशुद्ध रूप से व्यक्तिपरक शब्दों में आंकते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि, "साहित्य का निर्णय परिपक्व अनुभव का अंतिम फल है।" वह यह भी कहते हैं कि महान साहित्य पाठक को एक बार नहीं बार-बार जगाता और मंत्रमुग्ध करता है।

इन समीक्षकों के साथ पश्चिम की काव्यशास्त्रीय समीक्षा आरंभ होती है। यहाँ रोमी काव्य शास्त्र की बात न कर आगे बढ़ जाना आपको ठीक न लगेगा। रोमी काव्यशास्त्र का भी कुछ योगदान है और इसे नकारना भी नहीं चाहिए। उन्होंने यूनानियों की नकल जरूर की फिर भी उन्होंने अपने सबसे अच्छे और प्रतिनिधि काव्य शास्त्री होरेस की पुस्तक 'आर्स पोएतिका' (काव्य –कला) द्वारा अपना किंचित योगदान अवश्य दिया।

बोध प्रश्न

- प्लेटो के सिद्धांतों को उनके शिष्य ने क्यों और कैसे खारिज करने की कोशिश की?
- लोंजाइनस की प्रमुख स्थापना क्या है?

8.3.3 सोलहवीं शताब्दी से पहले और उसके बाद

ईसाई मध्य युग में आलोचना लगभग सभी प्राचीन आलोचनात्मक ग्रंथों की अनुपलब्धता और साहित्यिक कल्पना के एक विरोधी अविश्वास से भरी रही थी। टर्टुलियन, ऑगस्टाइन और जेरोम जैसे चर्च के कर्ता धर्ताओं ने चर्च की आड़ में कविता के खिलाफ प्लेटोनिक तर्क का आश्रय लिया।यहां तक कि 14वीं शताब्दी के मौलिक देशी कवि दांते ने भी अपेक्षा की थी कि उनकी रचना 'डिवाइन कॉमेडी' की व्याख्या धर्म-शास्त्र के नियमों के अनुसार की जाए।पुनर्जागरण के समय में क्लासिक ग्रंथों की पुनर्प्राप्ति से आलोचना के क्षेत्र में हलचल हुई। विशेष रूप से 1498 में अरस्तू के पोएटिक्स के लैटिन में जियोर्जियो वल्ला के अनुवाद से लोगों का ध्यान गया। 1549 तक पोएटिक्स का इतालवी में भी अनुवाद किया गया था। इस अवधि से लेकर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक अरस्तू एक बार फिर चर्चा के केंद्र में आ गए।इतालवी और फ्रांसीसी पुनर्जागरण के विचारों को इंग्लैंड में रोजर एसोचैम, जॉर्ज गैसकोइग्ने, सर फिलिप सिडनी और अन्य विद्वानों द्वारा ले जाया गया।

जिन परिस्थितियों में "द पोएटिक्स" को फिर से खोजा गया और पुनर्जागरण में इस्तेमाल किया गया और सोलहवीं शताब्दी के इतालवी मानवतावादियों द्वारा इस पुस्तक का अनुवाद किया गया, इसका मतलब था कि सिडनी के लिए, अरस्तू के तर्क एक खास संदर्भ में उपलब्ध थे। इसने उन्हें अरस्तू के इरादे के मुताबिक़ नहीं बल्कि कोई दूसरा ही अर्थ दिया। सैद्धांतिक आलोचना (या साहित्यिक सौंदर्यवाद) पहली बार इंग्लैंड में सिडनी सर्कल में 1570 के दशक में स्पेनिश और इतालवी आलोचकों जैसे विवेस और जे सी स्केलिगर के प्रभाव में फैली। सिडनी के आलोचनात्मक निबंध 'द डिफेंस ऑफ पोइज़ी' (1595) का मुख्य सरोकार प्यूरिटन (शुद्धतावादी) द्वारा कविता के खिलाफ लाए गए आरोप के खिलाफ कविता का बचाव करना था कि कविता अनैतिक, दुर्बल करने वाली, झूठ बोलने वाली और अय्याशी के लिए उकसाने वाली थी। सिडनी की 'डिफेंस' के अनेक विवरण अंग्रेजी साहित्यिक आत्म-चेतना और साहित्यिक इतिहास की प्रगति में एक प्रारंभिक मील का पत्थर हैं। अरस्तू का काव्यशास्त्र कविता के लिए स्वतंत्रता की घोषणा के साथ-साथ उसका औचित्य भी रहा है। किन्तु सिडनी पहले (स्वतंत्रता) की कीमत पर बाद वाले (औचित्य) को प्राप्त करने पर ही संतुष्ट हो जाते हैं।सिडनी की 'डिफेंस ऑफ पोइज़ी ' (1595) ने दार्शनिक और इतिहासकार के सामने कवि की श्रेष्ठता के पक्ष में जोरदार तर्क दिया कि कवि की कल्पना न तो बेजान अमूर्तता से बंधी है और न ही वास्तविकताओं से। कवि "न केवल रास्ता दिखाता है, बल्कि रास्ते में इतनी प्यारी संभावना देता है, जो किसी भी आदमी को उसमें प्रवेश करने के लिए लुभा ले।"

नई रोशनी का इंग्लैंड में कम प्रभाव रहा या कहें कि आंशिक रूप से प्रभाव रहा क्योंकि अंग्रेजी शुद्धतावाद ने धर्मनिरपेक्ष कला में मूल ईसाई धार्मिक सोच को जीवित रखा था। अंग्रेजी लेखक पूरी तरह से कोर्ट-उन्मुख संभ्रांत फ्रेंच की तुलना में बाजारू चटखारों के करीब थे, और उनके सामने बस शेक्सपियर का उदाहरण था जिसने जिसने बड़े शानदार ढंग से सभी नियमों को तोड़ा।एलिज़ाबेथ के युग के साहित्य के महानतम चरण की दहलीज पर, शेक्सपियर के छा जाने से बात कुछ दूसरी तरफ चली गई थी। जबकि बेन जॉनसन अपनी "टिम्बर" या डिस्कवरीज़ ' (1641) को लिखते जा रहे थे। यह लेखन साहित्य और लेखकों पर टिप्पणियों की एक श्रृंखला मात्र न था बल्कि व्यावहारिक आलोचना पर उल्लेखनीय लेखन था। बेन जोनसन ने अपने 'टिम्बर' में उन सामान्य सिद्धांतों को भी नोट किया, जो उन्हें क्विंटिलियन और सिसरो जैसे शास्त्रीय लेखकों से और डच आलोचक डैनियल हेन्सियस से मिले थे। जोनसन सर्वश्रेष्ठ प्राचीन लेखकों के अध्ययन, अभ्यास, अनुकरण की वकालत करते हैं। विधायी आलोचना, जो

कवि को यह सिखाने का दावा करती है कि कैसे लिखना है और कैसे बेहतर लिखना है, इस युग की मानक आलोचना थी। हाँ, सिडनी निरे अपवाद थे।

इस तरह की आलोचना सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैंड पर हावी हो गई और सत्रहवीं के दौरान उसका अवसान तब हुआ जब ड्राइडन ने बदलाव की बात पेश की। जॉन ड्राइडन (1631-1709) वर्णनात्मक आलोचना का प्रयास करने वाले पहले अंग्रेज थे और उन्हें सैमुअल जॉनसन द्वारा 'अंग्रेजी आलोचना का जनक' कहा जाता है। 1668 में उनका 'ड्रामेटिक पोइज़ी' पर निबंध काव्य नाटक की प्रकृति पर संवाद का एक रूप है जो शास्त्रीय, आधुनिक, फ्रेंच, एलिजाबेथन और रेस्टोरेशन युग के नाटकों की पारस्परिक तुलना करता है।

ड्राइडन ने 'फेबल्स'(1700) की भूमिका में अपनी इतिहास के प्रति समझ को पेश किया जिसका पहला कोई उदाहरण नहीं मिलता। इस भूमिका में साहित्यिक इतिहास की एक नई परम्परा का सूत्रपात हुआ, यद्यपि इसको परवान चढाने का काम एक सदी के बाद सैमुएल जॉनसन से किया।

बोध प्रश्न

- फिलिप सिडनी का मुख्य सरोकार क्या था?
- ड्राइडन को अंग्रेजी आलोचना का जनक क्यों कहते हैं?

8.3.4 नव्य –शास्त्रीयतावाद

सामान्य तौर पर समूचे पुनर्जागरण को नव्यशास्त्रीय काल के रूप में माना जा सकता है, जिसमें प्राचीन कृतियों को अनुकरणीय मॉडल मान लिया गया था। ईसा पूर्व सन 65 के रोमी कवि और आलोचक होरेस ने कहा था कि साहित्यकार को प्राचीन सिद्धांतों और श्रेष्ठ काव्यों का अनुसरण करना चाहिए। पुनर्जागरण काल में यह सोच खूब चली,किन्तु जैसे जैसे समय बीता; कविता में बनावटीपन ज्यादा हो गया और कवियों का हौसला पस्त होने लगा। इस काल में आलोचना में एक तार्किक उबाऊपन है। कविता में वैयक्तिक स्वतंत्रता न रही और न कोई स्वानुभूति की बात करता था। जो था वह केवल दिखावा था। नवीनता का विरोध, प्राचीनता का आग्रह रहा। शास्त्रीयतावाद में मनुष्य ही सभी वस्तुओं के केंद्र में है (द प्रोपर स्टडी ऑफ मैन्काइन्ड इज मैन –पोप) किन्तु वह आदमी कोई आम आदमी नहीं,संभ्रांत वर्ग से है।

नव्य –शास्त्रीयतावाद में शैली के साथ-साथ निर्णय की बेबाकी का अभाव है जो ड्राइडन की आलोचना में था। फिर भी यह उनके द्वारा की गई क्रांति को मजबूत करता है और कई मोर्चों पर आगे बढ़ता है। ये आलोचक फ्रेंच को खूब कोसते हैं और ड्राइडन द्वारा सुझाई गई ऐतिहासिक दृष्टि को आगे बढ़ाते हैं। अलेक्जेंडर पोप आलोचक की सहायता के लिए साहित्यिक विद्वता के बहुत ऊँचे दर्जे की मांग करता है। वह होमरिक आलोचकों को उनके अनाकर्षक निर्णयों के लिए

धिक्कारता है। 1700 के बाद के आलोचक आमतौर पर जानते हैं कि अतीत की भावना आलोचकों के उपकरणों का एक उपयोगी हिस्सा हो सकती है। पोप का एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म (1711), सिडनी की 'डिफेंस' जैसी आलोचकीय कृति की तरह कविता की प्रकृति और मूल्य की जांच नहीं है, बल्कि सामान्यीकरण की एक श्रृंखला है जिसमें किसी आलोचक को कैसा होना चाहिए यह बताया गया है। वे अति उत्साह में भर कर अरस्तू से लेकर न जाने कितने आलोचकों की आलोचना किये जा रहे थे। यह खुद की कविता की विनाशकारी आलोचना को रोकने के लिए एक महत्वाकांक्षी युवा कवि का उद्यम है।

ऑगस्टन युग के आने के साथ, आलोचना के लिए एक नए सार्वजनिक उत्साह का उदय हुआ। ड्राइडन को ऐसी जनता कभी पसंद नहीं आई। क्वीन ऐनी के इंग्लैंड में साहित्यिक कृतियों का विवेचन विश्लेषण एक फैशनेबल गतिविधि के रूप में शुरू हुआ। 1712 के 'स्पेक्टेटर' में एडिशन के आलोचनात्मक निबंध जो बहुत लोकप्रिय थे, सुझाव देते हैं कि एक नए प्रकार का आलोचनात्मक बाजार कविता पर विधायी ग्रंथों के प्रति अधीर हो रहा था। एडिशन के द्वारा अंग्रेजी आलोचना के साथ कुछ महत्वपूर्ण हुआ। यह पाठक को सलाह और मदद करने के बहाने कवि की रचना प्रक्रिया में खुली दखलंदाज़ी थी। पाठकों के बारे में आलोचकों का रुझान था,कवि का जिक्र कम था। कैसे पाठक हों यह बताया जा रहा था, कवि कैसा हो या उसकी कविता कैसी हो इसका कोई ध्यान न था। पाठकों में सहज और शालीन लेखन का रस पान करने की रूचि पैदा करने के लिए आलोचक लेखन करें। नतीजा यह हुआ कि अनेक समकालीन मेटाफिज़िकल कवियों पर एक पंक्ति तक न लिखी गई और उपन्यास पर भी किसी का ध्यान न गया। रॉबिंसन क्रूसो (1719) के प्रकाशन के बावजूद उपन्यास कला पर तब तक कोई बात न हुई जब तक खुद उपन्यासकार हेनरी फीलिंडंग ने कुछ न लिखा। पर वे उपन्यास लेखन में ज्यादा लगे रहे और समीक्षा उनसे छूट गई। उनकी आलोचना दृष्टि उनके तीन उपन्यासों की भूमिकाओं में सिमटकर रह गई। पर उन्होंने उपन्यास को एक बेहतर जगह दिलाने की असफल कोशिश जरूर की।

सैमुअल जॉनसन (1709-84) की आलोचनात्मक कृति 'लाइव्स ऑफ़ द पोएट्स' अंग्रेजी आलोचनात्मक परंपरा की नींव के रूप में विद्यमान है। जॉनसन के साथ अंग्रेजी आलोचना ने एक नया आयाम हासिल किया। उन्हें अडिग नव-शास्त्रीय आलोचकों में से अंतिम माना जाता है, लेकिन यह उनकी पद्धति को पूरी तरह से गलत समझने की वजह से है। डॉ जॉनसन कोई रोमांटिकवादी नहीं हैं। बल्कि वह पहले महान आलोचकों में से एक हैं, जिन्होंने कला की प्रकृति को समझना लगभग बंद कर दिया है, और जो कला को जीवन मानते हैं। उन्होंने कला में विश्वास खो दिया है क्योंकि शास्त्रीय आलोचकों ने इसे समझा और रोमांटिक विश्वास नहीं पाया। वे एक ऐसे दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त करते हैं जो कला को वास्तव में अनावश्यक बनाता

है। शेक्सपियर के अपने संस्करण की प्रसिद्ध प्रस्तावना में उनका यह नया दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रूप से सामने आता है।

बोध प्रश्न

- शास्त्रीयतावाद क्या है?
- नव्य या नव शास्त्रीय या अगस्टन आलोचकों ने किसकी परवाह ज्यादा की और क्यों?

8.3.5 स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) आलोचना

शास्त्रीयतावादी परंपरा को महत्व देते थे। वे मनुष्य को केंद्र में रखकर साहित्य को देखते थे। पर सत्रहवीं शताब्दी के जाते जाते स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) युग की शुरुआत पूरे यूरोप में हुई। दुनिया बदल रही थी। सोच विचार बदल रहे थे। औद्योगीकरण ने लोगों को सुविधाओं के साथ-साथ परेशानियाँ भी खूब दीं। आलोचकों और कवियों ने शास्त्रीयतावाद की अति बुद्धिवादी सोच को बदलते हुए रोमांटिक प्रवृति को बेहतर पाया। नव्य शास्त्रीयवाद का पतन शायद ही आश्चर्यजनक लगेगा।। कोई नया साहित्यिक सिद्धांत इन दो शताब्दियों के दौरान बहुत कम विकसित हुआ था। बस पुरानी बातों का दुहराव था।। रही सही कसर 'उपन्यास' के आगमन ने पूरी कर दी। स्वच्छंदतावाद की विशेषता थी- स्वतंत्रता, वैयक्तिकता, व्यक्तिनिष्ठता, और भावुकता का बहिष्कार। स्वच्छंदता वादी साहित्यकारों ने आडंबर का विरोध किया और काव्य की मुक्त और स्वच्छंद अभिव्यक्ति पर खासा जोर दिया। फ्रांस से चलकर यह यूरोप में फैला। स्वच्छंदतावाद, एक ऐसा आंदोलन था जो 19वीं शताब्दी की शुरुआत में जर्मनी और इंग्लैंड में शुरू हुआ, और कुछ समय बाद फ्रांस, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका में फैल गया। इंग्लैंड में सैमुअल टेलर कॉलरिज, फ्रांस में मैडम डी स्टाल और विक्टर ह्यूगो, इटली में एलेसेंड्रो मंज़ोनी और संयुक्त राज्य अमेरिका में राल्फ वाल्डो एमर्सन और एडगर एलन पो इसके प्रारम्भिक प्रवक्ता थे।

अंग्रेजी साहित्य में वर्डसवर्थ और कॉलरिज ने 'मनुष्य' के साथ 'प्रकृति' को भी समाहित किया। ये दोनों कवि तो थे ही, काव्य मर्मज्ञ भी अव्वल दर्जे के थे। सन 1800 में इनके काव्य संग्रह 'द लिरिकल बैलेडस' का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसकी लंबी भूमिका को आप स्वच्छंदतावादी आंदोलन का मेनिफेस्टो कह सकते हैं। इसमें उन्होंने शास्त्रीयतावादी मान्यताओं का खंडन करते हुए अपनी स्वच्छंदतावादी दृष्टि को प्रस्तुत किया। यह भूमिका मुख्यतः वर्डसवर्थ ने लिखी थी। यही नहीं उनके मित्र कॉलरिज की संग्रह में भी बहुत कम कविताएं थीं। उन्होंने पाया कि वर्डसवर्थ की कुछ मान्यताएं अजीब हैं तो उन्होंने 1817 में अपनी तरफ से एक किताब 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' लिखकर अपना अलग मत दिया।

फिर भी वर्डसवर्थ की इस भूमिका का कोई सानी नहीं है। उन्होंने कविता के लोकतंत्र को स्थापित किया, कविता की अपनी परिभाषा दी, और काव्य-भाषा पर अछूते विचार प्रस्तुत किये।दूसरी ओर कॉलरिज ने अपनी मौलिक प्रतिभा से अपनी अलग पहचान कायम करते हुए कल्पना, फैंसी (रम्य कल्पना) के साथ साथ काव्य भाषा और कवि और कविता पर विचार व्यक्त किये। उनका कोई अपना संप्रदाय नहीं, वे खुद ही एक संप्रदाय हैं। इनका काव्य और कविता के बीच अंतर करना अनूठा प्रयोग है। यह कल्पना ही तो है जिसने हिंदी के छायावादी कवि जय शंकर प्रसाद जी से लिखवाया ' खिला हो ज्यों बिजली का फूल'। यह बात भी गौरतलब है कि अंग्रेजी साहित्य संसार में स्वच्छंदतावाद का समय सन 1798 से 1835 ईस्वी तक का है और इससे कुछ प्रभावित हिंदी साहित्य का छायावाद का समय 1918 से 1936 का है। दोनों का फ़ासला सौ बरस का है फिर भी दोनों के बीच कई समानताएं हैं। ये दो तो जैसे जुड़वा हैं ही; दूसरे भी हैं और खूब हैं,जैसे पी बी शैली और जॉन कीट्स। वर्डसवर्थ को छोड़कर ये सब कवि भरी जवानी में ही चल बसे थे पर आज भी इन्हें कोई भूला नहीं है। इन्होंने आम इंसान के सुख-दुख के साथ प्रकृति और प्रेम पर लिखा और सौन्दर्य तथा कल्पना को अपने काव्य का विषय बनाया। चार्ल्स लैम्ब, विलियम हैजलिट् और टॉमस द क्वीनसी आदि ने भी अपनी हाज़री दी और पाठकों को सतर्क और कुशाग्र बनाने में मदद की।

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मैथ्यू आर्नोल्ड ने अपने निबंधों और ऑक्सफोर्ड में दिए गए भाषणों से साहित्य और संस्कृति के गठबंधन का प्रयत्न किया और एक ऐसे भविष्य की कल्पना पेश की जब कविता धर्म और दर्शन की जगह ले लेगी। कार्लाइल, न्यूमैन तथा रस्किन कुछ दूसरे नाम हैं जिन्होंने नैतिकता पर जोर दिया। दूसरी तरफ ऑस्कर वाइल्ड ने घोषणा की कि सब कला निष्फल है। अर्थात उसका काम केवल आनंद देना है, आदर्श आदमी का निर्माण करना नहीं। वाल्टर पेटर ने यह माना कि साहित्य वस्तुतः गैरजरूरी जरूरत है।

19वीं शताब्दी के अंत में, विशेष रूप से जर्मनी, इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका में, साहित्यिक अध्ययन "डॉक्टरेट स्तर पर" शोध के लिए एक अकादमिक अनुशासन बन गया। भाषाविज्ञान, लोककथाओं का अध्ययन, और बाइबिल की आलोचना के लिए तैयार किए गए शाब्दिक सिद्धांतों ने पाठ्यचर्या संबंधी दिशा-निर्देश प्रदान किए, जबकि अकादमिक जगत ने रचनाकार की भावना की गुणवत्ता के लिए प्रचलित प्रभाववादी चिंता को प्रतिबिंबित किया। फ्रांसीसी आलोचक हिप्पोलीटे तेन का अंग्रेजी साहित्य का इतिहास (फ्रेंच में प्रकाशित, 1863-69) वैज्ञानिक दृष्टि को आगे बढ़ता है। तेन के लिए किसी साहित्यिक कृति की व्याख्या जाति, परिवेश और क्षण-विशेष के संदर्भ में की जा सकती है जिसने उसे उत्पन्न किया। उसी तरह के

बड़े आलोचकों में फ्रांस में चार्ल्स सैंटे-बेउवे, इटली में बेनेडेटो क्रोचे और इंग्लैंड में जॉर्ज सेंट्सबरी आदि रहे। क्रोचे यह मानते थे कि कलाकार बहुत खास होता है और उसे किसी बाहरी दबाव या नियम की जरूरत नहीं। वे इटली के आत्मवादी दार्शनिक थे जिन्होंने आत्मा की विशिष्ट क्रिया के रूप में सौन्दर्य के सिद्धांत की विवेचना की। यूँ तो क्रोचे के काव्य सिद्धांत मूलतः सौन्दर्य शास्त्र के क्षेत्र से निकले थे फिर भी उनका यह कहना काबिले-गौर है कि कलात्मक सृजन का अनुभव सहजानुभूति की क्रिया है जो मन में ही पूर्णता को प्राप्त कर लेती है और कलाकार उसकी ओर विशुद्धतम आत्म-सुख के कारण प्रवृत्त होता है।

बोध प्रश्न

- स्वच्छंदतावाद कैसे शास्त्रीयतावाद से भिन्न है?
- पाश्चात्य स्वच्छंदतावाद और हिंदी के छायावाद में क्या और कैसा संबंध है?

8.3.6 बीसवीं सदी की शुरुआत

साहित्यिक आलोचना के बारे में वर्तमान विचार लगभग पूरी तरह से बीसवीं सदी की शुरुआत में ली गई नई दिशा से निकले हैं। बीसवीं शताब्दी का आरंभ देखना अब इक्कीसवीं शताब्दी के दो दशक से अधिक बीत जाने पर उतना धुंधला और अस्तव्यस्त नहीं दिखाई देता जितना तब दिखाई देता था। प्रत्येक साहित्यकार और आलोचक जल्दबाजी में दिखाई देता था। कोई न कोई सिद्धांत और वाद हर साल सामने आ जाता था। सदी की शुरुआत में रूसी रूपवादी आलोचना के नाम से जाना जाने वाला आलोचना का स्कूल, और उन्ही दिनों ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यू क्रिटिसिज्म दुनिया में साहित्य के अध्ययन और चर्चा पर हावी हो गई। दोनों स्कूलों ने ग्रंथों के गहन अध्ययन पर जोर दिया, इसे किसी भी लेखक के बारे में सामान्य चर्चा और अटकलों से ऊपर उठाया। लेखक के मनोविज्ञान या जीवनी के बारे में कुछ भी नहीं कहना चाहिए जो लगभग वर्जित विषय बन गया था। इन आलोचनात्मक सिद्धांतों के गुज़र जाने के बाद भी इनके निशान आज तक मौजूद हैं।

हेनरी जेम्स ने उपन्यास भी लिखे और 1907-9 में उपन्यासों की भूमिकाओं में उनका सिद्धांत विवेचन भी झलका। उनका 'रूप या 'फोर्म' पर बल देना और उनका यह कहना कि 'कला कुछ नहीं यदि यह उदाहरणीय नहीं है" आपको हेनरी फील्डिंग की याद दिला देगा। प्रभाववाद, अतियथार्थवाद, बिंबवाद आदि सिद्धांतों के पहल की। अमेरिका में भी कट्टर नीतिवादी विचारक इरविंग बैबिट ने एक गंभीर आलोचनात्मक संवाद शुरू किया। टी ई ह्यूम ने भी आलोचना में नैतिकता का दामन थामा।

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में टी एस इलियट, आई ए रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन और एफ आर लेविस उल्लेखनीय हैं।अमेरिकी आलोचक जे ई स्पिनगार्न ने 1910 में "नई समीक्षा"

(न्यू क्रिटिसिज़्म) शब्द का प्रयोग किया। 1918 के पश्चात कैंब्रिज विश्वविद्यालय के कुछ विद्वानों ने तत्कालीन 'प्रशंसात्मक आलोचना परिपाटी' को वक्त की बर्बादी मानकर कुछ बेहतर कर दिखाने की सोची। आइ ए रिचर्ड्स की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' 1929 में आई। वे आधुनिक भाषावैज्ञानिक विश्लेषण के जनक ए जे आयेर के शिष्य थे और हिंदी के आचार्य राम चंद्र शुक्ल से लेकर अज्ञेय तक उनके भक्त रहे।कैंब्रिज के आलोचकों ने 'विश्लेषण' शब्द का प्रयोग एक नए तरीके से किया। वे व्याकरण के रूढ़िवादी नियमों से संबंधित नहीं थे, बल्कि साहित्य के कल्पनात्मक प्रभावों का ठीक-ठीक वर्णन करने के प्रयास में लगे थे। वे अतीत के अधिकांश महान आलोचकों की तुलना में टेक्स्ट -विशेष के गहन अध्ययन में अधिक रुचि रखते थे। 1930 के दशक में महान आलोचकों में एफ.आर. लीविस, विलियम एम्पसन और एल.सी. नाइट्स थे जिनकी शानदार और विवादास्पद विश्लेषण तकनीक ने उन्हें विश्वविख्यात कर दिया। ये शिक्षक-आलोचक फ्रायड से बहुत अधिक प्रभावित थे और महसूस करते थे कि जैसे किसी इंसान का कोई पैंतरा छिपी हुई मंशा को बता देता है, वैसे ही कविता में भी दबे छिपे अंतर्निहित अर्थ होते हैं।विलियम एम्पसन की "सेवन टाइप्स ऑफ एमबिगुटी"(1930) इस तरह के दृष्टिकोण का सर्वोच्च उदाहरण है।

अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के साथ ही, आलोचक के रूप में भी टी एस इलियट ने अपना सिक्का जमाया।जीवन और साहित्य में वे खुद को परंपरावादी मानते थे – धर्म में एंग्लो-कैथोलिक, राजनीति में राज भक्त और साहित्य में आभिजात्यवादी। इलियट ने अपने 'परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा' नामक निबंध में खुलकर रूढ़िवाद का विरोध किया और इस बात पर जोर दिया कि कवि का मूल्यांकन तभी हो सकता है जब उसे उसकी परंपरा में रखकर देखा जाए। कला व्यक्तिगत नहीं होनी चाहिए। उन्होंने जोर देकर कहा कि जो जाति अपने साहित्यिक दाय की उपेक्षा करती है वह बर्बर हो जाती है, जो साहित्य का निर्माण करना बंद कर देती है,विचार जगत से उसका संबंध विच्छेद हो जाता है। इलियट ने कहा कि कवि का मूल कर्तव्य न केवल अपने प्रति है, न श्रोता के, बल्कि अपनी जातीय भाषा के प्रति है।साहित्य चिंतन के लिए एक तो उन्होंने वैयक्तिकता के बजाय निर्वैयक्तिकता को मान्यता दी। दूसरे उन्होंने कला के क्षेत्र में साहित्येतर ज्ञान-विज्ञान के दुष्प्रभाव को रोकते हुए कला की शुद्धता की फिर से स्थापना की। यूरोप के काव्यशास्त्र के इतिहास में आई ए रिचर्ड्स का योगदान है। इतना कहना की काफी नहीं। उन्होंने आलोचना की ऐसी नई प्रक्रिया प्रस्तुत की जो अपने युग को व्यावहारिक आलोचना सिखा गई। उनके द्वारा 'मूल्य का विवेचन' किया गया,'अर्थ-विज्ञान' का विचार पक्का किया और 'कला कला के लिए' की तर्ज पर 'कविता कविता के लिए' का सिद्धांत सामने लाए।

फ्रायड के साथ साथ मार्क्स और डार्विन का ज्ञान के हर क्षेत्र पर असर पड़ा। मार्क्स और एंगेल्स ने कभी कोई साहित्य सिद्धांत नहीं लिखा किन्तु उनके चलाए मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ता चला गया। मार्क्सवादी आलोचना पिछले सभी साहित्य को उसकी सामाजिक वस्तुस्थिति और सभी समकालीन साहित्य को उसके राजनीतिक प्रभाव के संबंध में आंकती है। इंग्लैंड में एक वास्तविक मार्क्सवादी स्कूल कभी उत्पन्न नहीं हुआ। मार्क्सवादी परंपरा अमेरिका में फली फूली। यहां तक कि अमेरिका में पूर्व-मार्क्सवादी और मार्क्स-विरोधी विद्वानों की परंपरा भी पाई जाती है। लियोनेल ट्रिलिंग और एडमंड विल्सन दो महान आलोचक हैं जिनमें हम सामाजिक सरोकार की गंभीरता देखते हैं।

बीसवीं सदी के मध्य का परिदृश्य- दूसरे विश्व युद्ध के बाद तीन अलग अलग दृष्टियां आलोचना के क्षेत्र में दिखाई दीं। एक तो मोरलिस्ट या नीतिवादी हैं जो यह मानते थे कि सभी अच्छी कविताएँ नैतिक रूप से शिक्षाप्रद होती हैं। आधुनिक नैतिकतावादी जुझारू खोजपूर्ण और अभिजात्य है। डी एच लॉरेंस, जॉन मिडलटन मरे, जॉर्ज ऑरवेल और जी विल्सन नाइट ऐसे आलोचक हैं जिनकी आलोचनात्मक रुचि केवल उसी व्यापक नैतिक उद्देश्य का विस्तार है। इलियट ने अपनी पत्रिका 'द क्राइटीरियियन' (1929) में पहले पहल इस शब्द 'द न्यू क्रिटिक' का प्रयोग किया और फिर इसका उपयोग 1930 में होना शुरू हुआ जिसमें रोबर्ट ग्रेव्स और विलियम एम्पसन थे जो संरचनात्मक आलोचना को आगे लेकर आये। केनेथ बर्क ने इसे अमेरिकी अंदाज दिया और एक संप्रदाय सा बनाया। जॉन क्रोव् रैनसम और उनके शिष्यों - एलन टेट और रोबर्ट पेन वारेन ने इसका आगाज़ किया। अमेरिकी आलोचकों ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के मूल्यों, ऐतिहासिक आलोचना, लोकतांत्रिक आशावाद, उद्योगवाद और मार्क्सवाद जैसे अंतर्राष्ट्रीय आदर्शों को हेय दृष्टि से देखा। क्लींथ ब्रूक्स और रॉबर्ट पेन वॉरेन द्वारा संपादित पुस्तक 'अंडरस्टैंडिंग पोएट्री' (1938) अपने से अलग किसी भी उद्देश्य के लिए कविता के उपयोग की निंदा करता है, चाहे वह ऐतिहासिक हो या नैतिक। संयुक्त राज्य अमेरिका में "न्यू क्रिटिसिज़्म " के उदय से पहले अकादमिक साहित्यिक आलोचना पारंपरिक थी।। उसका काम प्रभाव पर नज़र रखना, साहित्यिक काल में प्रमुख लेखकों के कैनन की स्थापना करना, और पाठ के भीतर ऐतिहासिक संदर्भ और संकेतों को स्पष्ट करना था।

बोध प्रश्न

- 'न्यू क्रिटिसिज़्म'से पहले साहित्यिक आलोचना का स्वरूप कैसा था?
- न्यू क्रिटिक क्या है? उनका योगदान क्या रहा?

8.3.7 बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अब तक

आलोचनात्मक सिद्धांतों की चकाचौंध भरी बहुलता ने 1960 के बाद से ही स्वयं आलोचना को निशाने पर ले लिया है। "नई आलोचना" (न्यू क्रिटिसिज़्म) की तरह, "संरचनावाद" (स्ट्रक्चरलिज़्म) ने साहित्यिक अध्ययन में विश्लेषण के लिए वस्तुनिष्ठ मानदंडों का एक खास तरीका और एक नई बौद्धिक कठोरता लाने की मांग की। संरचनावाद का विकास यूरोप में 1900 के आरंभिक वर्षों में सस्यूर के लेखन से हुआ। संरचनावाद अपने आप में कोई साहित्यिक आंदोलन या साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं है बल्कि इसका संबंध समाजशास्त्र, नृविज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान, साहित्य समीक्षा, अर्थ शास्त्र, स्थापत्य, मीडिया शास्त्र और भाषा विज्ञान से है। "संरचनावाद" को "रूपवाद " के विस्तार के रूप में देखा जा सकता है कि "संरचनावाद" और "रूपवाद' दोनों ने सामाजिक या ऐतिहासिक सामग्री के बजाय साहित्यिक रूप (अर्थात संरचना) के मामलों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। संरचनावाद या यह परिकल्पना कि जनजातियों और समुदायों की मान्यताएं और आदतें समरूपता के पैटर्न को प्रकट करती हैं, मूल रूप से मानवशास्त्रीय थीं और बड़ी मुश्किल से ही साहित्यिक थीं। "रूपवादी" रोमन यकोब्सन के काम ने "संरचनावादी" विचार में योगदान दिया, और अधिक प्रमुख संरचनावादियों में नृविज्ञान में क्लाउड लेवी-स्ट्रॉस त्ज़वेटन टोडोरोव, ए.जे. ग्रीमास, जेरार्ड जेनेट और बार्थेस शामिल थे। संरचनावाद किसी पाठ (टेक्स्ट) के पीछे जो भी उद्देश्य हो उसे महत्व नहीं देता बल्कि उस कृति की आंतरिक संरचना पर जोर देता है। वह लेखक से अधिक पाठक और उसके नजरिये को तवज्जो देता है। यहाँ न तो सामाजिक पक्ष का महत्व है और न ही यथार्थ का, जो है सो वह कृति है जिसमें सब कुछ है।

संरचनावाद ने उत्तर-संरचनावाद और विखंडन का रास्ता साफ किया जहां साहित्य पाठक-प्रतिक्रियाओं की जांच करने के अवसर की तुलना में अपने आप में अध्ययन की वस्तु की तरह बहुत कम दिखाई देता है।दार्शनिक रोलां बार्थ "संरचनावाद" और "पोस्टस्ट्रक्चरलिज़्म" के बीच विभाजन के एक प्रमुख सिपहसालार साबित हुए। "पोस्टस्ट्रक्चरलिज्म" अपने अग्रदूत की तुलना में एक सैद्धांतिक आंदोलन के रूप में कम एकीकृत है; वास्तव में, "डीकंस्ट्रक्शन" शब्द से जाने जाने वाले इसके परोकारों का काम डिस्कोर्स या भाषा की संवाद करने की क्षमता पर सवाल उठाता है। 'उत्तर संरचनावाद' और "डिकंस्ट्रक्शन" (विखंडन) के सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांतकार फ्रेंच दार्शनिक जाक देरिदा ने जोर देकर कहा है, "पाठ या टेक्स्ट से बाहर कुछ नहीं

होता" एक प्रकार की स्वतंत्र क्रीडा की संभावना की ओर संकेत देता है जिसमें कोई निश्चित, स्थिर अर्थ संभव नहीं है।

उत्तर आधुनिकता अंग्रेजी के 'पोस्ट मॉडर्ननिज़्म' शब्द का हिन्दी पर्याय है। इसका प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आधुनिकता के अंत की घोषणा के पश्चात् किया गया। 'पोस्ट' शब्द का अर्थ होता है 'बाद में'। उत्तर आधुनिकता अपने अर्थ में आधुनिकता की समाप्ति या आधुनिकता के विस्तार की घोषणा के रूप में प्रयोग किया जाता है।

1957 में नॉर्थ्रॉप फ्राय ने प्रभावशाली ग्रन्थ "एनाटॉमी ऑफ क्रिटिसिज्म" प्रकाशित किया। फ्राय के अनुसार कुछ आलोचक एक विचारधारा के आधार पर साहित्यिक कृतियों का विवेचन करते हैं और यह आधुनिक रूढ़िवादी विचारकों के बीच एक अत्यधिक प्रभावशाली दृष्टिकोण रहा है। ई माइकल जोन्स, उदाहरण के लिए, अपने "डीजेनरेट मॉडर्न्स" (1991) में तर्क देते हैं कि आलोचक स्टेनली फिश व्यभिचार की निंदा करने वाले क्लासिक साहित्य को अस्वीकार करने के लिए अपने स्वयं के व्यभिचारी अफ़ेयरों से प्रभावित थे। “नॉलेज एंड ह्यूमन इंटरेस्ट्स"(1968) में जुरगेन हेबरमास ने साहित्यिक अध्ययन में साहित्यिक आलोचनात्मक सिद्धांत को ‘हेर्मेनेयुटिक्स’ के रूप में वर्णित किया।'हेर्मेनेयुटिक्स' यह अध्ययन करना है कि जब किसी पाठ या कृति को पढ़ा जाता है तो क्या होता है: वह प्रक्रिया क्या है जिसके द्वारा अर्थ समझा जाता है, हमारे साथ क्या होता है जब हम इसकी व्याख्या करके अपनी दुनिया को समझने की कोशिश करते हैं। यह शब्द उस दृष्टिकोण को दर्शाता है जो एक व्यक्ति किसी पाठ तक पहुँचने के लिए लेता है और जिस पद्धति का उपयोग करता है।आज, साहित्यिक सिद्धांत और कॉन्टिनेन्टल फिलोसोफी पर आधारित दृष्टिकोण बड़े पैमाने पर सह-अस्तित्व में हैं। साहित्यिक आलोचना के लक्ष्यों और तरीकों पर असहमति में गिरावट आई है। कई आलोचकों का मानना है कि अब उनके पास चुनने के तरीकों और दृष्टिकोणों की बहुलता है।कुछ आलोचक बड़े पैमाने पर सैद्धांतिक ग्रंथों पर काम करते हैं, जबकि अन्य पारंपरिक साहित्य पढ़ते हैं; साहित्यिक कैनन में रुचि अभी भी कम नहीं हुई है, लेकिन कई आलोचकों को भी गैर-पारंपरिक ग्रंथों और फेमिनिज़म में रुचि है। सांस्कृतिक अध्ययन से प्रभावित कुछ आलोचक कॉमिक्स जैसे लोकप्रिय ग्रंथों को पढ़ते हैं। किताबें या लुगदी/शैली कथा / बाजारू साहित्य का गहन अध्ययन हो रहा है। इकोक्रिटिक्स ने साहित्य और प्राकृतिक विज्ञानों के बीच संबंध बनाए हैं।'डार्विनियन साहित्यिक अध्ययन' मानव स्वभाव पर विकासवादी प्रभावों के संदर्भ में साहित्य का अध्ययन करता है। और उत्तर समालोचना (पोस्ट क्रिटिक) ने साहित्यिक ग्रंथों को पढ़ने और प्रतिक्रिया देने के नए तरीके विकसित करने की मांग की है जो समालोचना के व्याख्यात्मक तरीकों से परे

हैं। कई साहित्यिक समीक्षक फिल्म आलोचना या मीडिया अध्ययन में भी काम करते हैं। कोई बौद्धिक इतिहास देख रहा है; और कोई दूसरा साहित्य की नव विधाओं को पढ़ने पर जोर देता है।स्टीफन ग्रीनब्लाट द्वारा गढ़ा गया एक शब्द "नव्य इतिहासवाद", सैद्धांतिक और व्याख्यात्मक प्रथाओं के एक समूह की ओर संकेत करता है।। यह संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रारंभिक आधुनिक साहित्य के अध्ययन के साथ बड़े पैमाने पर शुरू हुआ था।"नव्य इतिहासवाद" और "सांस्कृतिक भौतिकवाद" दोनों साहित्यिक ग्रंथों को ऐतिहासिक रूप से समझने की कोशिश करते हैं और "नई आलोचना," "संरचनावाद" और "डिकंस्ट्रक्शन" सहित पिछले साहित्यिक अध्ययनों के औपचारिक प्रभाव को खारिज करते हैं। मिखाइल बाखतिन के लेखन का अनुवाद "नव्य इतिहासवाद" और "सांस्कृतिक भौतिकवाद" के उदय के साथ हुआ और पीटर स्टैलीब्रस और जोनाथन डॉलीमोर जैसे सिद्धांतकारों के काम को एक विरासत के रूप में छोड़ गया। "नृजातीय अध्ययन" आम तौर पर पहचान योग्य जातीय समूहों जो या तो हाशिए पर हैं या एक प्रमुख संस्कृति के अधीनस्थ स्थिति में हैं के द्वारा उत्पादित कला और साहित्य के साथ से संबंधित है। "उत्तर औपनिवेशिक आलोचना" उपनिवेशवाद के बाद की अवधि में उपनिवेशवादियों और दूसरों के बीच संबंधों की पड़ताल करती है। नारीवादी और जातीय सिद्धांत की तरह, "उत्तर औपनिवेशिक आलोचना" औपनिवेशिक लोगों के हाशिए के साहित्य को प्रमुख सिद्धांत और डिस्कोर्स में शामिल करने का प्रयास करती है। "उत्तर औपनिवेशिक आलोचना" औपनिवेशिक वर्चस्व की विचारधारा की एक मौलिक आलोचना प्रस्तुत करती है। औपनिवेशिकता या उपनिवेशवाद उनको समझ में जल्दी आता है जो कभी 'उपनिवेश' रहे हैं, जैसे हम भारतीय। जब किसी देश पर शासन करने वाले किसी दूसरे देश को अपने अधीन करते हैं तो अधीन देश एक 'उपनिवेश' होता है। उपनिवेश में कभी रहने वाले जब स्वतंत्र हो जाते हैं और कभी कभी उससे पहले से ही जो भोगते हैं उसे लिखते हैं।

1960 के दशक के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी यूरोप में राजनीतिक नारीवाद के फिर से उभरने के पीछे नारीवादी लिंग सिद्धांत का योगदान है। नारीवादी सिद्धांत के रूप में सबसे पहले जेंडर सिद्धांत सैद्धांतिक परिदृश्य में सामने आया। नारीवादी लिंग सिद्धांत उत्तर आधुनिक है क्योंकि यह पश्चिमी विचारों के प्रतिमानों और बौद्धिक सरोकारों को चुनौती देता है। एक अलग रूप में फेमिनिन थ्योरी के प्रत्युत्तर में मैसकुलिन थ्योरी (पुरुष) के निर्माण ने साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में हलचल की और फिर "क्वीर थ्योरी" यौन पहचान की निश्चित श्रेणियों और मानक (यानी, जिसे "सामान्य" माना जाता है) यौन विचारधारा द्वारा उत्पन्न संज्ञानात्मक प्रतिमानों पर सवाल उठाता है। "क्वीर" एक ऐसा कार्य बन जाता है जिसके द्वारा

यौन पहचान की स्थिर सीमाओं का उल्लंघन किया जाता है, उलट दिया जाता है, नकल की जाती है, या अन्यथा आलोचना की जाती है। "नव्य इतिहासवाद" और "सांस्कृतिक भौतिकवाद" की अधिकांश बौद्धिक विरासत को अब साहित्य के विभागों में "सांस्कृतिक अध्ययन" आंदोलन में महसूस किया जा सकता है। यह एक ऐसा आंदोलन है जिसे एक सैद्धांतिक व्यापकता मिली है और मीडिया अध्ययन, सामाजिक आलोचना, नृविज्ञान और साहित्यिक सिद्धांत आदि को समेट लेता है। प्लेटो और अरस्तू से चलकर आज पाश्चात्य काव्य शास्त्र न जाने किस भूल भुलैया में खो गया लगता है। जैसा कि मैथ्यू अर्नोल्ड ने भविष्यवाणी की थी, धर्म पर भरोसा कम होने या छोड़ने वाले आलोचकों ने साहित्य में अपने विश्वास को बढ़ाने लगेंगे। पर अब लोगों का विश्वास साहित्य पर से भी उठता जा रहा है।

20वीं शताब्दी में पश्चिमी आलोचना को समग्रता से देखना मुश्किल है क्योंकि इसकी बेचैन बहुलता और गुटबाजी किसी भी नतीजे पर पहुँचने की बात को ही खारिज कर देती है। कल्पनावाद, भविष्यवाद, दादावाद और अतियथार्थवाद जैसे साहित्यिक खेमों के रखवालों की विश्वविद्यालयों में कोई कमी नहीं है। वैचारिक समूहों ने मनोवैज्ञानिक हठधर्मिता और दार्शनिक प्रवृत्तियों ने विवादात्मकता को जनम दिया है। साहित्यिक कृतियों को समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों ने प्राथमिक डेटा के रूप में लेना शुरू कर दिया है। साहित्यिक कृति, उनके लिए, अब कोई ऐसी चीज नहीं है जो बाहरी या भीतरी हकीकत को पकड़ती है, बल्कि मनोवैज्ञानिक संचालन के लिए केवल एक ठिकाना भर है जिसे केवल मन माफिक प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए काम में लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रेमचंद विदेशी विश्वविद्यालयों में साहित्यकार के रूप में नहीं बल्कि अपने युग के समाज का चित्रण करने वाले के रूप में देखे जाते हैं।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र को 'लिटरेरी थ्योरी' कहकर पढ़ने-पढ़ाने का चलन बढ़ गया है। "साहित्यिक सिद्धांत" (लिटरेरी थ्योरी)उन विचारों और विधियों का समूह है जिनका उपयोग साहित्य के व्यावहारिक पाठ में किया जाता है। साहित्यिक सिद्धांत से साहित्यिक कृति के अर्थ का उल्लेख नहीं होता बल्कि उन सिद्धांतों का उल्लेख किया जाता है जो यह प्रकट करते हैं कि साहित्य का क्या अर्थ हो सकता है। इसलिए यह अंतर्निहित सिद्धांतों का वर्णन है, एक उपकरण है, जिसके द्वारा साहित्य को समझने का प्रयास किया जाता है सभी साहित्यिक व्याख्या सिद्धांत के आधार पर होती है। इस अनुच्छेद से पहले का अनुच्छेद जो आप अभी पढ़ चुके हैं,वह अनेक थ्योरियों को ही तो गिना रहा है। ये सब वही तो हैं। 'आजकल 'थ्योरी' किसी साहित्यिक पाठ (टेक्स्ट) को पढ़ने के लिए विद्वानों की खातिर एक पारिभाषिक शब्द बन गया है, जिनमें लाक्षणिकता, सांस्कृतिक अध्ययन, भाषा - दर्शन और महाद्वीपीय दर्शन के अनेक अंग आ मिले

हैं।कहा जा रहा है कि यह पाठकों और आलोचकों को किसी पाठ को करीब से और प्रासंगिक अंतर्दृष्टि के माध्यम से साहित्य की बेहतर समझ के काबिल बनाता है।

आपको अब तक इस अध्ययन से पता चल गया होगा कि जहां पाश्चात्य काव्य शास्त्र आज खड़ा है वह वही स्थिति है जैसी लगभग 18 वीं शताब्दी में थी जब अभिव्यक्ति की लोंजीनियस भावना ने पोप और उनके समकालीनों के प्रभाव को चुनौती दी थी। आज आधुनिक पाठ्य विश्लेषण "एक शास्त्रीय पुनरुद्धार" बन गया है। इन सब के बावजूद उत्कृष्ट कृतियाँ निरंतर लिखी जा रहीं हैं।

बोध प्रश्न

- बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आए चार नए वाद कौन से हैं?
- 'उत्तर आधुनिकता' क्या है?

8.4 : पाठ सार

पाश्चात्य काव्य शास्त्र और प्लेटो से लेकर देरिदा तक अनेक साहित्य चिंतकों और उनके द्वारा प्रस्तुत काव्य सिद्धांतों ने भारतीय साहित्य चिंतन और आलोचना को प्रभावित किया है। आधुनिक हिंदी आलोचना पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा है। प्लेटो, अरस्तू, और लोंजाइनस ने क्रमशः अपनी अपनी मान्यताओं को रखा। प्लेटो कवि और दार्शनिक में कौन बेहतर है से शुरू करते हैं तो उनके शिष्य अरस्तू अनुकरण सिद्धांत को लेकर आगे आते हैं। लोंजाइनस का उदात्त अपने आप में एक महत्वपूर्ण संकल्पना है। पाश्चात्य चिंतन में इसके बाद लगभग 1500 वर्षों का अंधकार है और फिलिप सिडनी से पूर्व कोई खास उल्लेखनीय आलोचक नहीं हुआ। इसके बाद जो अनेक आलोचक आए और विविध वादों – नव्य शास्त्रीयतावाद, स्वच्छंदतावाद, संरचनावाद, उत्तरसंरचनावाद आदि का क्रमशः आगमन हुआ उनसे कई विद्वानों-रचनाकारों – कवियों ने काव्य शास्त्रीय चिंतन को बार बार उद्वेलित किया। फल यह हुआ कि बीसवीं शताब्दी में आलोचना और आलोचकों में बहुत मत-वैभिन्य रहा। बहुत से छोटे बड़े 'वाद' सामने आए। भाषा-विज्ञान और समाज शास्त्र आदि अनेक विषयों की दखल हुई। यदि कोई फेमिनिज़्म की बात करता है तो दूसरा उसके विरोध में कोई दूसरा वाद पेश कर देता है। पाश्चात्य आलोचना और इससे जुड़े आलोचकों ने पिछले 2500 वर्षों में एक ऐसा गुलदस्ता – नहीं नहीं – ऐसा – मधुवन तैयार किया है जिसकी भूल भुलैया में कोई भी अनाड़ी खो सकता है। इसलिए आप जैसे सावधान पाठक इस इकाई को गंभीरता से लेंगे।

8.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई से जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसे निम्नलिखित बिंदुओं में समेटा जा सकता है _

- पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आदि से लेकर मध्य और मध्य से लेकर अब तक के घटना-क्रम का ब्योरा प्राप्त हुआ।
- यूनानी और रोमी अर्थात प्राचीन काल से पुनर्जागरण काल और उसके बाद आलोचना की दशा दिशा का ज्ञान हुआ।
- खासकर अंग्रेजी और कई दूसरे प्रतिष्ठित आलोचकों के सिद्धांतों का पता चला।
- आधुनिक युग से पहले के और इस युग के विविध आलोचना संप्रदायों, स्कूलों और विचारधाराओं का ज्ञान हुआ।
- हिंदी साहित्य और भारतीय काव्य शास्त्र पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र और उसके विभिन्न वादों, मतों, तथा सिद्धांतो का विशद विवेचन सामने आया।
- पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर एक समूची और विहंगम दृष्टि पड़ी जिससे प्लेटो से लेकर आज तक के विविध विद्वानों के बारे में जानकारी मिलने पर सहूलियत होगी।

8.6 : शब्द संपदा

1. उदात्त - लोंजाइनस के द्वारा दिया गया शब्द, काव्य संबंधी भावों और विचारों की श्रेष्ठता
2. फैंसी – इसे रम्य कल्पना, ललित कल्पना,तथा बिंब निर्माण की शक्ति भी कह सकते हैं। यह देश और काल के बंधन से मुक्त स्मृति का ही एक रूप होती है।
3. सहजानुभूति – वह अनुभूति जो किसी कलाकार को उस क्षण होती है जब उसके मन में कलाकृति का जन्म होता है।
4. अभिव्यंजना - सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है
5. निरवैयक्तिकता – कविता में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए, यही निरवैयक्तिकता है।
6. मूल्य - रिचड्र्स की आलोचना का बीज शब्द, कला या कविता की मूल्यवत्ता अथवा उपादेयता के संदर्भ में।
7. उपयोगितावाद- अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की कामना का दर्शन
8. शास्त्रीयतावाद – क्लासिसिज़्म उच्चकोटि के साहित्यिक अथवा कलागत मूल्यों, शैली को स्वीकार करना है।

9. स्वच्छंदतावाद – यूरोप में शास्त्रीयतावाद और नव्य-शास्त्रीयतावाद की प्रतिक्रिया में यह काव्यान्दोलन था जिसमें उन्मुक्तता, गतिशीलता, सहजता, वैयक्तिकता,और तीव्र जीवनानुभूति का आग्रह दिखाई देता है। हिंदी में छायावाद पर इसका प्रभाव पड़ा।

8.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड –(अ)

दीर्घ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए

1. प्लेटो के कवि और कविता के बारे में क्या विचार थे?
2. सर फिलिप सिडनी ने कविता और कवि का बचाव क्यों और कैसे किया?
3. स्वच्छंदतावादी आलोचना की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
4. 'कॉलरिज स्वयं एक संप्रदाय हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. आलोचक के रूप में इलियट के योगदान की चर्चा कीजिए।
6. 'न्यू क्रिटिसिज़्म' का परिचय देते हुए इसमें शामिल किसी एक आलोचक के योगदान को रेखांकित कीजिए।
7. 'लिटरेरी थ्योरी' से आप क्या समझते हैं? कम से कम चार का उल्लेख कीजिए।
8. निम्नलिखित पर सारगर्भित टिप्पणी कीजिए।

I) उदात्त ii) संरचनावाद iii) शास्त्रीयतवाद iv) नव्य-शास्त्रीयतवाद v) उत्तर आधुनिकता vi) उपनिवेशवाद vii) हेर्मेनेयुटिक्स

खंड –(ब)

लघु प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 250 शब्दों में दीजिए।

1. रोमी आलोचना का परिचय किसी एक आलोचक का उल्लेख करते हुए कीजिए।
2. स्वच्छंदतावाद का छायावाद पर क्या प्रभाव पड़ा?
3. 'मूल्य'का विवेचन रिचड्र्स कैसे करते हैं?
4. नारीवाद और इससे पनपे दूसरे वादों का परिचय दीजिए।
5. उत्तरसंरचनावाद क्या है?

6. उत्तर औपनिवेशिक आलोचना का आधार क्या है?

खंड- (स)

I. सही विकल्प चुनिए

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा में कौन से चिंतक का शुमार नहीं है?

क) मम्मट ख) क्रोचे ग) अरस्तू घ) होरेस

2. प्लेटो के शिष्य का नाम था?

क) सुकरात ख) अरिस्टोफ़ेन्स ग) अरस्तू घ) अफलातून

3. स्वच्छंदतावाद से कौन सा चिंतक नहीं जुड़ा है?

क) पोप ख) वड्र्सवर्थ ग) कीट्स घ) शैली

4. यह पुस्तक अंग्रेजी आलोचक की नहीं है-

क)लिरिकल बैलेडस ख) बायोग्राफिया लिटरेरिया ग) द रिपब्लिक घ) अन्डर स्टैन्डिंग पोइट्री

5. किसने कहा है, "पाठ या टेक्स्ट से बाहर कुछ नहीं होता"?

क) आचार्य राम चंद्र शुक्ल ख) हेबरमास ग) देरिदा घ) इनमें से कोई नहीं

6. इनमें से कौनसा उचित क्रम है?

क) प्लेटो, सिडनी, होरेस ख) वर्डसवर्थ, कीट्स, कॉलरिज

ग) अरस्तू, अर्नोल्ड, इलियट घ) पोप, क्रोचे, रिचड्र्स

7. इनमें से किस पुस्तक का मिलान अनुचित है?

क) विखंडन –देरिदा ख) आर्स पोइटिका –होरेस

ग) लीरिकल बैलेडस – वर्डसवर्थ घ) प्रेक्टिकल क्रिटिसिज़्म – रिचड्र्स

II. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए

1. पाश्चात्य साहित्य की सबसे पुरानी मिसालों में से एक _____नामक कवि का काव्य है।

2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ _____ देश में हुआ।

3. जॉन ड्राइडन को सैमुअल जॉनसन द्वारा _____ कहा जाता है।

4. _____ ने कविता के लोकतंत्र को स्थापित किया, कविता की अपनी परिभाषा दी, और काव्य-भाषा पर अछूते विचार प्रस्तुत किये।

5. छायावाद पर सबसे अधिक प्रभाव _____का पड़ा।

6. संरचनावाद को _____ के विस्तार के रूप में देखा जा सकता है।

7. स्टीफन ग्रीनब्लाट द्वारा गढ़ा गया एक पारिभाषिक शब्द _____ है।

8. क्रोचे के काव्य सिद्धांत मूलतः _____के क्षेत्र से निकले थे।

9. फेमिनिन थ्योरी के प्रत्युत्तर में _____ के निर्माण ने साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में हलचल की।

III. **सुमेल कीजिए।**

1. रोमी आलोचक	A) अरस्तू
2. यूनानी विचारक	B) देरिदा
3. फ्रेंच दार्शनिक	C) होरेस
4. रूपवादी	D) क्रोचे
5. सौन्दर्यवादी	E) रोमन यकोब्सन

8.8 : पठनीय पुस्तकें

1. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा(1972) – डॉ (श्रीमती) सावित्री सिन्हा (संपादिका)

2. भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन : डॉ बच्चन सिंह

3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : देवेन्द्र नाथ शर्मा

4. एन इन्ट्रोडक्शन टू लिटरेरी क्रिटिसिज़्म एण्ड थ्योरी (2015) : गोपाल शर्मा

इकाई 9: अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य 'अनुकरण' शब्द का अर्थ
9.3 मूल पाठ: अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत
9.3.1 अनुकरण सिद्धांत की पृष्ठभूमि
9.3.2 प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत
9.3.3 अरस्तू का व्यक्तित्व
9.3.4 अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत
9.3.5 अनुकरण की विभिन्न व्याख्याएँ
9.3.6 अरस्तू का साहित्य-चिंतन
9.4 पाठ सार
9.5 पाठ की उपलब्धियाँ
9.6 शब्द संपदा
9.7 परीक्षार्थ प्रश्न
9.8 पठनीय पुस्तकें

9.1 : प्रस्तावना

अरस्तू पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रणेता माने जाते हैं। इनसे पहले प्लेटो ने अनुकरण की बात की थी किन्तु अरस्तू तथा प्लेटो के दृष्टिकोण में काफ़ी अंतर है। इस इकाई में प्लेटो की अनुकरण संबंधी धारणा की पृष्ठभूमि में अरस्तू के साहित्य चिंतन तथा अनुकरण की अवधारणा की चर्चा की गई है। प्लेटो और अरस्तू ऐसा मानते हैं कि कवि प्रकृति का अनुकरण करता है। इस प्रकार कला प्रकृति का प्रतिबिंब है। कला और साहित्य के संदर्भ में अनुकरण की प्रक्रिया के संबंध में इन दोनों के भिन्न मत हैं। प्लेटो जहां एक तरफ़ एक आदर्श दुनिया के अस्तित्व में मानता है और कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है, वहीं अरस्तू का मानना है कि कोई भी कलाकृति प्रकृति का हूबहू अनुकरण नहीं है बल्कि कला यह बताती है कि दुनिया को कैसा होना चाहिए। इस प्रकार कलाकार सत्य की उपेक्षा नहीं करता बल्कि वह वास्तविकता को प्रतिबिंबित करता है।

9.2 : उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- ❖ प्लेटो की अनुकरण की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- ❖ अरस्तू के साहित्य चिंतन तथा अनुकरण सिद्धांत की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

- ❖ अरस्तू की त्रासदी की अवधारणा तथा उसके महत्त्व को समझ सकेंगे।
- ❖ विरेचन सिद्धांत का उल्लेख करते हुए साहित्य में इसकी उद्भावना से परिचित हो सकेंगे।
- ❖ प्लेटो तथा अरस्तू के चिंतन के साम्य-वैषम्य को स्पष्ट कर सकेंगे।

9.3 : मूल पाठ : अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत

प्लेटो और अरस्तू दोनों ने ही अनुकरण के लिए ग्रीक शब्द 'मीमेसिस' का प्रयोग किया है। शब्दकोशों में 'मीमेसिस' के लिए अंग्रेजी के 'इमीटेशन' अथवा 'रिप्रोडक्शन' (पुनर्सृजन अथवा अनुसृजन) शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका हिन्दी अनुवाद है 'अनुकरण'। प्लेटो तथा अरस्तू के 'मीमेसिस' शब्द के प्रयोग में मूलभूत अंतर अर्थ का है। प्लेटो ने इस शब्द का प्रयोग नैतिक तथा राजनैतिक संदर्भ में किया है जबकि अरस्तू ने काव्यशास्त्रीय अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

9.3.1 अनुकरण सिद्धांत की पृष्ठभूमि

जब भी कभी अनुकरण सिद्धांत की बात की जाती है, विद्वान इसका आरंभ प्लेटो के चिंतन से मानते हैं; किन्तु वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य काव्य चिंतन का आरंभ क्रमबद्ध रूप से अरस्तू से ही आरंभ होता है। प्लेटो जब 'मीमेसिस' की अवधारणा पर बात करता है तो वह मुख्य रूप से बालकों/युवाओं की शिक्षा की पृष्ठभूमि में अनुकरण सिद्धांत की चर्चा करता है। प्लेटो का मानना है कि कला अनुकरण का अनुकरण है, इसलिए वह सत्य से तिगुना दूर है और इसीलिए समाज के लिए हानिकारक है।

अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे और उन्होंने प्लेटो के कार्य को ही आगे बढ़ाया। अरस्तू ने अपने 'पोएटिक्स' में प्लेटो के ही चिंतन की व्याख्या की है। इस क्रम में वे प्लेटो से अलग खड़े दिखाई देते हैं। उनका मानना है कि कला अनुकरण द्वारा प्रकृति को पूर्णता प्रदान करती है। अरस्तू कहते हैं कि कवि जब अपनी रचना में किसी पात्र का चित्रण करता है तो वह उसे तीन तरह से करता है, एक, उसका चित्रण मूल से अच्छा है, दूसरा, मूल के समान है तथा तीसरा, मूल से खराब है। वह यहाँ मूल के संभाव्य रूप अथवा आदर्श रूप की कल्पना करता है। अरस्तू का मानना है कि कवि जब मूल का अनुकरण करता है तो उसमें कवि की भावनाओं तथा कल्पनाओं का भी योग रहता है। विद्वान अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत को भारतीय काव्यशास्त्र में रस सिद्धांत से भी जोड़कर देखते हैं।

9.3.2 प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत

प्लेटो की काव्य संबंधी मान्यताओं का आधार उनका साहित्य चिंतन नहीं बल्कि उनकी दार्शनिक विचारधारा थी। वे आदर्शवादी तथा प्रत्ययवादी दार्शनिक थे। आदर्शवादी होने के नाते वे 'जो कुछ है' की अपेक्षा 'जो कुछ होना चाहिए' पर अधिक बल देते थे और सदाचार तथा नैतिकता के उच्च मानदंडों को सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते थे। उनका मानना था कि संसार का परम सत्य एक अदृश्य शक्ति है। विचार के रूप में सभी सांसारिक वस्तुएं उसी में स्थित हैं। संसार में हम जो कुछ भी देखते हैं वह वास्तविकता नहीं बल्कि उसी विचार का अनुकरण है। इसे समझाने के लिए प्लेटो ने बढ़ई की कला का उदाहरण लिया है जैसे जब कोई बढ़ई एक कुर्सी बनाता है तब वह लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े लेकर मनमाने ढंग से उसे जोड़ नहीं

देता बल्कि पहले उसके दिमाग में उस कुर्सी की एक रूपरेखा बनती है जिसे पूर्वकल्पना कह सकते हैं। उसी पूर्वकल्पना के आधार पर वह लकड़ी के टुकड़ों को काटता, जोड़ता और आकार देता है। वह पूर्वकल्पना एक विचार के रूप में बढ़ई की चेतना में रहती है। प्लेटो के अनुसार यह विचार उस अदृश्य शक्ति में स्थित होता है और मानव की चेतना में प्रतिबिंबित होता है। यही मूल सत्य है। बाह्य जगत में कुर्सी आदि के रूप में जो इसकी अभिव्यक्ति होती है वह सत्य न होकर सत्य का अनुकरण मात्र है। अब यदि कोई चित्रकार इस कुर्सी का चित्र बनाता है अथवा कोई कवि कुर्सी पर कविता लिखता है तो चित्रकार तथा कवि उस अनुकृति का अनुकरण करते हैं। अतः उनकी कला सत्य से तिगुना दूर होती है।

प्लेटो ने काव्य तथा कवि की चर्चा अपने 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य की संकल्पना के अंतर्गत की थी। उनके अनुसार आदर्श राज्य का लक्ष्य होना चाहिए – चरम दार्शनिक सत्य की प्राप्ति। राज्य के सभी क्रियाकलाप उसी सत्य की खोज की ओर उन्मुख होने चाहिए। राज्य की सभी क्रियाओं का मूल्यांकन इसी कसौटी पर होना चाहिए। कविता भी उसी सीमा तक स्वीकार्य है जहां तक वह इस लक्ष्य की सिद्धि में सहायक हो। ध्यातव्य है कि 'प्लेटो कविता मात्र के विरोधी नहीं थे। जिस कविता में ईश्वर की स्तुति अथवा साधुओं का गुणगान हो उस पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।' प्लेटो ने अपने समय में वहाँ कविता का जो स्वरूप देखा वह उनके विचार से आदर्श से बहुत दूर था। उसी के आधार पर उन्होंने कविता का विरोध किया तथा आदर्श राज्य में कवि का प्रवेश अवांछित माना।

9.3.3 अरस्तू का व्यक्तित्व

अरस्तू का जन्म दक्षिणी यूरोप के 'मध्य बाल्कन प्रायद्वीप पर स्थित मैसेडोनिया' (इसे रिपब्लिक ऑफ मैकेडोनिया या मकदूनिया भी कहा जाता है) में 384 ई.पू. में हुआ था। वे प्लेटो के शिष्य थे तथा सिकंदर के गुरु। इनका जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जहां वंश परंपरा से आयुर्वेदिक चिकित्सा का अभ्यास किया जाता था। इनके पिता मकदूनिया के राजवैद्य थे। अरस्तू बाल्यकाल से ही अत्यंत मेधावी, कुशाग्रबुद्धि और विद्याप्रेमी थे। किशोरावस्था में इन्होंने 'एथेंस' जाकर प्लेटो के विद्यापीठ में अध्ययन के लिए प्रवेश लिया और बीस वर्ष तक वहाँ पर दर्शन का अभ्यास किया। ये प्लेटो के प्रिय छात्र थे। विद्यापीठ छोड़ने के कुछ वर्ष बाद इनकी नियुक्ति मकदूनिया के राजपुत्र सिकंदर के गुरु के रूप में हुई। आठ वर्ष तक सिकंदर को शिक्षा देने के उपरांत ये वापस एथेंस आ गए और वहाँ पर इन्होंने अपने विद्यापीठ की स्थापना की। अरस्तू के विद्यापीठ में अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। स्वयं अरस्तू वहाँ पढ़ाते थे। 62 वर्ष की आयु में 322 ई. पू. में इनकी मृत्यु हो गई।

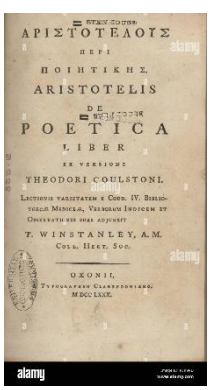

अरस्तू को दुनिया के महान विचारकों में से एक माना जाता है। इनकी विद्वत्ता का प्रसार ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में था और इन्होंने दर्शन, अध्यात्म, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, प्राकृतिक विज्ञानों, आदि पर करीब 400 ग्रंथों की रचना की थी। आज इनके बहुत से ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। 'पोएटिक्स' इनका एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो इन्होंने मूलतः ग्रीक भाषा में लिखा था।

अरस्तू के समग्र काव्य चिंतन का आधार 'पोएटिक्स' है। अरस्तू एक ऐसे दार्शनिक थे जो परंपराओं पर भरोसा न करके किसी भी घटना की जांच के बाद ही नतीजे पर पहुंचते थे।

9.3.4 अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत

अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे। लेकिन उनकी काव्य संबंधी मान्यताएं उनके गुरु से बिल्कुल भिन्न थीं। अरस्तू ने महाकाव्य और त्रासदी के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया और काव्य जगत को दो महत्वपूर्ण सिद्धांत – अनुकरण सिद्धांत तथा विरेचन सिद्धांत दिए। उन्होंने प्लेटो की मान्यताओं का खंडन करते हुए कहा कि कला प्रकृति का अनुकरण नहीं बल्कि अनुसृजन है और काव्य से श्रोताओं/पाठकों की बुराइयों का पोषण नहीं बल्कि विरेचन होता है। अरस्तू का कथन है कि सभी मानवीय क्रियाएं अनुकरण का परिणाम है और यह भी कि मनुष्य अनुकरण से ही सीखता है। विशेष रूप से यदि देखा जाए तो 'मीमेसिस' अथवा अनुकरण कलाकार की एक विशेष प्रतिभा है। हमारे यहाँ भी कहा गया कि 'जहां ना जाए रवि, वहाँ जाए कवि' अर्थात यह कवि की विशेष दृष्टि है जो उसे प्रकृति के अनुकरण की क्षमता प्रदान करती है। कवि अपनी कविता में तीन प्रकार से बात करता है : एक, वह 'मैं शैली' अपना सकता है, दूसरा, वह अपने विचार पात्रों के माध्यम से प्रकट कर सकता है और तीसरा, वह इन दोनों का मिला जुला स्वरूप भी प्रकट कर सकता है। अनुकरणशील काव्य अनुकरणीय वस्तु के आधार पर भिन्न हो सकता है। इसी संदर्भ में त्रासदी कॉमेडी से भिन्न होती है। अपने 'पोएटिक्स' में अरस्तू ने अनुकरण की चर्चा करते हुए परिवेश, चरित्र, संवाद, विचार, दृश्य तथा गीत की विस्तार से चर्चा की है। उसका मानना है कि त्रासदी का प्रत्येक यंग अनुकरण है। हमारे यहाँ भी नाटक को अनुकरणशील विधा माना गया है। त्रासदी में चरित्र किसी महान व्यक्ति का अनुकरण करते हैं। अरस्तू का मानना है कि सभी प्रकार की कलाएं अनुकरणशील है। किन्तु प्रत्येक कला शैली, साधन तथा अनुकरणीय वस्तु के रूप में भिन्न होती हैं। इसे संगीत, ध्वनि और लय में अनुकरण करता है, चित्रकला रंगों के माध्यम से तथा काव्य, क्रियाओं और शब्दों के माध्यम से।

अरस्तू का अनुकरण प्लेटो के समान विचार अथवा सत्य का अनुकरण नहीं है बल्कि उसका मानना है कि ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र अनुकरण है क्योंकि हम सभी मनुष्य अनुकरण के माध्यम से ही सीखते हैं। हालांकि अरस्तू बड़ी सूक्ष्मता से ज्ञान के क्षेत्रों में भेद करता है। उदाहरण के लिए, कला एवं दर्शन अलग अलग प्रकार के सत्य की बात करते हैं जैसे दर्शन ठोस एवं पूर्ण सत्य की बात करता है जबकि कला सौन्दर्य तथा सार्वभौमिक सत्य की बात करती है। इसी क्रम में अरस्तू काव्य और इतिहास के सत्य में ही भेद करता है। उसका मानना है कि इतिहास विशेष सत्य की बात करता है जबकि काव्य सार्वभौम सत्य की बात करता है। इतिहास हमें वह बताता है 'जो हुआ था' जबकि काव्य हमें 'जो होना चाहिए' का ज्ञान कराता है। इसीलिए अरस्तू के विचार से काव्य इतिहास से अधिक महत्वपूर्ण है। अरस्तू सौन्दर्य प्रक्रिया 'मीमेसिस' की प्राकृतिक प्रक्रिया से तुलना करता है। अरस्तू के विचार से प्रकृति आंतरिक सिद्धांतों के माध्यम से आगे बढ़ती है जबकि कला तात्विक सिद्धांतों जैसे परिवेश, क्रिया, चरित्र, संवाद आदि के सहारे आगे बढ़ती है। इन सब में हमें एकता दिखायी पड़ती है। यही पर अरस्तू प्लेटो से अलग हो जाता है। अरस्तू कहता है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है तथा प्रकृति

की अपूर्णता को अनुकरण की प्रक्रिया में पूर्ण करती है। इस प्रकार कलाकार वस्तु-सत्य के स्रोत का अनुकरण करता है किन्तु उसकी प्रस्तुति अनुसृजन की प्रक्रिया में मूल से भिन्न हो जाती हैं। इसे हम कुछ उदाहरणों के माध्यम से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

1. उदाहरण नंबर 1

भारत

जापान

चीन

उपरोक्त चित्रों को ध्यान से देखिए। तीन अलग-अलग देशों के कलाकारों की कलाकृतियाँ एक ही मूल का होने के बावजूद साज-सज्जा में भिन्न दिखाई दे रही हैं। कलाकार ने मूल का अनुकरण किया है किन्तु अपनी कल्पना तथा विचार के माध्यम से अपने अनुसृजन को विशेष बना दिया है। इसी प्रकार काव्य में भी अनुसृजन सदैव मूल से भिन्न होता है।

2. उदाहरण नंबर 2:

अभिज्ञानसहाकुंतलं में शकुंतला को विदा करते समय शकुंतला के इस प्रश्न के उत्तर में कि 'अब मैं तात के दर्शन कब करूंगी?', कण्व ऋषि कहते हैं –

"भूत्वा चिराय चतुरंतमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथ तनयम् निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुंबभरेण सार्घ
शांते करिश्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन्।।4/20"

अर्थात,

"बनि तिय बहुत दिवस भूपति की। सीतिनि चारकीन वसुमति की।।
करिकै ब्याह सुवन समरथ की। मारग रुकै न जाके रथ की।।
दैकै ताहि कुटुम् की भारा। तजि कै राजकाज व्यवहारा।।
पति तेरी तुहि संग लै ऐहै। मा आश्रम तब तू पग दैहै।।"

लक्ष्मण सिंह सहृदय पाठक अपनी कल्पना के द्वारा इन दोनों उदाहरणों के अंतर को स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।

कलाओं में अनुकरण के तीन माध्यम होते हैं- नृत्य, साहित्य और संगीत। अरस्तू इसे क्रमश: लय, संवाद और समन्वय कहते हैं।

संवाद के क्षेत्र में अरस्तू का मानना है कि आदतों का अनुकरण किया जाता है। यह आवश्यक है कि जिसका अनुकरण किया जाए वह या तो हमसे अच्छा हो या बुरा (राम या

रावण) या जिसकी आदतें हमारे समान हों। अरस्तू इस संदर्भ में थासुस के तीन चित्रकारों की तुलना करते हुए कहते हैं कि पॉलीगनोट्स जब अपनी चित्रकला में यह अनुकरण करता है तो वह मूल से बेहतर होता है, पॉसन मूल से खराब तथा डायोनिसस हूबहू मूल की तरह। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अनुकरण के जितने भी माध्यम हैं, उन सब में यह भेद पाया जा सकता है और यह भी कि समान माध्यम अपनाकर भी वे एक-दूसरे से भिन्न होंगे, क्योंकि वे जिनका अनुकरण कर रहे हैं, वे अपने आप में भिन्न हैं। ये भिन्नताएं नृत्य में देखी जा सकती हैं, वीणावादन में तथा बाँसुरी के स्वरों में भी देखी जा सकती हैं; ठीक उसी तरह उन कहानियों में भी, जो या तो गद्य में या पद्य में कही जाती हैं।

अरस्तू होमर का प्रशंसक था। वह लिखता है कि होमर हमसे बेहतर मनुष्यों का अनुकरण करता है, क्लियोफॉन हमारे समान मनुष्यों का, किन्तु हेगेमॉन, जिसने पैरोडी बनाई और निकोचरस जिसने डेलियड लिखा, उनका चित्रण (अनुकरण) किया जो हमसे खराब थे। इसी भिन्नता के कारण त्रासदी कामदी से भिन्न होती है।

अरस्तू अपनी पुस्तक 'पोएटिक्स' में लिखता है- एक तीसरी भिन्नता है, जो एक कवि के कहने के तरीके में दिखाई देती है, यहाँ ध्यातव्य यह है कि अरस्तू 'Immitation' शब्द का प्रयोग अभिव्यक्ति के अर्थ में करता है, हालाकि इसका शब्दकोशीय अर्थ 'अनुकरण' होता है।
वह बात करता है- साधन, वस्तु तथा अभिव्यक्ति के माध्यम की। 'Immitation' इन तीनों के मेल से बना है।

एक ही विषय, एक ही साधन से अभिव्यक्त किए जाने पर भी माध्यम के कारण भिन्नता आ सकती है। कवि जिस साधन का प्रयोग करता है, जिस विषय को वह लिखता है तथा जिस माध्यम में वह अभिव्यक्त करता है, उसके कारण भिन्नता आती है।

अरस्तू अपने पोएटिक्स में 'Immitation' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करता है; एक तो अनुकरण के अर्थ में और दूसरा अभिव्यक्ति के अर्थ में। काव्य के उद्भव के कारणों की चर्चा करते हुए अरस्तू कहता है कि काव्य के जन्म का पहला कारण है कि अनुकरण मानव स्वभाव के मूल में है। मनुष्य शैशवकाल से ही अनुकरणशील रहा है। इसी रूप में वह अन्य प्राणियों से भिन्न है और यह भी कि वह सर्वाधिक अनुकरणशील है। अनुकरण से ही वह आरंभ में ज्ञान प्राप्त करता है और अनुकरण करके वह प्रसन्न होता है। हमारे जीवनानुभाव इसके प्रमाण हो सकते हैं। जब हम देखते हैं कि एक छोटा बच्चा अपने माता या पिता की नकल करता है, वह उनके बोलने अथवा चलने के ढंग की नकल करता है, उसे देखकर माता-पिता प्रसन्न होते हैं। बच्चा नकल करके आरंभिक ज्ञान प्राप्त करता है। जब वह उस ज्ञान को प्रस्तुत करता है, अरस्तू उसे 'Immitation'

कहता है। बच्चे के संदर्भ में यह अनुकरण है, किन्तु कवि-कर्म के संदर्भ में यह अभिव्यक्ति है। ऊपर अरस्तू द्वारा बताए गए साधनों के माध्यम से कवि अपने ज्ञान को प्रस्तुत करता है।

काव्य में वर्णित विभिन्न चरित्र कवि-प्रतिभा का परिणाम होते हैं। कवि-प्रतिभा ही चयन करती है कि उसे सम्माननीय चरित्रों/सच्चरित्रों का चित्रण करना है या दुष्चरित्रों का।

जब अरस्तू 'Imitation' की बात करता है तो उसका अभिप्राय कला के स्रोत से है। किन्तु कला में जो अंतर आता है वह प्रमुखत: अभिव्यक्ति की प्रक्रिया और रीति से आता है। यह कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे एक विशेष पकवान बनाने के लिए उपयोग में लाई गई सामग्री समान होने पर भी दो अलग-अलग लोगों द्वारा बनाए जाने पर भोजन के स्वाद में अंतर आ जाता है। अरस्तू के अनुसार Tragedy अथवा त्रासदी महान एवं पूर्ण चरित्रों का स्वीकार्य भाषा में समुचित एवं सर्वांग अनुकरण होता है, जो अभिनेता द्वारा प्रतिपादित किया जाता है न कि कथाकार द्वारा, और जो हमारे राग और उत्साह को परिष्कृत करता है। अरस्तू उसे स्वीकार्य शैली कहता है जिसमें लय, समन्वय और माधुर्य हो। अरस्तू त्रासदी के छ: अंग गिनाता है- कथावस्तु, प्रस्तुति का ढंग, संवाद, भाव, दृश्य, राग/रस। सभी नाटकों में ये तत्त्व पाए जाते हैं, किन्तु इन्हें किस प्रकार क्रियान्वित किया जाता है, वह महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि त्रासदी व्यक्ति का नहीं क्रिया का अनुकरण है। इस प्रकार अभिनय और कथावस्तु त्रासदी के मुख्य तत्त्व हैं।

अरस्तू काव्य और इतिहास की तुलना करते हुए काव्य को इतिहास से श्रेष्ठ बताते हैं। उनका मानना है कि इतिहासकार और कवि मात्र इस रूप में भिन्न नहीं होते हैं कि एक गद्य में लिखता है और एक पद्य में; बल्कि इस रूप में भिन्न होते हैं कि इतिहासकार वह लिखता है जो वस्तुत: घटित हुआ था और कवि वह लिखता है जो संभवत: घटित हुआ था। अरस्तू कहते हैं कि काव्य का सत्य सार्वभौमिक होता है और इतिहास का सत्य विशेष। इस प्रकार काव्य की प्रकृति इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक और व्यापक है।

9.3.5 अनुकरण की विभिन्न व्याख्याएँ

जैसा कि डॉ. नगेन्द्र कहते हैं कि अलग अलग विद्वान अरस्तू के विचारों की अलग अलग ढंग से व्याख्या करते हैं फिर भी एक बात में सभी सहमत हैं और वह यह है कि अरस्तू ने अनुकरण शब्द का प्रयोग प्लेटो की भांति स्थूल/यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में नहीं किया।

'बूचर' के अनुसार अरस्तू के 'अनुकरण' शब्द का अर्थ है 'सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन। कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन, जैसा वह होता है वैसा नहीं, वरन जैसा वह इंद्रियों को प्रतीत होता है वैसा करती है। कला का संवेदन तत्व ग्राहिणी बुद्धि के प्रतिनिधि नहीं वरन भावुकता तथा मन की मूर्ति-विधायिनी शक्ति के प्रति होता है।'

'प्रो. गिलबर्ट मरे' ने यूनानी शब्द 'पोएतेस' (कर्ता/ रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण शब्द की व्युत्पत्ति मूलक व्याख्या प्रस्तुत की है। मरे का मत है कि कवि शब्द के यूनानी पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित थी, किन्तु अनुकरण का अर्थ सजना का अभाव नहीं था।

अरस्तू के आधुनिक टीकाकार 'पाट्स' ने अनुकरण का अर्थ इस प्रकार किया है – 'अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय है ऐसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है।' 'पाट्स' के अनुसार वास्तव में अनुकरण का अर्थ है – 'आत्माभिव्यंजन से भिन्न जीवन का पुनःसृजन'।

भारतीय काव्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अनुकरण शब्द नया नहीं है। आचार्य भरत ने ही नाटक को 'लोकवृत्त का अनुकरण' माना है – 'लोकवृत्तानुकरण शास्त्रमेतन्मया कृतम्'। वृत्त शब्द का प्रयोग यहां व्यापक अर्थ में किया गया है। इसके अंतर्गत लोक जीवन के समस्त अंतरबाह्य रूपों का/वेश भूषा, क्रियाकलाप, वाणी व्यवहार, भाव आदि सभी का समावेश है। भरत ने विस्तार से रंगमंच पर इनके अनुकरण का विधान किया है। आचार धनंजय ने भी अपने 'दशरूपक' में 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' कहकर इसी बात को स्पष्ट किया है।

9.3.6 अरस्तू का साहित्य-चिंतन

1. त्रासदी

अरस्तू ने विरेचन शब्द का लाक्षणिक प्रयोग करते हुए मानव भावनाओं के विरेचन की बात की हैं। उसका कहना है कि मानव भावनाओं का विरेचन विशेष रूप से त्रासदी में होता है। इसीलिए यूनानी साहित्य में दुखांत नाटक का अधिक महत्व है क्योंकि उसके द्वारा मनोभावों का विरेचन सफलतापूर्वक हो जाता है। अरस्तू ने संगीत और त्रासदी (दुखांत नाटक) से मनोविकारों के रेचन की बात करते हुए कलाओं का लक्ष्य मनोविकारों का विरेचन माना है। अरस्तू के अनुसार त्रासदी नाटक दर्शकों के मन में करुणा एवं त्रास (दुख) की भावनाओं को उकसा कर उनका विरेचन करता है। संगीत के क्षेत्र में यह और भी अधिक महत्वपूर्ण है। संगीत के राग मनोविकारों को उभारकर शांत करने और करुण एवं त्रास से आवेशित व्यक्तियों को शांति का अनुभव प्रदान करते हैं जिससे अंततः आनंद की अनुभूति होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी करुण रस को महत्वपूर्ण माना गया है। महाकवि भवभूति ने "एको रसः करुण एव" कहकर करुण रस की महत्ता को दर्शाया है। उनका मानना है कि रस तो केवल एक ही है और वह है 'करुण'। प्रकारांतर से करुण ही भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होता है।

अरस्तू के गुरु प्लेटो ने भी त्रासदी पर अपने विचार प्रकट किए हैं। प्लेटो ने काव्य का वर्गीकरण करते हुए त्रासदी को निम्न स्तर का माना है। अरस्तू ने प्लेटो की त्रासदी की अवधारणा का खंडन करते हुए त्रासदी को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। डॉ. नगेन्द्र ने अरस्तू के त्रासदी की अवधारणा को समझाते हुए लिखा है कि "त्रासदी दृश्य काव्य का एक भेद है। इसकी कथावस्तु गंभीर होती है। इसका एक निश्चित आयाम होता है और यह अपने आप में पूर्ण होती है, अर्थात इसमें जीवन के गंभीर पक्ष का चित्रण होता है। त्रासदी के मूल भाव करुणा और त्रास होते हैं। इन भावों के उद्‌बुद्ध होने पर विरेचन पद्धति से मानव मन का परिष्कार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य है। त्रासदी की शैली भावपूर्ण और अलंकृत होती है।"

अरस्तू ने त्रासदी के अनिवार्य अंगों के रूप में कथानक, चित्रण, पदावली, विचार, दृश्य-विधान और गीत को माना है। अरस्तू ने इन अंगों के द्वारा अनुकरण के माध्यम से त्रासदी का

विस्तृत विवेचन किया है। कथानक, चरित्र और विचार अनुकरण के विषय हैं। दृश्य विधान अनुकरण की पद्धति है तथा पदावली और गीत अनुकरण के माध्यम हैं। यह बिल्कुल वैसी ही प्रक्रिया है वैसे दुखी होने पर एक सहृदय व्यक्ति करुणा से युक्त गीत/गजल सुनना पसंद करता है। गौरतलब है कि करुणा से युक्त गीत/गजल दुख को और नहीं बढ़ाते बल्कि उनका शमन करते हैं और अंततः व्यक्ति को उन गीतों के माध्यम से आनंद की प्राप्ति होती है।

2. विरेचन

विरेचन सिद्धांत का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रंथों में मिलता है। 'राजनीति' में और 'काव्यशास्त्र' में। 'राजनीति' में संगीत के प्रभाव का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि संगीत का अध्ययन एक नहीं बल्कि अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए।

1. शिक्षा के लिए
2. विरेचन के लिए

शिक्षा के लिए सर्वाधिक नैतिक रागों को प्राथमिकता देनी चाहिए। किन्तु दूसरों का संगीत सुनते समय हम कार्य और आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का ही आनंद ले सकते हैं। धार्मिक रागों के प्रभाव से करुणा, त्रास अथवा आवेश जैसे भाव क्षमित हो जाते हैं। अरस्तू का मानना है कि धार्मिक रागों के प्रभाव से आवेश का शमन ऐसे हो जाता है मानो विरेचन हो गया हो।

विरेचन मूलतः चिकित्सा शास्त्र का शब्द है जिसका अर्थ है 'रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों, प्रायः उदर के विकारों की शुद्धि।' ध्यान रहे, अरस्तू वैद्य के पुत्र थे और आयुर्वेदिक उपचारों आदि का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। यह शब्द उन्होंने चिकित्सा शास्त्र से ग्रहण किया था। उदर में किसी प्रकार कि गड़बड़ी होने पर यूनानी चिकित्सक रेचक औषधि लेकर रोगी का उपचार करते थे। इस अर्थ में विरेचन शब्द यूनानी चिकित्सा शास्त्र में अरस्तू के पहले से प्रचलित था। अरस्तू ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इसका लाक्षणिक प्रयोग किया है।

प्रो. गिल्बर्ट मरे का कथन है कि यूनान में 'डियोनिसिस' नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था। 'लिवी' के अनुसार 361 ई.पू. में अरस्तू के जीवन काल में ही यूनानी त्रासदी का रोम में प्रवेसग कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं, वरन एक प्रकार के धार्मिक अंधविश्वास के रूप में किसी महामारी के निवारण के लिए हुआ था। 'हाल' की स्थिति से उत्पन्न आवेश के शमन के लिए यूनान में 'उद्दाम संगीत' का उपयोग होता था। बाह्य विकारों के द्वारा आंतरिक विकारों की शांति की जाती थी। अरस्तू ने इसी का लाक्षणिक प्रयोग काव्य के संबंध में किया है।

अतएव इन तथ्यों के आधार पर विरेचन का अर्थ हुआ 'बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शांति'। (डॉ. नगेन्द्र)

अपने अनुकरण सिद्धांत की भांति ही अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत का प्रतिपादन भी प्लेटो के आक्षेप के प्रतिवाग के रूप में किया है। प्लेटो ने काव्य पर यह दोष लगाया था कि 'कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है'। (रिपब्लिक)

अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित चिकित्सा पद्धति से संकेत ग्रहण कर विरेचन के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा इसी आक्षेप का उत्तर दिया है।

9.4 : पाठ सार

प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ही तत्कालीन यूनानी पृष्ठभूमि की उपज हैं। अतः उनके चिंतन में यूनानी राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन का प्रभाव दिखाई देता है। प्लेटो तथा अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत में निम्नलिखित अंतर दिखाई देते हैं :

- प्लेटो कला और काव्य को सत्य से तिगुना दूर मानता था और इसीलिए उसे समाज के लिए हानिकारक मानता था जबकि उनके शिष्य अरस्तू ने अनुकरण को नकल न मानकर पुनर्सृजन माना है।
- प्लेटो ने अनुकरण सिद्धांत की चर्चा शिक्षा के संदर्भ में की है जबकि अरस्तू ने सर्वप्रथम अनुकरण का काव्य सौन्दर्य के संदर्भ में विस्तार से विवेचन किया।
- प्लेटो के अनुसार राज्य का शासन कानून के अधीन होना चाहिए, कानून सरकार के अधीन नहीं। अरस्तू भी कानून की सर्वोच्चता के समर्थक है।
- नैतिक जीवन के प्रति दोनों दार्शनिकों कि गहरी आस्था है। दोनों का मानना हैं कि नैतिक शिक्षा द्वारा नागरिक को सच्चरित्र और सद्‌गुणी बनाना चाहिए।
- राजनीति, संविधान तथा लोकतंत्र के संबंध में अरस्तू ने प्लेटो से कदम-कदम पर प्रेरणा ली है। केवल काव्य सिद्धांत अथवा साहित्य चिंतन के संबंध में अरस्तू प्लेटो की स्थापनाओं को पूरी तरह से नकारता तो नहीं है किन्तु उसकी व्याख्या करते हुए प्लेटो की इस धारणा का खंडन अवश्य करता है कि 'काव्य हूबहू नकल होता है और कवियों का समाज में कोई स्थान नहीं है'। अरस्तू का मानना है कि काव्य क्योंकि सार्वभौमिक सत्य की अभिव्यक्ति होता है अतएव समाज के लिए महत्वपूर्ण है।

9.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित विषय स्पष्ट हुए है –

1. अनुकरण का अर्थ और अनुकरण सिद्धांत की पीठिका।
2. अरस्तु का परिचय।
3. प्लेटो तथा अरस्तु के अनुसार अनुकरण सिद्धांत का स्वरूप।
4. अनुकरण की विभिन्न व्याख्या।
5. अरस्तु के साहित्य चिंतन के अन्य पक्ष।

9.6 : शब्द संपदा

1. अनुकरण = नकल करना, पुनः सृजन करना।
2. विरेचन = नकारात्मक भावनाओं का उद्दीपन और शमन।
3. कामेडी = सुखांत नाटक
4. त्रासदी = दुःखांत नाटक

9.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में लिखिए।

1. 'अनुकरण' शब्द का अर्थ लिखते हुए अनुकरण की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
2. अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत की उदाहरण सहित चर्चा कीजिए।

खंड (ब)

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. प्लेटो की अनुकरण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. अरस्तू की त्रासदी की अवधारणा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. अरस्तू के विरेचन सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
4. प्लेटो तथा अरस्तू के चिंतन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए।

1. अरस्तू ने कलाओं में अनुकरण के तीन माध्यम बताए हैं। निम्नलिखित में से कौन सा विकल्प इस संबंध में गलत है: ( )

   (अ) नृत्य (आ) साहित्य (इ) संगीत (ई) भाषा

2. अरस्तू ने अनुकरण के लिए किस ग्रीक शब्द का प्रयोग किया है? ( )

   (अ) इमिटेशन (आ) मीमेसिस (इ) थीसिस (ई) पेरिपोएतिक्स

3. अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत को भारतीय काव्यशास्त्र के किस सिद्धांत से जोड़कर देखा जा सकता है? ( )

   (अ) रीति सिद्धांत (आ) वक्रोक्ति सिद्धांत

   (इ) रस सिद्धांत (ई) औचित्य सिद्धांत

4. अरस्तू का जन्म कब हुआ था? ( )

   (अ) 312 ई. पू. आ) 356 ई. पू. इ) 396 ई. पू. ई) 384 ई. पू.

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. अरस्तू का जन्म _____ प्रायद्वीप में हुआ था।
2. सिकंदर के गुरु _____ थे।
3. अरस्तू के अनुसार संवाद के क्षेत्र में _____ का अनुकरण किया जाता है।

उत्तर: (1. बाल्कन 2. अरस्तू 3. आदत)

III. सुमेल कीजिए।

1. प्लेटो	अ. पोएटिक्स
2. अरस्तू	आ. चिकित्सा शास्त्र
3. मीमेसिस	इ. करुणा
4. विरेचन	ई. रिपब्लिक
5. त्रासदी	उ . अनुकरण

उत्तर: (1-ई, 2-अ, 3-उ, 4-आ, 5-इ)

9.8 : पठनीय पुस्तकें

1. मिश्र सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ
2. गुप्त गणपति चंद्र, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत

इकाई 10 : लोंजाइनस का उदात्त-विचार : पेरि-इप्सुस

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 मूल पाठ : लोंजाइनस और पेरि-इप्सुस

10.3.1 लेखक का प्रतिपाद्य

10.3.2 'उदात्त' का स्वरूप

10.3.3 अंतरंग तत्त्व

10.3.4 बहिरंग तत्त्व

10.3.5 विरोधी तत्त्व

10.3.6 भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त तत्त्व

10.4 पाठ-सार

10.5 पाठ की उपलब्धियाँ

10.6 शब्द संपदा

10.7 परीक्षार्थ प्रश्न

10.8 पठनीय पुस्तकें।

10.1 : प्रस्तावना

डॉ. नगेन्द्र 'काव्य में उदात्त तत्त्व' की भूमिका में लिखते हैं- "यूनानी काव्यशास्त्र में अरस्तू के प्रसिद्ध निबंध 'पेरि पोइतिकेस' के बाद दूसरा स्थान है 'पेरि इप्सुस' का। 'पेरि इप्सुस' का शब्दार्थ है 'औदात्य (ऊँचाई) के विषय में' – जिसका अंग्रेजी रूपांतर 'ऑन दि सबलाइम' पाश्चात्य साहित्य में अत्यंत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रख्यात ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवितम्' (कुंतक) की तरह 'पेरि इप्सुस' भी शताब्दियों तक विस्मृति के गर्भ में पड़ा रहा। रचनाकाल के लगभग हजार-डेढ़ हजार वर्ष बाद सन् 1554 ई. में पहली बार प्रस्तुत निबंध का प्रकाशन हुआ, जिस पर लेखक के रूप में दियोन्युसिअस लोंगिनुस का नाम अंकित था। इसके उपरांत यूरोप की अनेक भाषाओं में ग्रंथ के, एक के बाद एक, अनुवाद प्रकाशित होते गए और सब में लोंगिनुस को ही, बिना किसी प्रकार के तर्क-वितर्क के, लेखक रूप में स्वीकार किया जाता रहा।" यह वस्तुत: लोंगिनुस का उसके किसी मित्र या शिष्य, जिसका नाम

पोस्तुमिउस तेरेंतिआनुस को लिखा गया एक पत्र है, जिसका विषय क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। प्रस्तुत इकाई में लोंजाइनस द्वारा प्रणीत 'उदात्त' का विस्तृत विवेचन किया गया है।

10.2 : उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़कर विद्यार्थी:

1. लोंजाइनस के 'पेरिइप्सुस' ग्रंथ की विषयवस्तु से परिचित हो सकेंगे।
2. 'उदात्त' की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
3. काव्य में 'उदात्त' तत्त्व की विवेचना कर सकेंगे।
4. लोंजाइनस के औदात्य विवेचन तथा भारतीय काव्यशास्त्र में 'उदात्त' विवेचन का समानांतर विश्लेषण कर सकेंगे।

10. 3 : मूल पाठ : लोंजाइनस का उदात्त-विचार : पेरि-इप्सुस

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने लोंजाइनस का समय भिन्न-भिन्न माना है, किन्तु सर्वमान्य मत यह है कि लोंजाइनस अथवा लोंगिनुस का समय ईसा की तीसरी शताब्दी है। ये पालम्युरा की महारानी जेनोबिया का व्युत्पन्न मंत्री था और जिसने पालम्युरा के विप्लव के बाद अत्यंत साहसपूर्वक वीरगति का वरण किया था। इसका पूरा नाम दियोन्युसिअस लोंगिनुस न होकर कैस्सियस लोंगिनुस था। लोंगिनुस के द्वारा लिखे गए निबंध 'पेरि-इप्सुस' का उसके रचनाकाल के लगभग हजार-डेढ़ हजार वर्ष बाद सन् 1554 ई. में पहली बार प्रकाशन हुआ। जो दियोन्युसिअस लोंगिनुस के नाम से प्रकाशित हुआ था। तदुपरांत यूरोप की अनेक भाषाओं में इस ग्रंथ के अनुवाद हुए। इसका पहला अंग्रेजी अनुवाद सन् 1652 में हुआ। "इस कृति ('पेरि-इप्सुस') के शीर्षक का अंग्रेजी में कई प्रकार से रूपांतर हुआ। प्रथम अनुवादक हाल इसे भाषण की उच्चता (The Height of Eloquence) कहता है। पल्टे ने इसे 'उच्चता या भाषण की भव्यता' (The Loftiness of Elegancy of Speech) शीर्षक दिया। बाद के अधिकांश संस्करणों का शीर्षक 'भव्यता पर' (On the Sublime) है। भव्यता या उदात्त (Sublime) शब्द ही 18 वीं शताब्दी में सर्वाधिक प्रचलित रहा। प्रोफेसर टकर ने अपने अनुवाद को 'शैली की उत्कृष्टता पर' (On the Elevation of Style) शीर्षक दिया और अपनी भूमिका में उदात्तता (Sublimity) के लिए 'अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता' (Excellence of Expression) के प्रयोग का सुझाव दिया।

'पेरि-इप्सुस' (काव्य में उदात्त तत्त्व)

लोंजाइनस द्वारा रचित 'पेरि-इप्सुस' वस्तुत: उसके द्वारा उसके मित्र पोस्तुमिउस तेरेन्तिआनुस को लिखा गया एक पत्र है जिसमें आरंभ में कैकिलिउस के औदात्य-विषयक प्रबंध

की चर्चा की गई है, तत्पश्चात लोंजाइनस द्वारा औदात्य के संबंध में अपने विचार प्रकट किए गए हैं। लोंजाइनस के अनुसार औदात्य अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है और केवल इसी के आधार पर श्रेष्ठ कवियों और लेखकों ने अपनी प्रतिष्ठा एवं अमर यश का अर्जन किया है। उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यय के रूप में नहीं वरन् भावोद्रेक के रूप में पड़ता है। लोंजाइनस उदात्त भाषा को महत्त्वपूर्ण मानता है तथा सामान्य जीवन के संबंध में 'सौभाग्य' तथा 'सद्बुद्धि' की चर्चा करते हुए इनका प्रयोग काव्य-भाषा के लिए करता है। लोंजाइनस मानता है कि काव्य-भाषा के क्षेत्र में सौभाग्य प्रकृति है और सद्बुद्धि कला। वह कहता है कि जिस प्रकार सद्बुद्धि के अभाव में सौभाग्य नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के वे तत्त्व जो प्रकृति के आश्रित हैं, उनका ज्ञान कला के अतिरिक्त और कहीं से नहीं प्राप्त कर सकते। वह मलिन अभिव्यक्ति तथा अस्पष्ट बिम्ब-योजना को निकृष्ट मानता है। इसके साथ ही वह साधारण तथ्य-वर्णन के लिए रुचि विहीन वाग्-स्फीति को अक्षम्य मान्यता है। निबंध के समान अपने लंबे पत्र में वह लियोन्तिनी, कल्लिस्थनेस, क्लेइतारखुस तथा सोफोक्लेस की भाषा के उदाहरण देते हुए उन्हें उदात्त नहीं बल्कि अतिशयोक्तिपूर्ण बताता है। उसका मानना है कि जब ये लेखक समझते हैं कि हम किसी अंत:प्रेरणा के वशीभूत होकर लिख रहे हैं, उस समय वस्तुत: इनमें सच्चे भावावेश का अभाव होता है और ये केवल शब्द-क्रीड़ा में उलझे रहते हैं। उसका मानना है कि किसी रचना में औदात्य स्वत: तथा अनायास प्रकट होना चाहिए, किसी विशेष प्रयास से नहीं। जब कोई लेखक औदात्य पाने का प्रयास करता है तो उसकी भाषा क्षीण तथा शुष्क हो जाती है और वह लेखक अपने लक्ष्य से दूर हो जाता है। भाषा की शिथिलता को वह दोष मानता है, क्योंकि उससे अपने उद्देश्य के प्रतिकूल परिणाम की आशंका रहती है। वह भाषा की शिथिलता को वागाडंबर मानता है। लोंजाइनस मानता है कि वागाडंबर में उदात्त की सीमा का अतिक्रमण करने की इच्छा रहती है। भाषा का एक और दोष है- बालेयता। बालेयता उदात्त के बिल्कुल विपरीत होता है। इसे वह सर्वथा निकृष्ट और क्षुद्र तथा शैली का सबसे जघन्य दोष मानता है। लोंजाइनस का मानना है कि बालेयता नामक दोष विद्या-जड़ व्यक्ति के विचारों में निहित रहता है जिनका आरम्भ पाण्डित्यपूर्ण तुच्छता और अंत निष्प्राण वाचालता में होता है। कोई भी लेखक इस प्रकार की भूल तब करता है जब वह झूठी शोभा और कृत्रिमता के चक्कर में पड़ जाता है। तीसरा दोष वह भावाडंबर को मानता है। लोंजाइनस भावाडंबर उसे मानता है जहाँ किसी आवेग की आवश्यकता नहीं है वहाँ अवसर के अनुपयुक्त खोखले आवेग का प्रदर्शन किया जाए अथवा जहाँ संयम् की आवश्यकता है वहाँ असंयम् दिखाई पड़े।

उल्लेखनीय है कि लोंजाइनस ने यह पत्र जिसमें उसने 'पेरि-इप्सुस' की अवधारणा की चर्चा की थी, वह भाषण के संदर्भ में था। इसलिए इन समस्त दोषों की चर्चा वह वक्ता और

श्रोता के संबंधों के विषय में करता है। उसका मानना है कि यदि वक्ता भाव प्रदर्शन में बहक जाए तो श्रोता प्रभावित नहीं होते। वक्ता जब विचारों की अभिव्यक्ति में नवीनता की खोज के पीछे भागता है तब इस प्रकार के दोष दृष्टिगत होते हैं। इसलिए एक ओर जहाँ प्रभावी रचना के लिए अभिव्यक्ति के अलंकार, उदात्त के स्पर्श और मनोहारी काव्य प्रसाधन अनुकूल होते हैं वहाँ दूसरी ओर यही सब उपकरण अविवेकी प्रयोग से विफलता के आधार सिद्ध होते हैं। लोंजाइनस मानता है कि जो बात मनुष्य के साधारण जीवन के विषय में सही है वही 'उदात्त' के विषय में भी है।

लोंजाइनस का मानना है कि उदात्त भाषा का एक सामान्य आधार है, जो हर स्थिति में अनिवार्य है, वह है 'वाक्-प्रतिभा'। उसने उदात्त भाषा के 5 प्रमुख उद्गम स्रोत बताए हैं:

1. महान धारणाओं की क्षमता
2. उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग
3. अलंकारों की समुचित योजना
4. उत्कृष्ट भाषा
5. गरिमामय एवं ऊर्जित रचना विधान

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि औदात्य के लिए भाषा के छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त प्रवाह से घातक वस्तु दूसरी कोई नहीं है। लोंजाइनस भाषा के संतुलित प्रयोग की बात करता है जिसमें भाव, बिम्ब, कल्पना, अलंकार, आदि सभी का संतुलित उपयोग हो। वह अत्यधिक विस्तारणा को भी दोष मानता है और कहता है कि उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता से भी औदात्य का ह्रास होता है। अभिव्यक्ति की क्षुद्रता से भी औदात्य नष्ट होता है। इस प्रकार कुल-मिलाकर लोंजाइनस ने अपने पत्र में भाषा एवं अभिव्यक्ति के गुण-दोषों की विस्तार से उदाहरण सहित चर्चा की है।

बोध प्रश्न –

- 'पेरि-इप्सुस' किस की रचना है ?

10.3.1 लेखक का प्रतिपाद्य

डॉ. नगेंद्र के शब्दों में लोंजाइनस के 'पेरि-इप्सुस' का मूल विवेच्य 'अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता' ही है। उदात्त की कला का और स्पष्ट शब्दों में इस बात का विवेचन है कि हम अपनी स्वाभाविक क्षमता को औदात्य के किसी निश्चित स्तर तक किस प्रकार उन्नमित कर सकते हैं यही प्रस्तुत निबंध (पेरि-इप्सुस) का मूल प्रतिपाद्य है।

स्थूल रूप से लेखक के प्रतिपाद्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है:

1. विशेष सिद्धांत – अर्थात् उदात्त शैली का विवेचन
2. सामान्य सिद्धांत – अर्थात् कला के आधारभूत सिद्धांतों का विवेचन

10.3.2 उदात्त का स्वरूप

लोंजाइनस ने उदात्त की कोई परिभाषा नहीं दी है बल्कि उसे स्वतः स्पष्ट तथ्य मानकर छोड़ दिया है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य यद्यपि उदात्त शैली के तत्वों अर्थात् उदात्त के बहिरंग तत्वों का विवेचन ही रहा है किंतु उदात्त के आध्यात्मिक पक्ष की चर्चा करते हुए मनोवैज्ञानिक स्तर पर उसने उदात्त का निरूपण किया है जिससे अंतरंग तत्वों के भी मौलिक संकेत प्राप्त होते हैं। लोंजाइनस की मुख्य देन काव्य के मूलभूत तत्व की खोज, उसके स्वरूप का विवेचन, उसके स्रोत का संकेत तथा उसके प्रभाव का द्योतन है। ये तत्व ही मूलतः उदात्तता या भव्यता का सिद्धांत है। लोंजाइनस के अनुसार काव्य में सबसे मुख्य यही भव्यता है। भव्यता वह स्वर है जो महान मस्तिष्क से ध्वनित होता है। भाषागत उच्चता और उत्कृष्टता से लेखक इस भव्यता को प्राप्त कर सकते हैं। भव्यता वह स्थिति है जब श्रोता अथवा पाठक की आत्मा आह्लाद से भर जाती है और अपूर्व ढंग से कवि की भावना के साथ एकाकार हो जाती है और दोनों में (वक्ता-श्रोता अथवा कवि-पाठक) तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यह कुछ-कुछ उस दशा के समान है जब पाठक का कवि के भावों के साथ साधारणीकरण होता है। इस स्थिति का जो प्रभाव श्रोता अथवा पाठक के हृदय पर पड़ता है वह नित्य ही आनंददायी होता है और उसकी छाप अमिट होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वह सहजावस्था है जब आत्मा उन्नत स्थान प्राप्त करती है और गौरवपूर्ण उच्च पद ग्रहण करती है। यह आनंद और आह्लाद से भर जाती है। लोंजाइनस भव्यता और भाव के संबंध पर विशेष ज़ोर देता है। वह ऐसी कृति को महान कहता है जो उदात्तता, उच्च भाव तथा भव्यता के द्वारा हमारे भावावेश का शमन करता है। लोंजाइनस के इस शमन कथन को अरस्तू के विवेचन सिद्धांत से जोड़कर भी देखा जाता है। हालाँकि आलोचकों का मानना है कि लोंजाइनस के भव्यता का लक्ष्य अरस्तू के विवेचन से कहीं ऊँचा है क्योंकि वह हमें आह्लाद अथवा आनंद की स्थिति में ले जाता है। इसी संदर्भ में वह अभिव्यक्ति के गुण-दोषों की चर्चा करता है।

10.3.3 अंतरंग तत्व

लोंजाइनस ने औदात्य के 5 उद्गम स्रोतों का निर्देश दिया है जिनमें से 2 जन्मजात हैं और शेष 3 कलागत। इनका उल्लेख ऊपर किया गया है। लोंजाइनस प्रथम और द्वितीय यानी महान धारणाओं की क्षमता तथा उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग को औदात्य का जन्मजात तत्व मानता है। इन दोनों तत्वों का संबंध आत्मा की गरिमा से है। आवेग के सभी रूप उदात्त नहीं होते। लोंजाइनस ने आवेग की भी कोटियाँ बताई हैं। उसका मानना है कि केवल प्रेरणा प्रसूत भव्य आवेग ही औदात्य का उद्गम है। भव्य आवेग से अभिप्राय ऐसे आवेग से है जिससे हमारी आत्मा अपने आप ही ऊपर उठकर उच्चाकाश में विचरण करती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो

जाती है। इसी प्रकार का भव्य आवेग उदात्त की सृष्टि करता है। उसने दया, शोक, भय, आदि आवेगों को निम्नतर कोटि का बताते हुए औदात्य से बहुत दूर का माना है। लोंजाइनस ने उदात्त के आंतरिक स्वरूप की व्याख्या प्रभाव वर्णन द्वारा किया है। वह महान रचना उसे मानता है जिससे प्रभावित न होना असंभव हो जाए और जिसकी स्मृति मानस पटल पर इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाए न मिटे। औदात्य लेखक को ईश्वर के समीप ले जाता है जहाँ दोषमुक्त होने से एक तरफ़ आलोचनाओं से छुटकारा मिलता है और गरिमा, आदर और विस्मय को जन्म देती है।

भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में उसके विवेचन में विभाव और भाव दोनों पक्षों का वर्णन है।

(1)विभाव पक्ष:

विभाव से अभिप्राय भाव के कारण का है और भाव का अर्थ है अनुभूति। संक्षेप में स्वयं लोंजाइनस के शब्दों में उदात्त आलम्बन के गुण हैं: जीवंत आवेग प्रचुरता, तत्परता, जहाँ उपयुक्त हो वहाँ गति तथा ऐसी शक्ति और वेग जिनकी समता करना संभव नहीं।

(2)भाव पक्ष :

भाव पक्ष की चर्चा करते हुए लोंजाइनस ने उदात्त की अनुभूति के अंतर्तत्व इस प्रकार बताए हैं:

1. मन की ऊर्जा अर्थात् आत्मा का उत्कर्ष करने वाली प्रबल अनुभूति
2. उल्लास अर्थात् औदात्य के वह उदाहरण जो व्यक्तियों को सर्वदा आनंद प्रदान कर सकें।
3. संभ्रम अर्थात् आदर और विस्मय अर्थात् विस्मय विमूढ़ कर देने वाली वह अभिव्यक्ति जो गरिमा, आदर और विस्मय को जन्म देती है।
4. अभिभूति अर्थात् संपूर्ण चेतना के अभिमत हो जाने की अनुभूति

10.3.4 बहिरंग तत्व

लोंजाइनस के उस पत्र-शैली में लिखे गए 'पेरिइप्सुस' निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य उदात्त शैली है। डॉ. नगेन्द्र भी ऐसा मानते हैं। उन्होंने मुख्यत: उन तत्त्वों पर अपना ध्यान केंद्रित किया है जिनके द्वारा शैली उदात्त बनती है। लोंजाइनस 'उदात्त शैली' को कला की उपज मानते हैं। बहिरंग तत्त्व कलात्मक सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक होते हैं। किन्तु, ध्यातव्य है कि लोंजाइनस इन बहिरंग तत्त्वों के समुचित प्रयोग की बात करते हैं। उनके अनुसार कलात्मक सौन्दर्य के ये चार तत्त्व हैं:

1) समुचित अलंकार योजना।
2) उत्कृष्ट भाषा

3) गरिमामय एवं ऊर्जित रचना विधान

4) कल्पना तत्त्व

(1)समुचित अलंकार योजना

काव्य में अलंकार-योजना के संदर्भ में लेखक दो तथ्यों की बात करते हैं: एक, अलंकार विधान का औचित्य और दूसरा, उदात्त के पोषक अलंकारों का निर्देश। उल्लेखनीय है कि वे अलंकार विधान के औचित्य की बात करते हैं। विद्यार्थी यहाँ भारतीय काव्यशास्त्र के औचित्य सिद्धांत का संदर्भ अवश्य ग्रहण करें। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कलात्मक सौन्दर्य के तत्त्वों के औचित्य के अभाव में कविता दोषयुक्त हो जाती है। केशव की 'रामचंद्रिका' इसका उदाहरण है। आलोचकों ने इस पर तरह-तरह के आरोप लगाए हैं। लोंजाइनस अलंकार-विधान में औचित्य को प्राथमिकता देते हैं। उनका मानना है कि अलंकारों का प्रयोग तो आवश्यक है किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है उनके प्रयोग का औचित्य। अलंकारों के प्रयोग की भव्यता उदात्तता का सृजन तभी करेगी जब उसका प्रयोग उचित स्थान, उचित ढंग तथा उचित परिस्थिति में किया जाएगा। अलंकारों के प्रयोग का उद्देश्य भी तभी सार्थक होगा। अलंकार वह साधन है जो कविता को सहज ढंग से सौन्दर्य प्रदान कर उसके उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होता है। अलंकारों के प्रयोग की सार्थकता तभी है जब वह प्रसंग का सहज अंग बनकर आए। कविता पढ़ते समय पाठक का ध्यान अलंकार की तरफ नहीं बल्कि कवि की उस सिद्धि की तरफ जाए जिसकी अभिव्यक्ति कवि का लक्ष्य है। कला की सफलता इसी में है कि पाठक कला के बहिरंग तत्त्वों में न उलझकर बल्कि उसके प्राण-तत्त्व में प्रवेश करके कवि के भावों को ग्रहण करने में समर्थ बने। लोंजाइनस अलंकारों के प्रसंगानुकूल तथा अयत्नज प्रयोग पर बल देते हैं, क्योंकि उनका मानना है कि कला जब प्रकृति के समान अर्थात सहज होती है तभी सम्पूर्ण होती है।

लोंजाइनस ने उदात्त के पोषक अलंकारों के अंतर्गत रूपक, विस्तारणा, शपथोक्ति (सम्बोधन), प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्नवाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति आदि का मनोवैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया है। लोंजाइनस का मानना है कि रूपकों का विवेकपूर्ण प्रयोग उदात्त शैली के निर्माण में सहायक होता है। अतिशयोक्ति का प्रयोग सतर्कतापूर्वक करना चाहिए, वरना रचना के उपहास्य बन जाने की संभावना अधिक रहती है। विस्तारणा विषय के विस्तार में सहायक होता है। विस्तारणा के प्रमुख तत्त्व हैं- विवरण और माधुर्य। लोंजाइनस के द्वारा विवेचित अलंकारों के अलग-अलग कार्य हैं। शपथोक्ति ओज और विश्वास की सृष्टि करता है। प्रश्नालंकार में वक्ता स्वयं ही प्रश्न करके स्वयं ही उनके उत्तर प्रदान करता है। अलंकारों के इस समस्त विवेचन में लोंजाइनस वक्ता को अलंकारों के विवेकपूर्ण प्रयोग के लिए सतत सतर्क करता है।

(2)उत्कृष्ट भाषा

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम' की तरह लोंजाइनस भी भाषा की गरिमा का मूल आधार शब्द-सौन्दर्य को मानते हैं। शब्द-सौन्दर्य से उनका तात्पर्य उपयुक्त और प्रभावक शब्द प्रयोग है। डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि सुंदर शब्द ही वास्तव में विचारों को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं। और उन्हीं के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में किसी रचना में सुंदरतम मूर्तियों की भाँति भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा, ओज और शक्ति तथा अन्य श्रेष्ठ गुणों का आविर्भाव होता है और मृतप्राय वस्तुएं जीवंत हो उठती हैं। यहाँ पुन: लोंजाइनस गरिमामय पदावली के प्रयोग के औचित्य की बात करते हैं और वस्तु और शब्द के बीच सामंजस्य स्थापित करके उदात्त-योजना के सृजन की बात करते हैं।

(3)गरिमामय और ऊर्जित रचना विधान

सामंजस्य रचना का प्राण तत्त्व है, जो उदात्त शैली के निर्माण के लिए अनिवार्य है। यह सामंजस्य रचना-विधान के अंतर्गत शब्दों, विचारों, कार्यों, सुंदरता तथा राग के मध्य देखा जा सकता है। इस सामंजस्य के माध्यम से वक्ता और श्रोता के बीच समभाव की स्थापना होती है। श्रोता भव्यता, गरिमा, ऊर्जा तथा अपने भीतर निहित प्रत्येक भाव की ओर प्रवृत्त होता है और इस प्रकार हमारे मन के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है।

(4)कल्पना तत्त्व

कल्पना बिम्ब की निर्मात्री शक्ति है। कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को वर्ण्य-विषय का मनसा दर्शन कराती है और फिर कवि चित्रात्मक भाषा के माध्यम से बिम्ब का निर्माण करता है। श्रोता अथवा पाठक जब उस रचना को सुनता अथवा पढ़ता है तब उसके सामने भी वह बिम्ब प्रत्यक्ष हो जाता है। लोंजाइनस ने बिम्ब को भी उदात्त शैली के तत्त्वों के अंतर्गत गिना है और प्रसंगत: उनकी निर्मात्री शक्ति कल्पना की ओर भी संकेत किया है। वे मानते थे कि बिम्ब भी वक्ता की गरिमा, ऊर्जा और शक्ति के सम्पादन में बहुत-कुछ सहायता करते हैं।

लोंजाइनस ने इस संबंध में दो महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं:

1. सामान्यत: बिम्ब मन के प्रत्येक ऐसे विचार को कहा जाता है जो चाहे किसी रूप में भी प्रकट होने पर वाणी को प्रस्फुरित करता है।
2. परंतु आजकल यह शब्द मुख्यत: ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त होता है जहां उत्साह और आवेग में आकर हम प्राय: यह सोच लेते हैं कि हम जो कुछ भी वर्णन कर रहे हैं उसे साक्षात देख रहे हैं और अपने श्रोताओं के आगे भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं। कवि-कल्पना विषयक

अवधारणा पर भारतीय काव्यशास्त्र में भी बात की गई है। लोंजाइनस ने भी इसका संकेत दिया है।

10.3.5 विरोधी तत्त्व

लोंजाइनस ने उदात्त शैली के कुछ विरोधी तत्त्व भी बताए हैं, जिनके कारण औदात्य में बाधा उत्पन्न होती है। उनके बताए कुछ विरोधी तत्त्व इस प्रकार हैं-

1. बालेयता (Purility)
2. रुचिहीन वागस्फीति
3. भावाडंबर
4. शब्दाडंबर
5. अभिव्यक्ति की क्षुद्रता
6. अत्यधिक संक्षिप्तता

बचकाना दुर्गुणों को बालेयता की संज्ञा दी गई है; जैसे- चपलता, गरिमा का अभाव, संयम का अभाव, हीनता, कायरता आदि। ध्यान रहना चाहिए कि लोंजाइनस यह सारी ही बातें भाषण के संबंध में कह रहे हैं। लेखन के संदर्भ में भी उन्हें समझा जा सकता है। वे मानते हैं कि अवसर के अनुपयुक्त आवेग का प्रयोग अथवा जहां संयम रखने की आवश्यकता है वहाँ असंयम का प्रदर्शन उदात्त का विरोधी है। वे क्षुद्र अर्थ के वाचक शब्दों को 'अभिव्यक्ति की क्षुद्रता' कहते हैं और उसे भाषा पर कलंक बताते हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि लोंजाइनस प्रत्येक स्थिति में औचित्य तथा संतुलन के समर्थक हैं। लोंजाइनस के इस निबंध का मुख्य उद्देश्य आरंभ में भाषण-कला से संबंधित था और उसने जो विचार किया है वह मुख्यत: शैलीगत है, किन्तु उसके निष्कर्ष काव्यगत बन जाते हैं।

10.3.6 भारतीय काव्य शास्त्र में उदात्त तत्त्व

भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त का विवेचन अलग से तो नहीं किया गया किन्तु भारतीय साहित्य तथा दर्शन उदात्त के उदाहरणों से भरा पड़ा है। भारतीय दर्शन में भगवान के विराट रूप की कल्पना उदात्त का उदाहरण है। भारतीय काव्य में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, तुलसीदास आदि के अनेक वर्णन उदात्त के भव्य उदाहरण हैं।

नायक के चारों भेदों- धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत, धीरोद्धत में से धीरोदात्त को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। वीर और अद्‌भुत रस में तथा ओज गुण के विवेचन में उदात्त के भाव-विभाव पक्ष की चर्चा की गई है। गौड़िया रीति के वर्णन में उसके शैली पक्ष की विवेचना की गई है।

10.4 : पाठ सार

डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं कि लोंजाइनस के मत का सारांश यह है कि-

- विभाव रूप में उदात्त का अर्थ अनंत विस्तार, असाधारण शक्ति एवं वेग, अलौकिक ऐश्वर्य तथा उत्कट प्रभाव -क्षमता आदि से है।
- भाव रूप में उदात्त से तात्पर्य उल्लास, विस्मय, संभ्रम आदि संचारियों से पुष्ट, आत्मा का उत्कर्ष करने वाली ऐसी प्रबल अनुभूति से है जो सम्पूर्ण चेतना को अभिभूत कर दे।
- शैली के रूप में उदात्त के आधार तत्त्व हैं – उपयुक्त एवं प्रभावक शब्दों से युक्त उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय रचना-विधान, भव्य-योजना और प्राय: अतिशयमूलक अलंकारों की योजना जिन पर औचित्य का अनुशासन अनिवार्यता: रहना चाहिए।

10.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष उपलब्ध हुए हैं-

- लोंजाइनस ने उदात्त की कोई परिभाषा नहीं दी है किन्तु समग्र विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि उदात्त शैली से उनका अभिप्राय अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता से है।
- लोंजाइनस ने औदात्य का विचार भाषण-कला के संबंध में किया है।
- औदात्य के संबंध में उन्होंने तीन तत्त्वों की चर्चा की है- अंतरंग तत्त्व, बहिरंग तत्त्व और विरोधी तत्त्व।
- उनका मानना है कि किसी रचना में औदात्य स्वत: प्रकट होना चाहिए, किसी विशेष प्रयास से नहीं।
- लोंजाइनस का मानना है कि उदात्त अभिव्यक्ति का आधार उदात्त भाषा है, जिसके लिए वाक्-प्रतिभा अनिवार्य है।
- लोंजाइनस संतुलित भाषा के प्रयोग की बात करता है, जिसमें भाव, बिम्ब, कल्पना, अलंकार आदि सभी का संतुलित उपयोग हो।
- भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में उदात्त विवेचन में विभाव और भाव दोनों पक्षों का वर्णन है।
- बालेयता, रुचिहीन वागस्फीति, भावाडम्बर, शब्दाडंबर, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता तथा अत्यधिक संक्षिप्तता को उदात्त का विरोधी तत्त्व कहा गया है।

10.6 : शब्द संपदा

1. उदात्त = ऊंचा अथवा महान
2. वागस्फीति = आवश्यकता से अधिक बोलना अथवा बढ़-चढ़कर बोलना
3. वागाडंबर = भाषा की कृत्रिमता
4. बालेयता = बचकाना वाग्-व्यवहार (दुर्गुण)
5. औचित्य = उचित का भाव

10.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में लिखिए।

1. लोंजाइनस के 'उदात्त' की अवधारणा पर समग्रता से प्रकाश डालिए।
2. उदात्त के अंतरंग तथा बहिरंग तत्त्वों की विवेचना कीजिए।

खंड (ब)

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. 'पेरिइप्सुस' का परिचय दीजिए।
2. औदात्य के विरोधी तत्त्व कौन-कौन से हैं? परिचय दीजिए।
3. उदात्त शैली के संदर्भ में लेखक के प्रतिपाद्य की चर्चा कीजिए।
4. भारतीय काव्यशास्त्र में 'उदात्त-तत्त्व' की विवेचना किन-किन संदर्भों में हुई है, समझाइए।

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए।

1. 'पेरिइप्सुस मूलत: ---------- के संबंध में लिखा गया निबंध है: ( )

   अ) चित्रकला (आ) नृत्यकला (इ) भाषण-कला (ई) काव्यकला

2. बालेयता क्या है? ( )

   (अ) इमैजिनेशन (आ) प्युरिलिटी (इ) पेरिइप्सुस (ई) वाक्-प्रतिभा

3. लोंजाइनस के औदात्य को भारतीय काव्यशास्त्र के किस सिद्धांत से जोड़कर देखा जा सकता है? ( )

(अ) रीति सिद्धांत (आ) वक्रोक्ति सिद्धांत (इ) रस सिद्धांत (ई)औचित्य सिद्धांत

4. लोंजाइनस का समय कौन-सा माना जाता है? ( )

(अ) ईसा की पहली शताब्दी (आ) ईसा की दूसरी शताब्दी

(इ) ईसा की तीसरी शताब्दी (ई) ईसा की चौथी शताब्दी

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. प्रोफेसर टकर ने उदात्तता के लिए _____ के प्रयोग का सुझाव दिया।
2. लोंजाइनस मानता है कि काव्य-भाषा के क्षेत्र में सौभाग्य प्रकृति है और _____ कला।
3. लोंजाइनस के अनुसार उदात्त-भाषा का एक सामान्य आधार है- _____।

उत्तर: (1. अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता 2. सद्बुद्धि 3. वाक्-प्रतिभा)

III. सुमेल कीजिए।

1. विस्तारणा	अ. ओज
2. शपथोक्ति	आ. रुचिहीन वागस्फीति
3. अनुभूति का एक अंतरतत्व	इ. प्रेरणा प्रसूत भव्य आवेग
4. विरोधी तत्त्व	ई. विवरण
5. औदात्य का उद्गम	उ . उल्लास

10.8 : पठनीय पुस्तकें

1. काव्य में उदात्त तत्त्व (लोंजाइनस के काव्य-सिद्धांतों का विवेचन और 'पेरिइप्सुस' का हिन्दी अनुवाद)- डॉ. नगेन्द्र एवं श्री नेमिचन्द्र जैन, पी डी एफ
2. काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा- निर्मला जैन
3. पाश्चात्य-समीक्षा-सिद्धांत- डॉ. केसरी नारायण शुक्ल, पी डी एफ
4. पाश्चात्य समीक्षा-दर्शन- डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पी डी एफ
5. साहित्यिक निबंध पुस्तक में संकलित निबंध लोंजाइनस का औदात्य विवेचन – गणपति चंद्र गुप्त, पी डी एफ

इकाई 11: कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 मूल पाठ: कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत

11.3.1 कल्पना और कल्पना सिद्धांत से तात्पर्य

11.3.2 कल्पना की परिभाषा

11.3.3 कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत

11.3.4 काव्य संबंधी विचार

11.4 पाठसार

11.5 पाठ की उपलब्धियां

11.6 शब्द संपदा

11.7 परीक्षार्थ प्रश्न

11.8 पठनीय पुस्तके

11.1 : प्रस्तावना

सैम्युअल टेलर कॉलरिज अंग्रेजी कविता की स्वच्छंदतावादी धारा के प्रमुख कवियों में से एक माने जाते हैं। आलोचना के क्षेत्र में कॉलरिज के महत्वपूर्ण योगदान को उनके द्वारा कल्पना शक्ति का विवेचन है।भारतीय काव्यशास्त्र को Indian poeticsऔर पाश्चात्य काव्यशास्त्र को Western poetics कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भारतीय आचार्यों के चिंतन को प्राथमिकता दी गई इसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में पाश्चात्य दार्शनिक और चिंतकों को महत्व दिया गया। कॉलरिज कल्पना का विस्तार से विवेचन किया है और इनका 'कल्पना सिद्धांत' प्रसिद्ध है। इनकी प्रमुख रचनाओं में बायोग्राफिया लिटरेरिया है जिसमें कल्पना सिद्धांत का विवेचन किया गया है। अन्य रचनाओं में द फ्रेंड,चर्च एंड स्टेट, लिरिकल बैलेड्स, द राइम ऑफ द एन्शिएन्ट मेरिनर, कुबला खानआदि।कालरिज ने कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्राथमिक कल्पना और विशिष्ट कल्पना दोनों का विश्लेषण किया है इसके साथ ही उन्होंने कल्पना और फैंसी अर्थात ललित कल्पना की चर्चा भी की है उनके अनुसार पूर्व कल्पना और

ललित कल्पना में भेद है। पहले इन शब्दों को प्रायः पर्यायवाची माना जाता है किंतु इन्होंने इसका विरोध करते हुए दोनों का अंतर स्पष्ट किया।

11.2 : उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप ' कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत' के अंतर्गत कॉलरिज के काव्य संबंधी सिद्धांतों के बारे में पढ़ेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

- कल्पना सिद्धांत के प्रवर्तक के बारे में जान पाएंगे।
- इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप यह बता सकेंगे कि कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत से क्या तात्पर्य है?
- कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत को अच्छी तरह समझ पाएंगे।
- कॉलरिज के ललित कल्पना संबंधी विचारों के महत्व को समझ पाएँगे।
- कल्पना सिद्धांत की प्रमुख विशेषताओं को जान पाएंगे।
- कॉलरिज को दार्शनिक और तत्ववेत्ता क्यों कहा जाता है इसकी जानकारी ले पाएँगे।
- कॉलरिज के कल्पना और फेंटेसी के दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।
- मानव जीवन में कल्पना के महत्व को समझा जा सकता है।
- कल्पना के प्रकारों को जान सकते हैं।

11.3 : मूल पाठ: कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत

प्रस्तुत इकाई में कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत की चर्चा होने जा रही है। इनका पूरा नाम सैमुअल टेलर कॉलेरिज है। इनका जन्म 1772 ईस्वी में हुआ और इनकी मृत्यु 1834 ईस्वी में हुई। सैमुअल अंग्रेजी कविता की स्वच्छंदतावादी धारा के प्रमुख कवियों में से एक माने जाते हैं। कल्पना प्रकृति का वरदान या दिव्य रहस्यमयी शक्ति है, इसलिए इसकी व्याख्या तर्क के आधार पर नहीं की जा सकती; लेकिन कॉलरिज ने कल्पना पर तर्कसंगत ढंग से विचार किया। इन्होंने जो सिद्धांत दिया उसे कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत कहा जाता है। इन्हें कल्पना सिद्धांत का जनक कहा जाता है।

11.3.1 कल्पना और कल्पना सिद्धांत से तात्पर्य -

कल्पना का अंग्रेजी शब्द इमैजिनेशन कहलाता है, जो लैटिन के 'इमेजिनेटिव' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है- मानसिक चित्र की सृष्टि। कल्पना के साथ ही एक अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है 'फैंसी' जिसका अर्थ है हल्की कल्पना। इस शब्द का मूल जर्मन शब्द 'फैन्टेसिया' है जो अंग्रेजी तक पहुंचते-पहुंचते फैंसी रह गया। अरस्तु से लेकर आधुनिक काल तक के विचारकों ने कल्पना पर विचार किया है।

कॉलरिज ने कल्पना की विस्तृत विवेचना की है। उनके अनुसार कवि को भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्वों का ज्ञान होना चाहिए। इसका संबंध उसकी कला से होता है। वह मानते थे कि कवि को सद्बुद्धि से प्रेरित होना चाहिए जिससे कि वह पाठकों में रुचि उत्पन्न कर सके। उसे क्रुद्ध तथा ईर्ष्यालु लोगों के शब्दों की नकल करने के लिए उनकी खोज में उनके अशिक्षित समाज में इर्द-गिर्द चक्कर काटने की आवश्यकता नहीं है। उसमें विवेक-बुद्धि को उत्पन्न करने वाला सहज बोध होना चाहिए जिससे कि कवि अपनी सर्जनात्मक शक्ति की सहायता से अपनी काव्य रचना द्वारा उत्पन्न की हुई उत्तेजना की मात्रा और उसके प्रकारों को हृदयंगम करने में समर्थ हो सके। उनका कथन है कि यदि बाह्य नियमों के आधार पर काव्य रचना का प्रयत्न किया जाता है तो कविता कविता ना रहकर एक यांत्रिक कला का रूप ले लेती है। इस तरह कॉलरिज ने काव्य सृजन के सिद्धांतों पर जोर दिया है। वह जिस रूप में कविता में मौजूद है उसका विश्लेषण करते हुए सर्जनात्मक सत्य का विवेचन करने के पक्ष में थे।

कॉलरिज के अनुसार कल्पना के दो रूप होते हैं प्रारंभिक कल्पना और विशेष कल्पना। कल्पना के द्वारा ही काव्य हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और सजीव बनता है। अतः कल्पना की क्षमता और महत्व सर्वोपरि होता है।कल्पना को दर्शन तथा काव्य के साथ पहले से ही जोड़ा जाता रहा है परंतु कॉलरिज ने इसका विस्तार से विवेचन किया। इनका कल्पना सिद्धांत प्रसिद्ध है। कल्पना की व्याख्या कॉलरिज के द्वारा की गई। इसलिए इनके सिद्धांत को कल्पना सिद्धांत कहा गया।

11.3.2 कल्पना की परिभाषा -

वस्तु का प्रत्यक्षीकरण मानव मस्तिष्क में प्रतिमाओं को स्थापित करता है। वहीँ प्रतिमाओं में परिवर्तन करके नवीनता उत्पन्न कर देता है। इसी नवीनता का नाम कल्पना है। कल्पना जीवन को महत्व देने का श्रेष्ठ माध्यम है। इसको दो प्रकारों में बांटा जाता है- प्रथम प्रकार की कल्पना के अंतर्गत दिवास्वप्न और मानसिक उड़ानें आती हैं जिनकी सहायता से व्यक्ति एक काल्पनिक जगत का निर्माण करता है जो वास्तविक जगत की तुलना में उसकी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।कल्पना एक विशिष्ट मानवीय क्षमता है। यह हमें उन चीजों के विचारों का पता लगाने की अनुमति देती है जो हमारे वर्तमान परिवेश में नहीं हैं या शायद वास्तविक भी नहीं हैं। हम बाहरी दुनिया से जानकारी लेते हैं और अवधारणा प्रक्रियाओं का उपयोग करके उसमें अर्थ ढूंढते हैं।

कल्पना की परिभाषा देते हुए कॉलरिज कहते हैं- “कल्पना वह शक्ति है जिसका प्रयोग कलाकार अपने सर्वोत्तम भावात्मक क्षणों में करता है।”

कल्पना दो प्रकार की होती है सिंथेटिक कल्पना और रचनात्मक कल्पना। सिंथेटिक कल्पना में नई व्यवस्थाओं में मान्यता प्राप्त विचारों, अवधारणाओं, योजनाओं, तथ्यों और सिद्धांतों के संयोजन का कार्य होता है।

व्यक्तिगत स्वप्नों को साकार करने तथा सभी इच्छाओं को वास्तविकता में परिवर्तित करने के लिए मन की जिस शक्ति का उपयोग किया जाता है उसे मन की रचनात्मक कल्पना शक्ति कहते हैं। रचनात्मक कल्पना तर्क से बिल्कुल अलग होती है।यह कल्पना आसमान में उड़ान की तरह है और तर्क या विज्ञान वास्तविकता में जमीन पर पैर रखने की बात है।

11.3.3 कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत --

कल्पना को दर्शन तथा काव्य के साथ जोड़ा जाता रहा है परंतु कॉलरिज में इसका विस्तार से विवेचन किया और इनका यह सिद्धांत कल्पना सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कॉलरिज के अनुसार- कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका तात्कालिक प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं। कल्पना प्रयोग की अंत:शक्ति कवि का सर्वश्रेष्ठ गुण है और उसका समुचित प्रयोग काव्य उत्कर्ष के क्षणों की समुचित देन है। कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत को पर्याप्त ख्याति मिली। वास्तव में उनके अन्य सिद्धांतों की तुलना में उनकी प्रसिद्धि का मूल कारण कल्पना सिद्धांत है। प्रायः कल्पना को वह शक्ति या प्रक्रिया कहा गया है, जिससे प्रतिच्छवि का सर्जन संभव हो पाता है अथवा जिसके सहारे प्रतिच्छवि को ग्रहण या प्रत्यक्ष किया जाता है। अमूर्त धारणाओं और प्रत्ययों को कलाकार इसी के सहारे मूर्त रूप देता है। मनुष्य इसी के सहारे सर्जन में समर्थ होता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि यदि कल्पना ना हो तो किसी प्रतिच्छवि को प्रत्यक्ष करना संभव नहीं होगा। यही कलात्मकता जिसमें कल्पना का समावेश होता है, सृजन के लिए उपयोगी होती है।

कॉलरिज ने सभी सृजनात्मक कार्यों का श्रेय कल्पना को दिया है। प्राथमिक कल्पना और विशिष्ट कल्पना की बड़े विस्तार से व्याख्या की गई है।मनुष्य कई कारणों से कल्पना का उपयोग करता है। दुनिया के बारे में अनुभव और ज्ञान प्राप्त करने के लिए, दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को बेहतर ढंग से समझने के लिए, समस्याओं को हल करने के लिए, कलात्मक कार्यों को बनाने और उनसे बातचीत करने के लिए। कल्पना हमारे द्वारा की जाने वाली हर चीज को प्रभावित करती है। यह शिक्षा के क्षेत्र से लेकर इंजीनियरिंग और कला तक किसी भी पेशे में विस्तृत सिद्धांतों, सपनों और आविष्कारों की ओर ले जाती है। कल्पना को नवीनता की कुंजी कहा जाता है। इच्छा,विचार और अपेक्षा की गतिविधियों को एक साथ कल्पना कहा जाता है। स्वयं में कल्पना निरंतर चलती रहती है। (The sources of imagination can be sensation, pre-conditioning or natural acceptance) कल्पनाशील होना आविष्कारशील और मौलिक होना है।

कॉलरिज के अनुसार कल्पना रचनात्मकता से जुड़ी क्षमता है और आकार देने तथा एकजुट करने की शक्ति है।कल्पना की शक्ति की समझ का अभाव लोगों द्वारा अनुभव की जाने

वाली पीड़ा, अक्षमता, कठिनाइयों, असफलताओं और दुख के लिए जिम्मेदार है। किसी न किसी वजह से ज्यादातर लोग नकारात्मक तरीके से सोचने के लिए प्रवृत्त होते हैं। उन्हें सफलता की उम्मीद नहीं होती है।

प्राथमिक कल्पना-

प्राथमिक कल्पना को मुख्य कल्पना भी कहते हैं। मुख्य कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा इंद्रिय गोचर पदार्थों का बोध होता है। हमारी आंखों के सामने ना जाने कितनी वस्तुएं लगातार आती रहती हैं। इन सभी अव्यवस्थित बिखरे बिंबो को व्यवस्थित कर ज्ञान कराने का काम मुख्य कल्पना करती है। यह एक जीवित एवं महत्वपूर्ण शक्ति है जिससे हमें मानवीय पदार्थों का बोध होता है। यदि वह वैसा ना करें तो अलौकिक कार्यकलाप ठप्प पड़ जाएंगे। यह वास्तव में एक सहज और स्वाभाविक मानवीय गुण है। संपूर्ण मानवीय विज्ञान का मूल हेतु होने के कारण वस्तुओं का प्राथमिक ज्ञान कराती है। इंद्रियों के माध्यम से मनुष्य को जो बोध होता है उसे यही शक्ति व्यवस्थित रूप प्रदान करती है। जैसे मनुष्य ने अपनी आंखों की सहायता से किसी वस्तु को आकार अथवा रूप का बोध प्राप्त किया, हाथ के स्पर्श से उसकी कठोरता अथवा कोमलता का अनुभव किया, नाक से सूंघ कर उसकी गंध प्राप्त की, कान से उसके स्वर का मान किया। इन विभिन्न बोधों को व्यवस्था देकर उस वस्तु का समग्र ज्ञान कल्पना ही कराती है। इंद्रिय बोध को व्यवस्था देकर वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराने वाली इस शक्ति को कॉलरिज ने प्राथमिक कल्पना की संज्ञा प्रदान की। उनके शब्दों में- 'प्राथमिक कल्पना मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त कराती है और अव्यय स्थित इंद्रिय बोधों को व्यवस्थित रूप प्रदान करती है।'

विशिष्ट कल्पना या गौण कल्पना -

प्राथमिक कल्पना का सजग मानवीय प्रयोग विशिष्ट कल्पना कहलाता है। यह विशिष्ट लोगों में पाई जाती है। यह एक आत्मिक ऊर्जा है जिसमें मन:शक्ति, ज्ञान, विचार शक्ति, मनोवेग समाहित रहते हैं।इसमें इच्छा की सजगता से कार्य होता है। वास्तव में विशिष्ट कल्पना प्राथमिक कल्पना का ही विकसित रूप है जिसका प्रयोग सर्जक स्वेच्छा से करता है। दोनों कल्पनाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है मात्र रूप का भेद है। विशिष्ट कल्पना एक संयुक्त आत्मिक ऊर्जा है जिसमें संकल्प शक्ति, मनोवेग, विचार शक्ति आदि समाहित रहते हैं। इस तरह विशिष्ट कल्पना नव आकार देने वाली और रूपांतरित करने वाली शक्ति है।

कल्पना और फैंसी-

कॉलरिज से पहले पूर्व कल्पना और ललित कल्पना में कोई भेद नहीं माना जाता था बल्कि इन शब्दों को प्रायः पर्यायवाची माना जाता था। अंतर केवल इतना था कि कल्पना शब्द का उद्गम लैटिन भाषा से और फैंसी का ग्रीक भाषा से माना जाता था। कॉलरिज ने इस पर्यायवाची प्रकृति का विरोध किया। उनके अनुसार ललित कल्पना मात्र संकलन और संयोजन

करने वाली शक्ति है।फैंसी या ललित कल्पना निर्जीव होती है जबकि कल्पना सौंदर्य उत्पन्न करने वाली शक्ति होती है। फैंसी का संबंध केवल मस्तिष्क से होता है जबकि कल्पना का संबंध आत्मा व मन से होता है।

कल्पना और काव्य-

कल्पना कवि का अनिवार्य गुण है। विशिष्ट कल्पना के क्षणों में वह काव्य की ऊंचाई पर अपने आदर्श के निकटतम पहुंच जाता है। कल्पना का प्रयोग कवि अपने उत्कर्ष के क्षणों में कर पाता है जब आत्मा की देवी शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर होती है। कॉलरिज के अनुसार कल्पना एक समन्वयकारी शक्ति है जो वस्तुओं के विभिन्न पक्षों को एक संश्लिष्ट अन्विति के रूप में ढालती है। इसमें काव्य का पुनः सर्जन होता है। विभिन्न भावों के एकीकरण की प्रक्रिया में विसवादी गुणों का सामंजस्य एवं संतुलन भी कल्पना ही करती है। विसवादी गुणों की परिधि में सभी प्रकार की विरोधी बातें आ जाती हैं जिनका कल्पना समंजन करती है।

11.3.4 काव्य संबंधी विचार

कॉलरिज के अनुसार काव्य, रचना का वह प्रकार है जो विज्ञान की कृतियों से इसलिए भिन्न होता है कि उसका तत्काल लक्ष्य सत्य है और उसका आनंद संपूर्ण कृति से उत्पन्न होता है तथा वह आनंद कृति के प्रत्येक अंग के द्वारा प्राप्त संतुष्टि के मेल में होता है। इस प्रकार काव्य का तात्कालिक लक्ष्य आनंद प्रदान करना है। काव्य का आनंद संपूर्ण कृति से मिलता है। काव्य का मुख्य लक्ष्य आनंद है और लक्ष्य गौण है। कॉलरिज ने काव्य और कविता को भिन्न कार्यों में प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार काव्य शब्द अति व्यापक है और उसके अंदर सभी कलाओं तथा मानव-कृतियों का समाहार हो जाता है। उन्होंने अच्छी कविता की विशेषताओं की ओर भी संकेत किया है। जैसे वह कहते हैं- अच्छी कविता सौंदर्य के माध्यम से तात्कालिक आनंद के उद्योग के लिए भाव को उद्वेलित करती है।

- अच्छी कविता मनुष्य की संपूर्ण आत्मा को सक्रिय और गतिमान बनाती है।
- अच्छी कविता में बुद्धि और उदय का समन्वय होता है।
- अच्छी कविता में परिश्रम साध्य विचार वाली अभ्यास संभव कार्यशैली और भाव की अंतर धारा का प्रवाह होना आवश्यक है।
- अच्छी कविता संपूर्णता, निरंतरता एवं नैसर्गिक के द्वारा उत्पादन करती है।

11.3.5 काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन कलाविषयक दृष्टिकोण -

कॉलरिज के अनुसार कला बाह्य प्रकृति की मात्र अभिव्यक्त ही नहीं है अपितु कलागत अभिव्यक्ति प्रकृति की पवित्रता की अभिव्यक्ति है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका संबंध मानव प्रकृति अथवा आत्मा से होता है।

बोध प्रश्न-

1. कॉलरिज की एक प्रमुख रचना का नाम बताएं?

2. कॉलरिज के अनुसार प्राथमिक कल्पना क्या है?
3. कॉलरिज ने किसके साथ मिलकर इंग्लैंड में रोमांस आंदोलन की शुरुआत की?
4. कॉलरिज सभी सृजनात्मक कार्यों का श्रेय किसे देते हैं?
5. कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसे कितने वर्गों में बांटा गया है?
6. विशिष्ट कल्पना क्या है?
7. पूर्व कल्पना और फैंसी अर्थात ललित कल्पना में क्या भेद है?
8. कॉलरिज के अनुसार कल्पना कैसी शक्ति है?
9. कॉलरिज का काव्य संबंधी विचार क्या है?
10. कॉलरिज के अनुसार अच्छी कविता मनुष्य पर क्या प्रभाव डालती है?
11. कॉलरिज की दृष्टि में कला क्या है?
12. कल्पना और काव्य का क्या संबंध है?
13. कल्पना कवि का कैसा गुण है?
14. कॉलरिज के अनुसार कल्पना कैसी शक्ति है?

11.4 : पाठ सार

स्वच्छंदतावादी कवि,दार्शनिक एवं आलोचक तथा सहजात प्रतिभा के धनी सैमुअल टेलर कॉलरिज का पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मूर्धन्य स्थान है। यह अंग्रेजी के श्रेष्ठ आलोचक माने जाते हैं और इनका स्थान अरस्तु तथा लोंजाइनस के समकक्ष है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' को अंग्रेजी समीक्षा का श्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है। आलोचना के संबंध में कॉलरिज ने स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया और यह कहा कि आलोचना का उद्देश्य लेखक के सिद्धांतों का प्रतिपादन करना है न कि उसकी कृतियों पर निर्णय देने के लिए नियम बनाना। उन्होंने सभी सृजनात्मक कार्यों का श्रेय कल्पना को दिया है। कल्पना संबंधी उनकी धारणा बड़ी व्यापक और दर्शन प्रधान है। उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि स्पष्ट रूप से संसार में दो शक्तियां कार्य करती हैं जो एक दूसरे के संबंध में क्रियाशील और निष्क्रिय होती हैं। यह कार्य बिना एक मध्यस्थ के संभव नहीं जो एक साथ सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी। दर्शन भाषा में इस मध्यस्थ शक्ति को कल्पना की संज्ञा दी गई है। कल्पना वह शक्ति है जो बाह्य जगत और अंतर जगत का सफल संयोजन करती है और प्रतिबोधन एवं अवबोधन के अंतर को मिटाती है जिसे बुद्धि के सहारे नहीं मिटाया जा सकता। कल्पना पदार्थों और वस्तुओं में चेतना का संचार करती है और उन्हें जीवंत रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है।

कॉलरिज ने कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसे दो वर्गों में बांटा है- प्राथमिक कल्पना और विशिष्ट कल्पना।उनके अनुसार प्राथमिक कल्पना संपूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल हेतु होने के कारण वस्तुओं का प्राथमिक ज्ञान कराती है।विशिष्ट कल्पना प्राथमिक कल्पना का सजग मानवीय प्रयोग है। इसमें इच्छा की सजगता से कार्य होता है। यह कहा जा सकता है कि विशिष्ट कल्पना प्राथमिक कल्पना का ही विकसित रूप है जिसका प्रयोग सर्जन स्वेच्छा से करता है। इसी तरह कॉलरिज ने कल्पना और फैंसी अर्थात ललित कल्पना की व्याख्या भी की है और उन्होंने पूर्व कल्पना तथा ललित कल्पना में कोई भेद नहीं माना है। कल्पना और काव्य पर अपने विचार देते हुए वह कहते हैं कि कल्पना कवि का अनिवार्य गुण है। विशिष्ट कल्पना के क्षणों में वह काव्य की ऊंचाई पर अपने आदर्श के निकटतम पहुंच जाता है। कल्पना का प्रयोग कवि अपने उत्कर्ष के क्षणों में ही कर पाता है। काव्य संबंधी विचार देते हुए वह कहते हैं कि काव्य रचना का वह प्रकार है जो विज्ञान की कृतियों से इसलिए भिन्न होता है कि उसका तत्काल लक्ष्य सत्य है जो विज्ञान की कृतियों से इसलिए भिन्न होता है कि उसका आनंद संपूर्ण कृति से उत्पन्न होता है।

कॉलरिज ने अपने कल्पना सिद्धांत में काव्यशास्त्र और साहित्यलोचन तथा कला विषयक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। उनके अनुसार कला बाह्य प्रतीत की मात्र अभिव्यक्ति ही नहीं है बल्कि कलागत अभिव्यक्ति प्रकृति की पवित्रता की अभिव्यक्ति है।मुख्य कल्पना चेतन या अनैच्छिक रूप में जबकि गौण कल्पना चेतन अर्थात ऐच्छिक रूप में होती है। मुख्य कल्पना हमारे चाहे और अनचाहे काम करती रहती है जबकि गौण कल्पना हमारे चाहने पर ही कार्य करती है। मुख्य कल्पना केवल निर्माण अर्थात संघटन का कार्य करती है जबकि गौण कल्पना विघटन का कार्य करती है।कल्पना का जीवन में अत्यंत महत्व है। यह जीवन को महत्व देने का श्रेष्ठ माध्यम है। रस, माधुरी, स्नेह, लालित्य भाव सभी कल्पना से जुड़े हैं। जीवन वर्तमान है, स्मृति अनुभव है और कल्पना शक्ति व्यक्ति की योजनाशक्ति है। आज के कार्यों में पिछले अनुभव को ध्यान में रखते हुए वर्तमान को कैसे संजोया जाए, इसके लिए कल्पनाशीलता आवश्यक है। यह मानसिक छवियों, ध्वन्यात्मक अंशों,उपमाओं या किसी एक चीज का आख्यान बनाने की क्षमता है जिसे हमारी इंद्रियों के माध्यम से नहीं माना जाता है। कल्पना हमारी स्मृति की एक अभिव्यक्ति है और हमें अपने अतीत की छानबीन करने और काल्पनिक भविष्य के परिदृश्यों का निर्माण करने में सक्षम बनाती है जो अभी तक मौजूद नहीं है लेकिन मौजूद हो सकते हैं।

11.5 : पाठ की उपलब्धियां

इस इकाई के अध्ययन से कई उपलब्धियां हुईं। कल्पना के महत्व के साथ-साथ उनके कल्पना सिद्धांत का परिचय मिला –

1. यह पाठ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महत्व पर प्रकाश डालता है ।
2. पाश्चात्य चिंतन में कल्पना के महत्व को समझाने में यह पाठ सहायक सिद्ध होगा।
3. यह पाठ कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत के स्वरूप को समझने में सहायक सिद्ध होगा।

4. विद्यार्थी कॉलरिज की ललित कल्पना को जान पाएगा।
5. विद्यार्थी यह जान पाएंगे कि कॉलरिज किस प्रकार दार्शनिक और तत्ववेत्ता के रूप में जाने जाते हैं।
6. रोमांस आंदोलन क्या है? स्वच्छंदतावादी धारा क्या है?। यही इस पाठ की उपलब्धियां हैं।

11.6 : शब्द संपदा

1. जड़ - स्थिर
2. महत्ता - महत्व
3. पुरातन - पुराना,
4. नूतन - नया
5. विशिष्ट - विशेष,
6. ससीम - सीमा से युक्त
7. असीम - सीमा से परे
8. अंतः शक्ति - आंतरिक शक्ति
9. मिथ्या - झूठ या असत्य
10. पुनरावृति - दोबारा
11. सृजनात्मक - रचनात्मक,
12. आत्मिक ऊर्जा - आत्मिक शक्ति
13. प्रज्ञा - बुद्धि
14. पुनरुत्पत्ति - फिर से उत्पन्न होना
15. ऐच्छिक क्रिया- इच्छा से उत्पन्न क्रिया
16. विवेचन करना - व्याख्या करना
17. सूत्रपात - प्रारंभ

11.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए।

1. कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत को विस्तार से समझाइए।
2. कल्पना और कला को स्पष्ट करते हुए कॉलरिज के कला संबंधी दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।

3. कॉलरिज द्वारा बताई गई ललित कल्पना की विशेषताओं का उदाहरण सहित उल्लेख कीजिए।
4. कॉलरिज के दार्शनिकऔर तात्विक विचारों को समझाइए।
5. कॉलरिज द्वारा बताई गई प्रज्ञा और प्रतिभा में अंतर स्पष्ट कीजिए।
6. व्यवहारिक आलोचना क्या है इसकी चर्चा करते हुएआलोचक के आवश्यक गुण बताइए।
7. कल्पना और ललित कल्पना की विस्तार से उदाहरण सहित चर्चा कीजिए।

खंड (ब)

(आ) लघु श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. कल्पना सिद्धांत को परिभाषित कीजिए।
2. कॉलरिज की पुस्तक का नाम बताते हुए उसकी विशेषता बताएं।
3. कल्पना सिद्धांत के प्रवर्तक कौन हैं?
4. कल्पना का क्या अर्थ है?
5. कल्पना की अभिव्यक्ति कहां होती है?
6. कॉलरिज की दृष्टि में ललित कल्पना क्या है?

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए

1. प्रतिभा की उपज है-

   (अ) कल्पना ब) प्रज्ञा (स) ललित कल्पना

2. सृजनात्मकता के लिए होना आवश्यक है-

   (अ) भावना का (ब) कल्पना का (स) प्रतिभा का

3. कल्पना का संसार होता है

   (अ) भ्रमयुक्त (ब) मिथ्या (स) सत्य

4. कॉलरिज कल्पना के रूप मानते हैं -

   (अ दो (ब) चार (स) छः

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. कॉलरिज का पूरा नाम..... है।

2. कल्पना सिद्धांत..... पुस्तक में है।

3. दि फ्रेंड..... द्वारा लिखी गई है।

4. फांतासीया.....भाषा का शब्द है।

5. कॉलरिज ..... माने जाते हैं।

III. सुमेल कीजिए

1. (क) कॉलरिज ने ललित कल्पना को कहा है (अ) कॉलरिज

2. (ख) कॉलरिज का सिद्धांत कहा जाता है (ब) अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान

3. (ग) स्वच्छंदतावादी धारा के प्रमुख कवियों में से एक हैं (स) कल्पना सिद्धांत

4. (घ) कल्पना के द्वारा प्राप्त ज्ञान को कहते हैं (द) फैंसी

11.8 : पठनीय पुस्तकें

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- डॉ। कृष्णदेव शर्मा

2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- देवेंद्रनाथ शर्मा

3. पाश्चात्य काव्य शास्त्र अधुनातन संदर्भ- सत्यदेव मिश्र

4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- डॉ। तारक नाथ वाली

5. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पहचान- प्रोफेसर हरिमोहन

6. साहित्य शास्त्र- डॉ विवेक शंकर

7. काव्यशास्त्र- डॉ यतींद्र तिवारी

8. भारतीय काव्यशास्त्र नई व्याख्या- डॉ राममूर्ति त्रिपाठी

9. हिंदी काव्य शास्त्र- आचार्य शांतिलाल जैन 'बालेंदु'

10. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास- डॉ भगीरथ मिश्र

इकाई 12 : क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 मूल पाठ: क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

12.3.1 अभिव्यंजना और अभिव्यंजनावाद से तात्पर्य

12.3.2 अभिव्यंजनावाद की परिभाषा

12.3.3 अभिव्यंजनावाद का सिद्धांत

12.3.4 अभिव्यंजना और वक्रोक्ति

12.4 पाठसार

12.5 पाठ की उपलब्धियां

12.6 शब्द संपदा

12.7 परीक्षार्थ प्रश्न

12.8 पठनीय पुस्तकें

12.1 : प्रस्तावना

जिस तरह मनुष्य के जीवन में सदैव काव्य और साहित्य का महत्व रहा है उसी प्रकार कविता और साहित्य के लिए काव्यशास्त्र का महत्व सदैव अक्षुण रहा है तथा रहेगा। इसे अंग्रेजी में 'पोएटिक' के नाम से जाना जाता है। काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्य कृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर उद्भावित सिद्धांतों की ज्ञान राशि है। इसके लिए पहले 'साहित्य शास्त्र' तथा 'अलंकार शास्त्र' नाम दिए गए और धीरे-धीरे इसे समीक्षा शास्त्र भी कहा जाने लगा, किंतु बाद में 'काव्यशास्त्र' नाम प्रचलित हुआ। भारतीय काव्यशास्त्र को Indian poetics और पाश्चात्य काव्यशास्त्र को Western poetics कहा जाता है. भारतीय काव्यशास्त्र में भारतीय आचार्यों के चिंतन को प्राथमिकता दी गई उसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में पाश्चात्य दार्शनिक और चिंतकों को महत्व दिया गया। भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य भरतमुनि, आचार्य कुंतक, आचार्य मम्मट, आचार्य भामह, दंडी, आचार्य वामन, आचार्य रुद्रट आदि के नाम आते हैं जिन्होंने अलग-अलग संप्रदायों की चर्चा की उसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, क्रोचे, आइ ए रिचड्र्स, मैथ्यू अर्नाल्ड, टी

एस इलियट के नाम महत्वपूर्ण माने जाते हैं। क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक हैं। इनका चिंतन 'अभिव्यंजनावाद' कहलाता है। क्रोचे के अनुसार 'अंतःप्रज्ञा के क्षणों में आत्मा की सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है।'

12.2 : उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप 'क्रोचे का अभिव्यंजनावाद' के अंतर्गत क्रोचे के काव्य संबंधी सिद्धांतों के बारे में पढ़ेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

- अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक के बारे में जान पाएंगे।
- इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप यह बता सकेंगे कि क्रोचे का अभिव्यंजना से क्या तात्पर्य है।
- क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को अच्छी तरह समझ पाएंगे।
- क्रोचे के काव्य संबंधी विचारों के महत्व को समझ पाएँगे।
- वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद के संबंधों की जानकारी हासिल कर पाएंगे।
- अभिव्यंजनावाद के तत्वों को जान पाएंगे।
- क्रोचे को आत्मवादी चिंतक क्यों कहा जाता है इसकी जानकारी ले पाएँगे।
- क्रोचे के सौंदर्यवादी दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।

12.3 : मूल पाठ: क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

सौंदर्य की व्याख्या करते समय क्रोचे ने अभिव्यंजना के अनेक स्तरों का उल्लेख किया है। वह कहते हैं कि ज्ञान के दो रूप हैं- ज्ञान और क्रिया या संकल्प। प्रथम का संबंध सैद्धांतिक पक्ष से है और दूसरे का संबंध व्यावहारिक जगत से है। ज्ञान या प्रज्ञा को भी क्रोचे ने दो भागों में बांट दिया- एक स्वयं-प्रकाश ज्ञान या सहज ज्ञान दूसरा कलात्मक या तार्किक ज्ञान। वह मानते हैं कि व्यक्ति के सुंदर होने से कुछ नहीं होता जब तक समाज में कार्य व्यवहार ठीक ना हो। सौंदर्य आचरण पर निर्भर होता है। जिस दिन व्यक्ति सौंदर्य बोध के महत्व को समझने लगेगा उसी दिन वह व्यक्ति महान बन जाएगा।

सौंदर्यशास्त्र दर्शन की एक शाखा है जिसमें कला, साहित्य और सुंदरता से संबंधित प्रश्नों का विवेचन किया जाता है। ज्ञान के दायरे से भिन्न इंद्रिय बोध द्वारा प्राप्त होने वाले तात्पर्यों के लिए यूनानी भाषा में एस्तेतिको शब्द है जिससे एस्थेटिक्स की उत्पत्ति हुई। सौंदर्य बाह्य और आंतरिक होता है। ऐसे सौंदर्य जिससे मनुष्य की इंद्रियों को सुख की अनुभूति होती है उसे बाहरी सौंदर्य कहा जाता है और ऐसा सौंदर्य जिसका अनुभव अंतरात्मा से होता है उसे आंतरिक सौंदर्य कहा जाता है। क्रोचे का सौंदर्य आंतरिक सौंदर्य है, इसीलिए उन्हें आत्मनिष्ठ सौंदर्यवादी चिंतक माना गया। इनका चिंतन इसी आत्मनिष्ठ सौंदर्य पर आधारित है।

12.3.1 अभिव्यंजना और अभिव्यंजनावाद से तात्पर्य –

अभिव्यंजना और अभिव्यंजनावाद दोनों का अंतर संबंध है क्योंकि, इटली के आत्मवादी दार्शनिक क्रोचे ने यह माना कि किसी वस्तु को देखकर मनुष्य के हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं उस वस्तु की अभिव्यंजना वहीं हो जाती है और जब यह अभिव्यंजना बाह्य रूप में व्यक्त होती है तो वह कला कहलाती है। अभिव्यंजना का सिद्धांत क्रोचे के द्वारा दिया गया और इसी को 'अभिव्यंजनावाद' कहा गया। 'वाद' एक प्रत्यय है जिसका प्रयोग यदि किसी भी शब्द में किया जाता है तो वह उसके अर्थ में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन करके उसकी व्याख्या को किसी विशेष पक्ष में वर्णित कर देता है। सामान्यतः यह प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता है जैसे राष्ट्रवाद, नारीवाद, उदारवाद आदि।

12.3.2 अभिव्यंजनावाद की परिभाषा -

पाश्चात्य काव्यशास्त्र अर्थात वेस्टर्न पोएटिक्स के उद्भव के साक्ष्य ईसा के आठ शताब्दी पूर्व से मिलने लगते हैं। होमर और हेसिओद जैसे महाकवियों के काव्य में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के चिंतन के प्रारंभिक बिंदु मौजूद मिलते हैं। ईसा पूर्व यूनान में वक्तृत्व शास्त्रियों का काफी महत्व था। अभिव्यंजनावाद को अंग्रेजी में एक्सप्रेसियोनिस्म (Expressionism) कहा जाता है। अभिव्यंजना की परिभाषा करते हुए क्रोचे कहते हैं- 'अंतः प्रज्ञा के क्षणों में आत्मा की सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है।'

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद कला के मूल तत्व की खोज का प्रयास है। क्रोचे का उद्देश्य साहित्य में आत्मा की अंतः सत्ता स्थापित करना था. इनसे पूर्व कांट ने मन तथा बाह्य जगत के तादात्म्य और समन्वय का प्रतिपादन करते हुए दृश्य जगत की उपेक्षा की और हीगेल ने कांट की मान्यता स्वीकार करते हुए दृश्य जगत को भी महत्व दिया। इसके विपरीत क्रोचे ने केवल मानसिक प्रक्रिया को ही महत्व दिया। उनकी दृष्टि में बाह्य उपकरण गौण साधन मात्र हैं। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद कला के मूल तत्व की खोज का प्रयास है। कला का वास्तविक तत्व क्या है अथवा उसकी आत्मा क्या है? इस विषय में क्रोचे ने अपना गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया जो सूक्ष्म भी है। क्रोचे के समस्त सौंदर्य विवेचन में आत्मतत्व प्रतिष्ठित है। यह आत्म तत्व कलाकार की चेतना है इस आत्मतत्व को क्रोचे ने आंतरिक अभिव्यक्ति कहा है जो इस जगत में मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रतिक्रिया करता है।

12.3.3 अभिव्यंजनावाद का सिद्धांत –

अभिव्यंजनावाद एक आधुनिकतावादी आंदोलन था जो बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जर्मनी से आरंभ हुआ। पहले यह काव्य और चित्रकला के क्षेत्र में आया था। सिद्धांत रूप में इसका साहित्यिक प्रतिपादन इटली के विचारक बेनेदेतो क्रोचे ने किया और यही अभिव्यंजनावाद के जनक माने जाते हैं। क्रोचे का जन्म 1866 में इटली के प्रसिद्ध नगर नेपुल्स में हुआ था।यह यूनान

के संसद के सदस्य एवं मंत्री रहे। इनकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा आधार ईस्थेटिक्स नामक ग्रंथ के कारण हुआ। इस ग्रंथ में इन्होंने सौंदर्यशास्त्र के ऊपर जो तीन भाषण दिए थे वह संकलित हैं। यह इतालवी भाषा में है जिसका अंग्रेजी में अनुवाद डग्लस इन्सले के द्वारा किया गया। किसी वस्तु को देखकर उसका बिंब ह्रदय में बनता है और यही अभिव्यंजना है। जब इसे बाह्य रूप में व्यक्त किया जाता है तो इसे कला कहा जाता है। इस तरह अन्य विद्वानों की दृष्टि में जो अभिव्यंजना है वह क्रोचे की दृष्टि में कला है। क्रोचे मानते हैं कि आत्माभिव्यन्जना के रूप होते हैं। किसी वस्तु को देखकर हमारे ह्रदय में दो प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और दो प्रकार की क्रियाएं होती हैं- सैद्धांतिक क्रिया और व्यावहारिक क्रिया। सैद्धांतिक क्रिया को अंत:प्रज्ञा और तर्कात्मक या बौद्धिक ज्ञान की कोटि में रखा गया है, इसी प्रकार व्यावहारिक या इच्छा की भी दो क्रियाएं होती हैं आर्थिक क्रिया और नैतिक क्रिया।

क्रोचे ने अंत:प्रज्ञात्मक ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान में अंतर माना है।इसे कल्पना के द्वारा प्राप्त ज्ञान और व्यक्ति का ज्ञान माना जाता है। इसमें अलग-अलग वस्तुओं का ज्ञान होता है और बिम्बों का उत्पादक ज्ञान होता है जबकि दूसरी ओर बौद्धिक ज्ञान में बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है जो सामान्य ज्ञान की कोटि में आता है। वस्तुओं के संबंधों का ज्ञान तथा सिद्धांतों का उत्पादन ज्ञान होता है। अंत:प्रज्ञा और अभिव्यंजना में संबंध बताते हुए क्रोचे इसे कला से जोड़ते हैं और कहते हैं- 'The work of art is always internal and what is called external is no longer a work of art।'

जब अंत:प्रज्ञा स्फुरित होती है तो वह अभिव्यंजना के द्वारा कला में परिणित हो जाती है। यह पूरी प्रक्रिया आंतरिक है और कला की सृष्टि तथा सिद्धि कलाकार के भीतर होती है बाहर नहीं। कला वस्तु में नहीं वस्तु के द्वारा अधिकृत रूप है अर्थात रूप ही कला है। क्रोचे का कहना है कि कलाकार में सौंदर्य की उत्पत्ति होती है और भावक में सौंदर्य की पुनरूत्पत्ति होती है। क्रोचे ने अपने सिद्धांत में कला की उत्पत्ति की चर्चा की है। कला को बाह्य रूप देने की इच्छा के पूर्व कलाकार में विभिन्न प्रकार का ज्ञान अपेक्षित होता है, इसी को शिल्प के नाम से जाना जाता है।

कला की वैयक्तिकता- क्रोचे ने कला की वैयक्तिकता की चर्चा की है। वे मानते हैं कि कला वैयक्तिक वस्तु है। उन्होंने कला विषयक निम्न मान्यताएं प्रस्तुत की हैं-

- कला अंत:प्रज्ञा और अभिव्यंजना है।
- कला केवल रूप है वस्तु नहीं।
- कला अखंड है इसका विभाजन और वर्गीकरण संभव नहीं।
- कला की उत्पत्ति कलाकार की इच्छा पर नहीं होती यह स्वयं स्फुरित होती है।
- कला का रूपांतरण नहीं हो सकता।
- कला कला के लिए है इसका कोई प्रयोजन नहीं होता।
- कला वैयक्तिक होती है क्योंकि इसका निर्माण ही नहीं आस्वादन भी वैयक्तिक स्तर पर होता है।

क्रोचे ने अभिव्यंजना और अंत:प्रज्ञा में नित्य संबंध माना है। अंत:प्रज्ञा वस्तुओं को अखंड और समग्र रूप में देखती है। अभिव्यंजनावाद सौंदर्य के साथ जुड़ा है और उन्होंने सौंदर्य को व्यक्तिनिष्ठ माना है वस्तुनिष्ठ नहीं। क्रोचे ने कला को जैव और अखंड माना है और कला की सृष्टि में कलाकार की परिधि को स्वीकार किया है। वे मानते हैं कि कला में रूप का महत्व होता है वस्तु का नहीं। उनका मानना है कि कला में वस्तु का चयन नहीं होता। उनके अनुसार प्रयोजन का प्रश्न हास्यास्पद है और वस्तु के चयन का प्रश्न प्रमाद है।

क्रोचे के सौंदर्य दर्शन की आधार भूमि कलावाद और स्वच्छंदतावाद है। 19वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस तथा इंग्लैंड के अनेक रचनाकार 'कला कला के लिए' का नारा लेकर आगे बढ़े। कुछ ने इसका समर्थन किया और कुछ ने इसका विरोध किया। क्रोचे 'कला कला के लिए' में विश्वास करते हैं।

मानसिक व्यापारों की कोटियां -

क्रोचे के अनुसार मानसिक या ज्ञान की क्रियाओं के दो भेद होते हैं- सैद्धांतिक या मानसिक और व्यवहारिक। इन्हीं को क्रोचे ने क्रमश: सांसारिक ज्ञान बोध अर्थात नॉलेज और सांसारिक क्रियाएं अर्थात एक्शन कहा है। उनका मानना है कि कलाकार की मानसिक शक्ति या उसका सांसारिक बोध दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक प्रकार सहज बोध का है जो भावात्मक है, इसमें तर्क का आश्रय नहीं लिया जाता है बल्कि हृदय की सहित गति को अंकित करने का प्रयास रहता है, इसे क्रोचे ने सहजानुभूति या अंत:प्रज्ञात्मक ज्ञान कहा है। इसी सहजानुभूति से कला का जन्म होता है।

मानसिक बोध का दूसरा प्रकार बुद्धि प्रधान है। इसमें व्यक्ति विचार या तर्क द्वारा जगत के रहस्यों को समझता है और उनके विषय में अपनी धारणा बनाता है। इसे क्रोचे ने तर्क ज्ञान कहा है।

व्यवहारिक क्रिया पक्ष के भी दो प्रकार हैं- एक आर्थिक अर्थात इकोनॉमिकल और दूसरा नैतिक अर्थात मोरल। आर्थिक का अर्थ है उपयोगिता तथा नैतिक का अर्थ है जीवन और जगत के व्यवहारों का सामाजिक दृष्टि से मूल्यांकन।

इनमें सहजानुभूति क्रिया ही प्रमुख है। वही क्रोचे के कला विवेचन का आधार प्रस्तुत करती है। यह चार व्यापार इस प्रकार हैं-

- सहज ज्ञान(Intuitive)
- तर्क ज्ञान(Logical)
- आर्थिक(Economical)
- नैतिक(Moral)

सहज ज्ञान और अभिव्यंजना का अभिन्न संबंध है। जहां सहज ज्ञान होगा वहां अभिव्यंजना अवश्य होगी। सहज ज्ञान अभिव्यंजना के बिना या अभिव्यंजना सहज ज्ञान के बिना संभव नहीं

है। क्रोचे ने अभिव्यंजना शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है जो शाब्दिक अभिव्यंजना के बोध के साथ-साथ रेखा, स्वर, गीत आदि सभी माध्यमों का बोधक है जो सहज ज्ञान अभिव्यंजना का रूप धारण नहीं कर सकता। वह वास्तव में सच्चा प्रातिभा ज्ञान नहीं है, वह केवल प्राकृतिक तथ्य और संवेदन बनकर रह जाता है।

सौंदर्य ज्ञान की व्याख्या करते हुए क्रोचे ने कलात्मक निर्माण की चार श्रेणियां स्थिर की हैं-

1. अंतः संस्कार-
   जब दृष्टा किसी वस्तु को देखता है तो उसके मन पर कुछ संस्कार पड़ते हैं।
2. अभिव्यंजना-
   इन संस्कारों के जागृत होने पर मन ही मन इनकी आंतरिक अभिव्यक्ति होने लगती है जो अभिव्यंजना कहलाती है।
3. आनुषंगिक आनंद-
   दृष्टा के मन में सौंदर्य बोध से एक प्रकार के आनंद की उत्पत्ति होती है।
4. अभिव्यक्ति-
   जब अभिव्यंजना आंतरिक ना रहकर शब्दों आदि के माध्यम से स्थूल रूप में अभिव्यक्त होती है।

दूसरी श्रेणी में आने वाली आंतरिक अभिव्यक्ति ही सच्ची अभिव्यंजना है क्योंकि, क्रोचे इसी को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं। क्रोचे का कवि कोई भाषा नहीं बोलता बल्कि मन ही मन जो मूर्तिमान होता रहता है उसका आनंद उठाता है।

जब तक बाह्य अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक संसार में कविता का जन्म नहीं होता। वैसे भी सामान्य भाषा में अभिव्यंजना से प्रयोजन शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति से ही है। कला में शब्दों के अतिरिक्त अभिव्यंजना के अन्य माध्यम भी होते हैं जैसे रंग आदि।

सहजानुभूति और अन्य मानसिक व्यापार-

क्रोचे के सौंदर्य दर्शन में केंद्रीय तत्व सहज ज्ञान है। उन्होंने पूर्ववर्ती इस धारणा का खंडन किया कि बिना बुद्धि के सहज ज्ञान संभव नहीं। सच तो यह है कि बौद्धिक तत्व भी सहज ज्ञान में घुल मिलकर उसी का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

सहज ज्ञान और कला -

कला का संबंध सहजानुभूति से है। जिस समय सहजानुभूति जागृत होकर अभिव्यक्त होने लगती है तभी कला जन्म लेती है। क्रोचे के अनुसार कला की अभिव्यक्ति के लिए इतनी ही प्रक्रिया पर्याप्त होती है। उनके अनुसार कला आंतरिक होने के साथ-साथ अखंड है क्योंकि सहजानुभूति अखंड होती है।

अभिव्यंजना और सौंदर्य-

क्रोचे ने सौंदर्य जैसे विषय को भी सरल ढंग से समझाते हुए कहा कि सफल अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम सौंदर्य है। जो अभिव्यंजना सफल नहीं होती उसे अभिव्यंजना की संज्ञा नहीं

दी जा सकती।वह मानते हैं कि किसी कलाकार के काव्य अथवा शिल्प में ही सौंदर्य की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। प्रकृति में कोई सौंदर्य नहीं है और ना सौंदर्य की बाह्य सत्ता है।

12.3.4 अभिव्यंजना और वक्रोक्ति -

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति रूपी आत्मा की अवधारणा को स्वीकार किया है जबकि क्रोचे ने सहजानुभूति को ही शरीर व आत्मा दोनों स्वीकार किया। कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति के लिए कवि को प्रयास एवं अभ्यास करना पड़ता है जबकि क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना अनायास ही प्राप्त हो जाती है। वक्रोक्ति दो शब्दों 'वक्र' और 'उक्ति' की संधि से निर्मित शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है ऐसी उक्ति जो सामान्य से अलग हो, टेढ़ा कथन अर्थात जिसमें लक्षणा शब्द शक्ति हो। भामह ने वक्रोक्ति को एक अलंकार माना था किंतु वक्रोक्ति के प्रथम आचार्य कुंतक माने जाते हैं जिन्होंने वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेदों का वर्णन किया है। कुंतक कहते हैं- 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम' अर्थात वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण तत्व है।

बोध प्रश्न-

- क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना की अभिव्यक्ति कहां होती है?
- अभिव्यंजना कला में कब परिवर्तित होती है?
- आत्माभिव्यना के कितने रूप होते हैं?
- ज्ञान की क्रियाएं किसे कहा जाता है?
- क्रोचे ने कला की व्याख्या कैसे की है?
- क्रोचे के सौंदर्य दर्शन की आधार भूमि क्या है?
- अभिव्यंजना और सौंदर्य का क्या संबंध है?
- क्या प्रत्येक सहज ज्ञान कला है?
- क्या कला अखंड होती है?
- सहज ज्ञान और कला में अंतर स्पष्ट करें.
- क्रोचे ने कलात्मक निर्माण की कितनी श्रेणियां स्थिर की हैं?
- क्रोचे ने कला विवेचन के क्या आधार दिए हैं?

12.4 : पाठ सार

इतालवी समीक्षक क्रोचे का सिद्धांत अभिव्यंजनावाद कहलाता है जो आत्मवादी चिंतन पर आधारित है। यह आत्मनिष्ठ सौंदर्यवादी चिंतक माने जाते हैं, इसलिए इन्हें कई बार आत्मवादी दार्शनिक भी कहा जाता है। 'एस्थेटिक्स' नामक ग्रंथ के कारण इनका नाम प्रसिद्ध हुआ। इनका यह मानना था कि 'किसी वस्तु को देखकर हृदय में जो बिम्ब बनता है, उस वस्तु

की अभिव्यक्ति वहीं हो जाती है और जब उसे बाहर रूप में व्यक्त किया जाता है तो उसे 'कला' कहा जाता है। इनके इस सिद्धांत की तुलना वक्रोक्ति सिद्धांत से की गई।क्रोचे ने आत्माभिव्यंजना के दो रूप माने -आंतरिक या अंतःप्रज्ञा अभिव्यंजना और बाह्य या तर्कात्मक अभिव्यंजना। क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद में अंतःप्रज्ञा को विशेष महत्व दिया क्योंकि इनके अनुसार अभिव्यंजना और अंतःप्रज्ञा दोनों का नित्य संबंध होता है। वह मानते हैं कि अंतःप्रज्ञा एक ही करुणा का साधन है। इसका कार्य इंद्रियातीत ज्ञान का प्रकाशन है। अंतःप्रज्ञा और अभिव्यंजना में अंतर नहीं है। कला केवल आंतरिक होती है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सौंदर्य के साथ जुड़ा है और उन्होंने सौंदर्य को आत्मनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ माना है वस्तुनिष्ठ नहीं। क्रोचे ने अपने सिद्धांत में कला की उत्पत्ति की चर्चा की है और उन्होंने माना है कि कला की उत्पत्ति ऐच्छिक क्रिया नहीं है। कलाकार चाहे या ना चाहे समय आने पर बड़े सहज भाव से कला का निर्माण हो जाता है। इस तरह उन्होंने कला की वैयक्तिकता की चर्चा की। उनका उद्देश्य साहित्य में आत्मा की अंतः सत्ता स्थापित करना था।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की साहित्यिक दृष्टि से उपयोगिता विचारणीय है। क्रोचे ने काव्य के मूल तत्व और कवि के मानस में काव्य सृजन की प्रक्रिया का दिग्दर्शन इस सिद्धांत द्वारा करवाया है। इस सिद्धांत के अनुसार कार्य के रसास्वादन और आलोचना में भी उस आत्मतत्व के हृदयंगम करने पर बल दिया गया है। जहां तक काव्य की आत्मा और इसकी रचना प्रक्रिया का संबंध है यह सिद्धांत बड़ा ही मूल्यवान है। इनके सिद्धांत में कलाकृति के शिल्प विधान की चर्चा को अनावश्यक समझकर अस्वीकार कर दिया गया है। क्रोचे के अनुसार शैलीगत विशेषताओं के आधार पर कलाकार की आलोचना निरर्थक होगी।

12.5 : पाठ की उपलब्धियां

इस इकाई के अध्ययन से कई उपलब्धियां हुईं। क्रोचे के आत्मवादी चिंतन की जानकारी के साथ-साथ उनके अभिव्यंजनावादी सिद्धांत का परिचय मिला –

1. यह पाठ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महत्व पर प्रकाश डालता है।
2. पाश्चात्य चिंतन में कला के महत्व को समझाने में यह पाठ सहायक सिद्ध होगा।
3. यह पाठ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के स्वरूप को समझने में सहायक सिद्ध होगा।
4. विद्यार्थी आत्मवादी दर्शन को जान पाएगा।
5. विद्यार्थी यह जान पाएंगे कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रक्रिया क्या है?

आत्मवादी चिंतन क्या है? आत्मनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ सौंदर्य क्या है?। यही इस पाठ की उपलब्धियां हैं।

12.6 : शब्द संपदा

1. इतालवी - इटली के
2. सिद्धांत - नियम
3. अभिव्यंजना- अभिव्यक्ति
4. चिंतक - विचारक
5. बिंब - चित्र
6. प्रज्ञा - बुद्धि
6. इंद्रियातीत- इंद्रियों से परे
7. भावक - बोध करने वाला
8. पुनरुत्पत्ति- फिर से उत्पन्न होना
9. ऐच्छिक क्रिया- इच्छा से उत्पन्न क्रिया
10. प्रयोजन - उद्देश्य
11. प्रमाद - मजाक
12. स्वयंप्रकाश्य ज्ञान- सहज ज्ञान
13. तार्किक ज्ञान- तर्क से युक्त ज्ञान
14. पाश्चात्य - यूरोपीय देशों से संबंध रखने वाला
15. रसास्वादन- रस का आनंद लेना
16. आनंद की अनुभूति- मन प्रसन्न होना
17. काव्य के लक्षण- काव्य की पहचान
18. पारंपरिक- परंपरा से आने वाली

12.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड- (अ)

दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए।

1. क्रोचे के अभिव्यंजनावाद सिद्धांत को विस्तार से समझाइए।
2. अभिव्यंजना और कला को स्पष्ट करते हुए क्रोचे के कला संबंधी दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।
3. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

4. क्रोचे के दार्शनिक विचारों को समझाइए।

5. क्रोचे की चेतना संबंधी अवधारणा का उल्लेख कीजिए।

6. आलोचक के आवश्यक गुण बताइए।

खंड (ब)

लघु श्रेणी के प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. क्रोचे की पुस्तक का नाम बताते हुए उसकी विशेषता बताएं।
2. अभिव्यंजनावाद परिभाषा पर विचार कीजिए।
3. अभिव्यंजना की अभिव्यक्ति कहां होती है? स्पष्ट कीजिए।

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए

1. सैद्धांतिक क्रिया के भेद होते हैं-

   (अ) चार (ब) पांच (स) दो

2. क्रोचे दार्शनिक हैं-

   (अ) भावनिष्ठ (ब) आत्मनिष्ठ (स) व्यक्तिनिष्ठ

3. क्रोचे की दृष्टि में जो अभिव्यंजना है वह अन्य की दृष्टि में -

   (अ) अंतःप्रज्ञा है (ब) सौंदर्य है (स) कला है

4. ईस्थेटिक्स ग्रंथ भाषणों का संग्रह है -

   (अ) तीन (ब) दो (स) छः

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. क्रोचे का पूरा नाम..... है।

2. अभिव्यंजना की अभिव्यक्ति.....होती है।

3. अभिव्यंजना बाह्य रूप में व्यक्त होती है तो उसे..... कहते हैं।

4. क्रोचे.....दार्शनिक माने जाते हैं।

5. क्रोचे ..... समीक्षक माने जाते हैं।

III. सुमेल कीजिए

1. क्रोचे के द्वारा लिखित ग्रंथ का नाम है (अ) आर्थिक और नैतिक क्रिया

2. आत्माभिव्यंजना के रूप होते हैं (ब) अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान

3. व्यावहारिक क्रिया के भेद हैं (स) दो

4. कल्पना के द्वारा प्राप्त ज्ञान को कहते हैं (द) ईस्थेटिक्स

12.8 : पठनीय पुस्तकें

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- डॉ. कृष्णदेव शर्मा
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- देवेंद्रनाथ शर्मा
3. पाश्चात्य काव्य शास्त्र अधुनातन संदर्भ- सत्यदेव मिश्र
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- डॉ। तारक नाथ वाली
5. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पहचान- प्रोफेसर हरिमोहन
6. साहित्य शास्त्र- डॉ विवेक शंकर
7. काव्यशास्त्र- डॉ यतींद्र तिवारी
8. भारतीय काव्यशास्त्र नई व्याख्या- डॉ राममूर्ति त्रिपाठी
9. हिंदी काव्य शास्त्र- आचार्य शांतिलाल जैन 'बालेंदु'
10. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास- डॉ भागीरथ मिश्र

इकाई 13 : रिचड्र्स का मूल्य सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 मूल पाठ: रिचड्र्स का मूल्य सिद्धांत

13.3.1 आई ए रिचड्र्स का साहित्यिक परिचय

13.3.2 कविता मानसिक उपचार करती है।

13.3.3 रिचड्र्स का मूल्य सिद्धांत

13.3.4 समीक्षा की भाषा

13.3.5 रिचड्र्स की सम्प्रेषण संबंधी अवधारणा

13.3.6 कला और नैतिकता

13.4 पाठ-सार

13.5 पाठ की उपलब्धियाँ

13.6 शब्द संपदा

13.7 परीक्षार्थ प्रश्न

13.8 पठनीय पुस्तकें

13.1 : प्रस्तावना

आलोचना जगत में नई समीक्षा के पुरोधा के रूप में प्रतिष्ठित आई ए रिचड्र्स (1893-1979) की नई आलोचनात्मक दृष्टि का प्रभाव सिर्फ अंग्रेजी आलोचना पर ही नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर पड़ा है। आपकी सम्पन्न शिष्य-परंपरा ने आगे चलकर सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना को समृद्ध किया। रिचड्र्स ने अपनी नई आलोचनात्मक और सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से कविता को मनोविज्ञान की तुला पर रखकर मानसिक उपचार के लिए इसकी उपयोगिता को सिद्ध किया। इनसे पहले अरस्तू ने भी अपने विरेचन सिद्धांत के माध्यम से काव्य को मनोविकारों की शुद्धि का कारक माना था। हालांकि, रिचड्र्स ने मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान के अनेक तत्त्वों को समीक्षा सिद्धांत में शामिल करके आलोचना क्षेत्र में समीक्षा की एक नई प्रणाली विकसित की।

13.2 : उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप:

- साहित्यालोचना संबंधी रिचड्र्स के विचारों को समझ सकेंगे।
- रिचड्र्स का साहित्यिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- रिचड्र्स के कविता की उपयोगिता संबंधी विचारों को जान सकेंगे।
- रिचड्र्स के मूल्य सिद्धांत की विवेचना कर सकेंगे।
- रिचड्र्स की सम्प्रेषण संबंधी अवधारणाओं से परिचित हो सकेंगे।

13. 3 : मूल पाठ: रिचड्र्स का मूल्य सिद्धांत

13.3.1 आई ए रिचड्र्स का साहित्यिक परिचय

ऐवर आर्मस्ट्रॉंग रिचड्र्स का जन्म 26 फरवरी 1893 को संदबक, शेषायर में हुआ था। वे अंग्रेजी समीक्षक, कवि एवं एक ऐसे शिक्षक थे जिन्होंने कविता पढ़ने की एक नई प्रभावी तकनीक विकसित की। जिसने आगे चलकर नई समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया और पाठक-भावक समीक्षा को भी प्रभावित किया। 1930 के दशक में रिचड्र्स ने अपना अधिकांश समय बेसिक अंग्रेजी की शिक्षा के लिए नई तकनीक विकसित करने में लगाया और देश-विदेश के कई विश्वविद्यालयों में अपनी सेवाएं दीं। उन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय तथा हार्वर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ाया। उन्होंने कविता को विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शन से जोड़ा। उनकी कुछ प्रमुख कृतियाँ हैं- प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म (1929), द फ़िलॉसॉफी ऑफ रेटॉरिक (1936), और द मीनिंग ऑफ मीनिंग (1946, सी के ऑग्डन के साथ सहलेखन) आदि। अपनी कविताओं में रिचड्र्स ने सांगीतिक मोड़ों के साथ दार्शनिक तर्क प्रस्तुत किए हैं। वे मानते थे कि साहित्यिक समालोचना वस्तुनिष्ठ होनी चाहिए। उन्होंने मूल्य का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत प्रस्तुत किया। हालांकि परवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत को अमान्य ठहराया किन्तु रिचड्र्स की भाषा और कविता के व्यावहारिक विश्लेषण की टिप्पणियाँ आज भी मान्य हैं और बीसवीं सदी की आंग्ल-अमरीकी साहित्यिक समीक्षा पर उनका काफी प्रभाव है। जॉन क्रो रैंसम अपनी पुस्तक 'द न्यू क्रिटिसिज़्म (1941)' रिचड्र्स पर आधारित अध्याय का आरंभ इस वाक्य से करते हैं- 'नई समीक्षा पर चर्चा का आरंभ रिचड्र्स से होना चाहिए।' रिचड्र्स बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के सबसे महत्त्वपूर्ण समीक्षक के रूप में देखे जाते हैं। समीक्षा की दृष्टि से उनकी कृतियाँ – 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' और 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म'- अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी मृत्यु 7 सितंबर 1979 में हुई।

बोध प्रश्न

- रिचड्र्स की कृतियों के नाम ।बताइए ।

13.3.2 कविता मानसिक उपचार करती है। (प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म)

अन्य समीक्षकों की तरह रिचड्र्स ने भी 'काव्य' शब्द का प्रयोग न केवल साहित्य के लिए बल्कि सभी कलाओं के लिए किया है। इसलिए वे अपने सिद्धांतों में जो कुछ भी कहते हैं वह न सिर्फ कविता पर बल्कि अन्य सभी कलाओं पर भी समान रूप से लागू होता है। अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' के प्रथम अध्याय में रिचड्र्स कुछ प्रश्न उठाते हैं; जैसे- किसी कविता को पढ़ने के अनुभव से उसका मूल्य कौन देता है? यह अनुभव अन्य अनुभव से बेहतर कैसे है? इस चित्र को उसकी तुलना में प्राथमिकता क्यों दें? सर्वाधिक मूल्यवान क्षण बिताने के लिए संगीत कैसे सुनें? किसी कला के संबंध में कोई राय उतनी अच्छी क्यों नहीं है जितनी दूसरी? ये वे मूलभूत प्रश्न हैं, जिनका उत्तर *समीक्षा* को देना चाहिए। वे आगे कहते हैं कि उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए निम्नलिखित प्रश्न भी उठते हैं कि; चित्र, कविता या संगीत क्या है? अनुभवों की तुलना कैसे की जाए? मूल्य क्या है? भारतीय विचार में रिचड्र्स काव्य के प्रयोजन की बात करते हैं। वही, जिसका उत्तर तुलसीदास 'रामचरितमानस' के मंगलाचरण में देते हैं- 'स्वांत:सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।' रिचड्र्स संभवत: काव्य अथवा कला के अनुभव से प्राप्त होने वाले 'सुख' की खोज करते हैं। वह 'सुख' जो तुलसी (कवि) को प्राप्त होता है और जो 'रामचरितमानस' के पाठी को प्राप्त होता है। भारतीय जीवन का अंतिम 'मूल्य' 'आनंद' की प्राप्ति में है। दुनिया के सभी महान विचारकों ने भी कुछ ऐसे ही विचार रखे हैं, चाहे वे अरस्तू, लोंजाइनस, होरेस, ड्राइडन, एडीसन, वड्र्सवर्थ, कॉलरिज, मैथ्यू ऑर्नाल्ड हों या अन्य आधुनिक विचारक। उन सभी के विचारों का सार यही है कि- 'मनुष्य अनुकरण से प्राकृतिक रूप से आनंद की प्राप्ति करता है।', कविता सामान्य सत्य का ही एक रूप है।', 'यह एक तरह के पागलपन की सीमा तक उत्साह की मांग करती है।' 'सुंदर शब्द मस्तिष्क का प्रकाश हैं।' 'हमें स्वयं को प्रकृति से दूर नहीं करना चाहिए।' 'कला से प्राप्त होने वाले आनंद का संबंध समझ की तुलना में स्वास्थ्य से अधिक है।' 'कविता तीव्र संवेगों का सहज उद्रेक है।' 'कविता सर्वोत्तम क्रम में रखे गए सर्वोत्तम शब्द हैं।' 'कविता कल्पना की जादुई शक्ति है।' 'कविता आत्मा को मुक्त करती है।' 'यह विषय और रूप की पहचान है।' 'कविता जीवन की समीक्षा है।' 'यह प्रभाव की अभिव्यक्ति है।' इत्यादि। ये कुछ समीक्षा सिद्धांतों के निचोड़ हैं। जो अतीत में महान चिंतकों ने कला के मूल्य की व्याख्या करते हुए दिए हैं। रिचड्र्स का मानना है कि उपरोक्त सभी विचार कला के मूल्य के विषय में सोचने के लिए आरंभिक बिन्दु हो सकते हैं किन्तु, इनमें से एक भी वह प्रदान नहीं करते जो कविता से प्राप्त होता है। केन्द्रीय प्रश्न, कि कला का मूल्य क्या है?, क्यों वह सर्वोत्तम

मस्तिष्कों के उत्सुक क्षणों के समर्पण के योग्य है? और समस्त मानवीय प्रयत्नों की प्रक्रिया में इनका स्थान क्या है? ये प्रश्न अभी भी अनुत्तरित हैं। रिचड्र्स का समस्त समीक्षात्मक उद्योग मनोवैज्ञानिक पद्धति से इन्हीं प्रश्नों के उत्तर तलाशता है और यह निष्कर्ष प्रदान करता है कि कविता मानसिक उपचार करती है।

बोध प्रश्न –

कविता मानसिक उपचार कैसे है?

13.3.3 रिचड्र्स का मूल्य सिद्धांत

रिचड्र्स मानते हैं कि सौंदर्यशास्त्र की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसने *मूल्य* की अवहेलना की है। वे मानते हैं कि समस्त आधुनिक सौंदर्यशास्त्र इस मान्यता पर आधारित है कि सौन्दर्य के इस अनुभव में एक भिन्न प्रकार की मानसिक क्रिया होती है। मनुष्य अपने दैनिक जीवन में अपने भीतर संगति और सामंजस्य बिठाए रखने के लिए मानसिक क्रिया को प्रेरित करने वाले मनोवेगों के अधिकांश भाग को दबाकर रखता है। उनका मानना है कि कविता पढ़ते समय ये मनोवेग उद्दीप्त हो उठते हैं, लेकिन उन्हें दबाकर रखने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि कविता पाठक पर तीव्र किन्तु संतुलित प्रभाव डालती है और यह प्रभाव कवि और पाठक के बीच एक सेतु का काम करता है। कवि और पाठक के मनोवेगों का सामंजस्य होता है। यह सामंजस्य उस सम्प्रेषण के माध्यम से होता है जो कवि और पाठक के बीच घट रहा होता है। सर्जन के समय कवि के मन की जो अवस्था होती है, जब पाठक के मनोवेग भी उसी अवस्था में होते हैं तभी यह सम्प्रेषण संभव हो पाता है। रिचड्र्स का मानना है कि यह सम्प्रेषण भी अचेतन मन में होता है। सौन्दर्य का अनुभव पाठक के मन में अमूर्त रूप में होता है। यह अवस्था उसे सत्यं, शिवं, सुंदरम की पड़ताल कराती है। इन तीनों अवस्थाओ को वे इच्छा, भाव और विचार से जोड़ते हैं।

रिचड्र्स बार-बार यह प्रश्न उठाते हैं कि कला के मूल्य के अध्ययन के लिए क्या *सौन्दर्य की अवस्था* जैसा कोई आरंभिक बिन्दु है? वे कहते हैं कि यह प्रश्न कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे किसी चित्र को परिभाषित करने के लिए उसमें से आयत एवं लाल रंग चुनना। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा करके हम चर्चा के बिन्दु से विचलित हो जाते हैं। समस्या वहीं की वहीं... कि क्या *सौन्दर्य की अवस्था* अथवा सौन्दर्य जैसा कोई अनूठा अनुभव होता है? हालांकि, वेर्नन ली (Beauti and Ugliness, P 10) ऐसा तर्क देते हैं, जो उचित भी है कि- "दृश्य एवं श्रव्य रूप एवं हमारे मध्य एक नितांत अनूठा संबंध है" ऐसा परिणाम इस तथ्य से निकाला जा सकता है कि "कला में दिए गए अनुपात, आकार, शैली एवं संयोजन से यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।" लेकिन, यह कैसे किया जा सकता है, कहना कठिन है। स्पष्ट रूप से किसी एक चीज़ को दूसरी से

तुलना करके यह कहा जा सकता है कि एक - दूसरी जैसी है अथवा नहीं है। तो प्रश्न यह है कि एक अनुभव दूसरे जैसा है या नहीं है? साधारण शब्दों में यह प्रश्न पसंद की डिग्री का है। कला के मूल्य में हर तरह के अनुभवों का सामंजस्य है और सौन्दर्य के गुण सभी कारणों से उभरते हैं। क्या असूया (ईर्ष्या) और स्मृति का अनुभव एक हो सकता है? या गणित के प्रश्नों का अनुभव चेरी खाने के अनुभव जैसा हो सकता है। और इन अनुभवों में अंतर कितने डिग्री का होगा? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। अनुभव के इन अंतरों को मापा नहीं जा सकता। इसके बावजूद काण्ट के पूर्व व उत्तर के कई लेखकों ने यह माना है कि, "हाँ! सौन्दर्य का अनुभव एक विशेष अनुभव होता है। और, उनका आधार, यदि मात्र मौखिक नहीं है तो सीधे जांचा जा सकता है। परंपरा के प्रतिपक्ष में कुछ कहने के लिए धृष्टता की आवश्यकता है, और मैं प्रतिबिंब के बिना ऐसा नहीं कहता। मामला मात्र एक वर्गीकरण का है, और मनोविज्ञान में अन्य अनेक श्रेणियों पर प्रश्न उठाया गया है और उन्हें पुनर्गठित किया गया है। सौन्दर्य के इस अनुभव के दो रूप हैं। कहा जा सकता है कि एक ऐसा मानसिक तत्त्व है जो सिर्फ सौन्दर्य के अनुभव में प्रवेश करता है, और कहीं नहीं। किन्तु, मनोविज्ञान में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। दूसरा समाधान, जैसा कि वेर्नन ली कई अन्य अनुभवों से गुजरती हैं, साथ ही सौन्दर्य-नुभव से भी। रिचड्र्स यह प्रस्ताव भी खारिज करते हैं।

रिचड्र्स एक अन्य विकल्प की बात करते हैं जो सौन्दर्य से अनोखा अनुभव तो नहीं है, किन्तु भिन्न रूप है। यह सम्प्रेषण अथवा अनुभवों की शृंखला का परिणाम है। किन्तु कभी-कभी एक संरचना जिसका वर्णन उन्हीं शब्दों में किया जा सकता है, अनुभव का एक विशेष अंग होती है, अंग, वस्तुत: जिस पर उसका मूल्य निर्भर करता है। रिचड्र्स के अनुसार सौन्दर्य वस्तुओं को अनुभव करने की वह अवस्था है जिसका अभ्यास किया जा सकता है, चाहे उसके परिणाम का कोई मूल्य हो या न हो। यह अनुभव असुंदर का भी हो सकता है तथा सुंदर का भी और इसके बीच का भी। व्यापक रूप से इसे *सौन्दर्य* नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य का एक सीमित दायरा भी है जो सिर्फ उस सुंदर तक सीमित है जिसका मूल्य भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी का मूल्यांकन इसी तुला पर किया है। रिचड्र्स कहते हैं कि ये भी कई अन्य अनुभवों के जैसे ही हैं। वे मुख्यत: अपने संगठन, उनके परवर्ती विकास और साधारण अनुभवों के सूक्ष्म संगठन के कारण भिन्न हैं न कि कोई नई वस्तु है। जब हम कोई चित्र देखते हैं, अथवा कविता पढ़ते हैं, या संगीत सुनते हैं, तो हम कुछ इस तरह नया नहीं कर रहे होते हैं जो हमने पहले कभी न किया हो। वह तरीका, जिससे यह अनुभव घटित होता है, वह जटिल होता है। और, यदि हमारा अनुभव सफल होता है तो उस भाव के साथ एकीकरण होता है। जो भी हो, किन्तु तथ्यात्मक

रूप से यह क्रिया भिन्न होती है। यह परिकल्पना कि यह ऐसा है, कविता के भाव की व्याख्या अथवा वर्णन करने में कठिनाई में डालती है जो अनावश्यक भी है तथा किसी को इसमें सफलता भी नहीं मिली है।

सौन्दर्य की अभिवृत्ति को मान लेने में एक आपत्ति यह है कि यह एक विशेष सौन्दर्य मूल्य या फिर विशुद्ध कला के मूल्य के विचार का मार्ग सरल बना देता है। एक विशेष अनुभव या सौन्दर्य का अनुभव एक अनोखे मूल्य की शर्त है, जो एक अलग प्रकार का मूल्य है और साधारण अनुभवों के अन्य मूल्यों से अलग है। किसी कलात्मक कृति की प्रशंसा करने के लिए हमें अपने जीवन से कुछ लगाना नहीं पड़ता, इसके पीछे के विचारों के ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं है और न ही इसके भावों से पूर्व परिचय की आवश्यकता है। सौन्दर्य का अनुभव अपने आप में अनूठा होता है और इससे प्राप्त होने वाला मूल्य अन्य मूल्यों से भिन्न प्रकार का होता है। भारतीय काव्यशास्त्र से सत्त्व लेकर बात करें तो काव्यानन्द, रसानंद से गुजरते हुए जिस ब्रह्मानंद सहोदर आनंद की अनुभूति होती है, और जिसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता; बस अनुभव किया जा सकता है, वह अनुभव ही काव्य अथवा कला के रस-सागर में गोते लगवाता है, वही मानसिक उपचार करता है। यह न तो प्रकृति/संसार का अंग है, न उसकी प्रतिकृति बल्कि स्वयं में एक स्वतंत्र, स्वायत्त तथा पूर्ण संसार है। रिचड्र्स मानते हैं कि सौन्दर्य विषयक एक निजी स्वर्ग की कल्पना कला के मूल्य की पड़ताल में बाधा पहुंचाती है। वे लोग जो इसे बिना किसी तर्क अथवा आलोचना के स्वीकार कर लेते हैं, वह भी दुखद है। किसी रहस्यात्मक गुण के रूप में कला की परिकल्पना सौन्दर्य के भाव के अत्यंत निकट है और प्रभाव में हानिकारक है। विचार के रूप में यह मस्तिष्क का पोषक है रहस्य के रूप में यह उद्दीपक है।

बोध प्रश्न –

- सौंदर्य ले अनुभव का भारतीय काव्यशास्त्र में क्या माना गया है ?

13.3.4 समीक्षा की भाषा

जीवन के समान कविता भी अनवरत ऊर्जा है। ऐतिहासिक रूप से कविता आंदोलनों से जुड़ी रही है। प्रत्येक कवि, होमर से लेकर आज तक एक सीमा तक किसी-न-किसी आंदोलन से जुड़े रहे हैं। कविता का विकास इसकी व्यापक शक्ति और महान कार्य के कारण अमर रहा है। कविता की भाषा पर बात करते हुए रिचड्र्स कहते हैं कि जहाँ तक भाषा की वर्तमान प्रवृत्ति का प्रश्न है, भाषायी-भ्रम की कठिनाई बनी हुई है। उनका मानना है कि हमारे संभाषणों के सभी रूप भ्रमित करने वाले हैं, विशेष रूप से कलात्मक संभाषण। किन्तु वे इस तरह हमारी आदत बन गए हैं कि यद्यपि हम जानते हैं कि यह भ्रमात्मक है, फिर भी इस तथ्य को हम भुला देते हैं। हम आदतन यह कहते हैं कि 'चित्र सुंदर है' बजाय यह कहने के कि 'इस चित्र को देखने का

अनुभव कुछ ऐसा है कि यह इन-इन रूपों में मूल्यवान है'। रिचड्र्स यह कहना चाहते हैं कि कविता की व्याख्या की भाषा भी स्पष्ट रूप से ऐसी होनी चाहिए जो बताए कि अमुक कविता इसलिए अच्छी है क्योंकि इससे (सूचीबद्ध रूप से) ये सभी लाभ हैं। कविता सिर्फ शब्दों का शोर नहीं है, बल्कि वह इन-इन अर्थों में मूल्यवान है। आज भी व्याकरणिक रूपों में वह शक्ति निहित है कि वह सौन्दर्य के उन तत्त्वों से युक्त है जो एक निश्चित स्तर पर व्यक्ति के मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं। अपनी इस बात को समझाते हुए रिचड्र्स आगे यह कहते हैं कि हम निरंतर यह कहते हैं कि अमुक वस्तु में यह गुण हैं, जबकि हमें कहना यह चाहिए कि अमुक वस्तु हमें इस या उस तरह से प्रभावित करती है। उसी प्रकार कविता के सौंदर्य की बात न करके हमें कविता के प्रभाव की बात करनी चाहिए, किन्तु ध्यान रहे यह एक नियमित प्रक्रिया होनी चाहिए। यह व्यक्ति के मस्तिष्क को दीर्घकाल तक दिया जाने वाला एक संस्कार है जो मानसिक उपचार का कार्य करता है। कहने का आशय यह है कि कविता मस्तिष्क का इस प्रकार उपचार करती है कि मस्तिष्क परिस्थितियों से अनुकूलन करना सीख जाता है। परिवर्तन मस्तिष्क में होता है, विचार-प्रक्रिया पर होता है, परिस्थितियाँ वैसी ही रहती हैं। सौन्दर्य की इस समग्र चर्चा में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कलाकृतियों की चर्चा भाषा के माध्यम से होती है और भाषा के माध्यम से ही हम सौन्दर्य का अनुभव कर पाते हैं। आलोचना की ये तमाम शब्दावलियाँ- जैसे; संरचना, रूप, संतुलन, निर्मिति, डिज़ाइन, एकता, अभिव्यक्ति, लय, ताल, परिवेश, चरित्र आदि महज उदाहरण हैं। रिचड्र्स कहते हैं कि वर्तमान में इन पदों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि मानो ये जिन गुणों का वर्णन करते हैं उनका अस्तित्व मस्तिष्क से बाहर है। वस्तुत: समीक्षकों की टिप्पणियाँ मानसिक अवस्थाओं और अनुभवों के लिए होती हैं, किन्तु भाषा का प्रयोग कुछ इस तरह से किया जाता है कि वे कला के मूर्त रूपों के लिए हैं। रिचड्र्स भाषा के इस प्रयोग को बड़ी सरलता से समझाते हैं कि यदि कोई कहता है कि 'महारानी भावुक हो गईं।' तो यह समझना सरल हो जाता है कि वह महारानी की मानसिक अवस्था की बात कर रहा है; किन्तु संगीत के समय, चित्र के रूप अथवा नाटक की कथावस्तु की चर्चा करते हुए मानसिक अवस्थाएं अथवा क्रियाएं दबी रह जाती हैं। अतः उपयोग किए जाने वाले शब्द बहुत मूल्यवान होते हैं। समीक्षा की भाषा के लिए भी यह उतना ही सत्य है जैसे कि कहा गया है- 'बोली एक अमोल है, जो कोई बोलै जानि।' रिचड्र्स भी समीक्षा के क्षेत्र में बोली (भाषा) के इसी मूल्य की बात करते हैं। उनका मानना है कि समीक्षक को अपनी बात कुछ इस तरह रखनी चाहिए कि अमुक वस्तु के एक विशेष अंग के कारण उनके मस्तिष्क पर उसका प्रभाव पड़ा है। रिचड्र्स इस प्रकार की समग्र समीक्षा को आवश्यक मानते हैं। दुर्भाग्य से साहित्यिक समीक्षाएं ऐसी न होकर अनेक भ्रमात्मक उदाहरणों से भरी पड़ी हैं।

बोध प्रश्न –

- कविता की व्याख्या की भाषा कैसी होनी चाहिए ?

13.3.5 रिचर्ड्स की सम्प्रेषण संबंधी अवधारणा

मूल्य एवं सम्प्रेषण समीक्षा सिद्धांत के दो स्तम्भ हैं। हमारा ध्यान इस तरफ जाता ही नहीं कि सम्प्रेषण का हमारे अनुभवों में क्या योगदान है, क्योंकि हम सामाजिक प्राणी हैं और शैशवकाल से ही सम्प्रेषण हमारी आदतों में शामिल हो जाता है। हम अपने चिंतन एवं संवेदन के कई तरीके अपने माता-पिता अथवा अपने आस-पास के कई लोगों से सीखते हैं, किन्तु सम्प्रेषण का प्रभाव इससे कहीं अधिक गहरा है। हमारे मस्तिष्क की संरचना काफी हद तक इससे ही निर्धारित हुई है कि मनुष्य कई सौ, हजारों वर्षों, या कहें कि मानव-विकास के पहले से सम्प्रेषण करता आ रहा है। मस्तिष्क की अधिकांश विशेषताएं इसी के कारण हैं कि उसका उपयोग सम्प्रेषण-यंत्र के रूप में हो रहा है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में मस्तिष्क का यह लगभग अनदेखा पहलू अत्यंत उपयोगी हो सकता है। कलाएं सम्प्रेषण क्रिया का सर्वोच्च रूप हैं। हम देखते हैं कि कलात्मक संरचना के सबसे कठिन बिन्दु, उदाहरण के लिए- सौंदर्यशास्त्रियों द्वारा विषयवस्तु आदि को इतना जटिल बना दिया है, वह इस दृष्टिकोण से आसान हो सकता है। कलाकार यदि स्वयं को संप्रेषणकर्ता समझे तो यह उसके लिए अधिक लाभदायी होगा, किन्तु यह सत्य है कि वह स्वयं को इस दृष्टि से नहीं देखता। सृजन प्रक्रिया में निश्चित रूप से वह सजगता से अपने सृजन को संप्रेषणात्मक प्रयत्न के रूप में नहीं देखता, किन्तु यदि पूछा जाए तो वह इसे नकार भी नहीं सकता, और कि वह जो सृजित कर रहा है वह अपने आप में सुंदर है, उसे संतोष देने वाला है, प्रभावी है या कुछ अस्पष्ट रूप में उसके निजी भाव हैं। या कि जो लोग इसे पढ़ेंगे, इस अनुभव से गुजरेंगे, इसे मात्र दुर्घटना या अनावश्यक स्थिति मानेंगे। वह बड़ी विनम्रता से यह भी कह सकता है कि वह 'स्वांत: सुखाय' सृजन करता है। रचनाकार/कलाकार चैतन्य रूप से सम्प्रेषण से सम्बद्ध नहीं होता किन्तु कविता करते हुए, नाटक अथवा मूर्ति की रचना करते हुए या चित्रकारी करते हुए वह सम्प्रेषण कर रहा होता है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। संभवत: यदि वह घोषित करके कि वह सम्प्रेषण करना चाहता है, कलाकृति का सृजन करे तो हानिकारक हो सकता है। उसे नहीं पता कि जनता विशेष रूप से शिक्षित जनता उसकी रचना को कैसे ग्रहण करेगी, वह इन सब विचारों से अपने मस्तिष्क को परे रखता है। जो कलाकार और कवि सम्प्रेषण के पहलू को अलग से आकर्षण का बिन्दु बनाना चाहते हैं, वे द्वितीय दर्जा प्राप्त करते हैं। किन्तु सम्प्रेषण की यह सजग अवहेलना उसके महत्त्व को कम नहीं करती। ऐसा हो सकता है यदि हम केवल अपने चेतना जगत की गतिविधियों को महत्त्व दें। वस्तुत: कृति के सही ढंग से स्वागत करने की प्रक्रिया ही कलाकार के संप्रेषणीयता के परिणाम

को प्रकट कर देती है। रिचड्र्स सम्प्रेषण की चर्चा कवि तथा पाठक के उस संबंध-सूत्र को केंद्र में रखकर करते हैं, जो कवि तथा पाठक को भाव के एक धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। यह सत्य है कि चेतन अथवा अचेतन मन में किसी प्रकार की इच्छा करने मात्र से सम्प्रेषण संभव नहीं है। कवि तथा पाठक के मध्य स्वाभाविक, नैसर्गिक संवाद ही इसे संभव बनाते हैं। सभी सफलतम संवादों में इसी प्रकार का संवाद होता है और सम्प्रेषण को संभव बनाता है, अन्य कोई योजना कार्य नहीं करती।

चूंकि कवि के अचेतन उद्देश्यों का संकेत किया गया है, इस अवसर पर कुछ अतिरिक्त टिप्पणियाँ की जा सकती हैं। कोई भी मनो-विश्लेषक क्यों न हो, एक कवि की मानसिक प्रक्रियाओं की पड़ताल उसके लिए लाभदायक क्षेत्र नहीं है। कविता का सृजन अचेतन में होता है। इस बात के प्रमाण भी मिलते हैं। आपने भी कुछ कवियों के साक्षात्कार अवश्य सुने होंगे। यह पूछे जाने पर कि आपने अमुक पंक्ति या अमुक बिम्ब कैसे सिरजा? उत्तर मिलता है कि – पता नहीं कैसे या किस दिव्य शक्ति ने मुझसे यह लिखवा लिया। अचेतन प्रक्रियाएं चेतन से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु यदि हम यह जान भी जाएँ कि मस्तिष्क कैसे कार्य करता है, कलाकार के मस्तिष्क की आंतरिक कार्यशैली का प्रदर्शन खतरनाक हो सकता है। और यदि हम फ्रायड के लियोनार्डो द विन्सी अथवा युंग के गोयठे के प्रकाशित अन्वेषणों के आधार पर कुछ कहना भी चाहें तो वह गलत होगा क्योंकि मनोविश्लेषक समीक्षक नहीं होता। कठिनाई यह है कि कलाकार के मस्तिष्क की सर्जन-प्रक्रिया को सत्यापित ही नहीं किया जा सकता, सत्यापन के लिए यह अवस्था स्वप्न की अवस्था से भी अधिक कठिन होती है।

कलाएं हमारे दर्ज मूल्यों का भंडारण होती हैं। वे असाधारण लोगों के असाधारण अनुभवों की अभिव्यक्ति होती हैं। कलाकृति के उत्पादन तथा सृजन के क्षण- इन दोनों ही स्थितियों में वे सम्प्रेषण की वाहक हैं। इसी कारण मूल्य-सिद्धांत में कला का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बोध प्रश्न –

- रिचड्र्स ने संप्रेषण की व्याख्या किसे केंद्र में रखकर की ?

13.3.6 कला और नैतिकता

रिचड्र्स के अनुसार आवेगों का अभ्यास और अभिलाषाओं की संतुष्टि ही मूल्यवान है। जब हम किसी चीज़ को अच्छा कहते हैं तो इसका अर्थ यह कि उससे हमें संतोष प्राप्त होता है। अच्छे अनुभव का अर्थ यह है कि वे संवेग जो परिपूर्ण तथा संतुष्ट होते हैं, उनका अभ्यास तथा संतोष दूसरे आवेगों में किसी भी प्रकार से दखल नहीं देता। महत्त्व अपने आप में एक जटिल बात है, और कौन-सा आवेग् दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण है यह गहन जांच से ही जाना सकता है।

नैतिकता की समस्या वस्तुत: जीवन में महान मूल्यों की उपलब्धि से संबंधित है। इसका संबंध किसी व्यक्ति के जीवन में एक-दूसरे के साथ सामंजस्य की समस्या से भी है। यहाँ यह कहना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि एक व्यवस्था के बिना मूल्य गायब हो जाते हैं। किसी अव्यवस्थित राज्य में महत्त्वपूर्ण तथा कम महत्त्वपूर्ण दोनों ही प्रकार के आवेग कुंठित होते हैं।
मस्तिष्क की वह अवस्था ही सर्वाधिक मूल्यवान है जब संयोजन के क्षण अधिक हों तथा प्रतिरोध के कम। सामान्यतया मस्तिष्क की वह दशा अधिक मूल्यवान है जब कुंठा के क्षण न्यूनतम हों।

सीधी सी बात है कि कोई भी व्यवस्था सर्वोच्च नहीं मानी जा सकती। मनुष्य नैसर्गिक रूप से भिन्न-भिन्न हैं और किसी भी समाज में विशेषज्ञता अनिवार्य है। जो किसी एक के लिए अच्छा है वह आवश्यक नहीं कि दूसरे के लिए भी अच्छा हो। एक नाविक, एक चिकित्सक, एक गणितज्ञ और एक कवि की व्यवस्था हमेशा समान नहीं हो सकती। आवश्यक रूप से अलग-अलग स्थितियों में अलग-अलग मूल्य होते हैं। किन्तु वर्तमान परिस्थिति तथा उपलब्ध संसाधनों में इस बात पर शाश्वत सहमति बन सकती है कि किसी भी व्यक्ति को सामान्य मूल्यों से वंचित नहीं किया जा सकता। किन्तु जैसा कि शेली ने कहा है- 'नैतिकता की बुनियाद उपदेशकों द्वारा नहीं, बल्कि कवियों द्वारा डाली जाती है।' इसीलिए कविता का मूल्य अधिक है।

बोध प्रश्न –

- रिचड्र्स के अनुसार मस्तिष्क की कौनसी अवस्था सर्वाधिक मूल्यवान है ?

13.4 : पाठ सार

रिचड्र्स के मत का सार यह है कि –

- सौंदर्यशास्त्र ने मूल्य की अवहेलना की है।
- कला के मूल्य का अध्ययन सौन्दर्य की अवस्था से करके हम चर्चा के बिन्दु से विचलित हो जाते हैं।
- कला के मूल्य में हर तरह के अनुभवों का सामंजस्य है और सौन्दर्य के गुण सभी कारणों से उभरते हैं।
- रिचड्र्स के अनुसार सौन्दर्य वस्तुओं को अनुभव करने की वह अवस्था है जिसका अभ्यास किया जा सकता है, चाहे उसके परिणाम का कोई मूल्य हो या न हो।
- रिचड्र्स मानते हैं कि कविता अनवरत ऊर्जा है और कविता का विकास इसकी व्यापक शक्ति और महान कार्य के कारण अमर रहा है।
- रिचड्र्स कहते हैं कि कविता की व्याख्या की भाषा भी स्पष्ट रूप से ऐसी होनी चाहिए जो बताए कि अमुक कविता इसलिए अच्छी है क्योंकि इससे (सूचीबद्ध रूप से) ये सभी लाभ हैं।

- रिचड्र्स कविता के सौंदर्य की बात न करके कविता के प्रभाव की बात करते हैं।
- रिचड्र्स कला के क्षेत्र में सम्प्रेषण को महत्त्वपूर्ण मानते है तथा उसकी चर्चा कवि तथा पाठक के उस संबंध-सूत्र को केंद्र में रखकर करते हैं, जो कवि तथा पाठक को भाव के एक धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है।
- रिचड्र्स मानते हैं कि कलाएं हमारे दर्ज मूल्यों का भंडारण होती हैं। वे असाधारण लोगों के असाधारण अनुभवों की अभिव्यक्ति होती हैं। कलाकृति के उत्पादन तथा सृजन के क्षण- इन दोनों ही स्थितियों में वे सम्प्रेषण की वाहक हैं।
- रिचड्र्स शेली की इस स्थापना से सहमत हैं कि 'नैतिकता की बुनियाद उपदेशकों द्वारा नहीं, बल्कि कवियों द्वारा डाली जाती है।' इसीलिए कविता का मूल्य अधिक है।

13.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष उपलब्ध हुए हैं-

- कविता पाठक पर तीव्र किन्तु संतुलित प्रभाव डालती है।
- कविता मानसिक उपचार करती है।
- एक विशेष अनुभव या सौन्दर्य का अनुभव एक अनोखे मूल्य की शर्त है, जो एक अलग प्रकार का मूल्य है और साधारण अनुभवों के अन्य मूल्यों से अलग है।
- रिचड्र्स यह मानते हैं कि समीक्षक की भाषा कुछ ऐसी होनी चाहिए जो कला के प्रभाव की बात करे।
- मूल्य और सम्प्रेषण समीक्षा सिद्धांत के दो महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं।
- रिचड्र्स के अनुसार मस्तिष्क की वह अवस्था ही सर्वाधिक मूल्यवान है जब संयोजन के क्षण अधिक हों तथा प्रतिरोध के कम।

13.6 : शब्द संपदा

1. मूल्य = कला के संबंध में मूल्य का अर्थ है वह संतुलित प्रभाव जो प्रापक के मन मस्तिष्क पर पड़ता है।
2. सम्प्रेषण = विचारों का आदान-प्रदान, जब प्रेषक तथा प्रापक विषय की आपसी समझ विकसित करते हैं।
3. भाषायी-भ्रम = जब समीक्षक कला की समीक्षा करने के क्रम में भाषा को उलझा दें।
4. नैतिकता = रिचड्र्स के अनुसार नैतिकता समय एवं परिस्थिति सापेक्ष होती है।
5. सौन्दर्य का अनुभव = कलाकृति को अनुभव करने की अवस्था

13.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में लिखिए।

1. रिचड्र्स के मूल्य सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
2. रिचड्र्स के सम्प्रेषण की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

खंड (ब)

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. 'सौन्दर्य का अनुभव' संबंधी रिचड्र्स के विचार पर टिप्पणी लिखिए।
2. समीक्षा की भाषा संबंधी रिचड्र्स के विचारों को बिन्दुवार लिखिए।
3. कला और नैतिकता के संदर्भ में लेखक के प्रतिपाद्य की चर्चा कीजिए।
4. 'कविता मानसिक उपचार करती है'- रिचड्र्स के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर समझाइए।

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए।

1. रिचड्र्स को ---------- पुरोधा माना जाता है: ( )

   (अ) मूल्य (आ) साधारणीकरण (इ) नई समीक्षा (ई) भाषायी-भ्रम

2. ---------- एक अनोखे मूल्य की शर्त है। ( )

   (अ) नैतिकता (आ) सौन्दर्य का अनुभव (इ) भाषा (ई) सम्प्रेषण

3. नैतिकता की बुनियाद डाली जाती है- ( )

   (अ) उपदेशकों द्वारा (आ) वैज्ञानिकों द्वारा (इ) राजनीतिज्ञों द्वारा (ई) कविता द्वारा

4. रिचड्र्स का समय कौन-सा माना जाता है? ( )

   (अ) ईसा की सत्रहवीं शताब्दी (आ) ईसा की अठारहवीं शताब्दी
   (इ) ईसा की बीसवीं शताब्दी (ई) ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी

II. **रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।**

1. सौंदर्यशास्त्र ने _____ की अवहेलना की है।
2. मूल्य और _____ समीक्षा सिद्धांत के दो स्तम्भ हैं।
3. भारतीय जीवन का अंतिम मूल्य _____ की प्राप्ति में है।

III. **सुमेल कीजिए।**

1. रिचर्ड्स की आलोचनात्मक दृष्टि	अ. अचेतन मन से
2. सम्प्रेषण का संबंध	आ. मस्तिष्क का पोषक है
3. कला का मूल्य	इ. सम्प्रेषण-यंत्र के रूप में
4. विचार के रूप में सौन्दर्य	ई. मनोवैज्ञानिक
5. मस्तिष्क का उपयोग	उ . अनुभवों का सामंजस्य

13.8 : पठनीय पुस्तकें

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. कृष्णदेव शर्मा
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र – रामपूजन तिवारी
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन संदर्भ- सत्यादेव मिश्रा
4. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत – गणपति चंद्र गुप्त

इकाई 14 : इलियट का परंपरा एवं निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 मूल पाठ: इलियट का परंपरा एवं निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

14.3.1 टी एस इलियट का साहित्यिक परिचय

14.3.2 परंपरा की अवधारणा

14.3.3 परंपरा एवं वैयक्तिक प्रतिभा

14.3.4 निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

14.3.5 परंपरा के आलोक में रचनाकार का मूल्यांकन तथा तुलनात्मक अध्ययन

14.4 पाठ-सार

14.5 पाठ की उपलब्धियाँ

14.6 शब्द संपदा

14.7 परीक्षार्थ प्रश्न

14.8 पठनीय पुस्तकें

14. 1 : प्रस्तावना

साहित्यिक समीक्षा में आधुनिकता का आगमन यूं तो आई ए रिचड्र्स से माना जाता है किन्तु आधुनिकता का परंपरा के साथ सम्मेलन करने का श्रेय टी एस इलियट को जाता है। इलियट ने आधुनिकता को परंपरा विरोधी नहीं माना बल्कि उन्होंने परंपरा के परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता का मूल्यांकन किया। उनका मानना है कि परंपरा के परिप्रेक्ष्य में ही आधुनिक रचना अथवा रचनाकार का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। प्रस्तुत इकाई में आप इलियट की परंपरा की अवधारणा, परंपरा के आलोक में आधुनिकता का मूल्यांकन तथा वैयक्तिक प्रतिभा के साथ-साथ निर्वैयक्तिकता की अवधारणा का परिचय प्राप्त करेंगे।

14.2 : उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप:

- टी एस इलियट का साहित्यिक परिचय प्राप्त करेंगे।
- टी एस इलियट की परंपरा की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- परंपरा के आलोक में रचना और रचनाकार का मूल्यांकन तथा तुलनात्मक अध्ययन संबंधी इलियट के विचारों से परिचित हो सकेंगे।
- टी एस इलियट की निर्वैयक्तिकता की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।

- समीक्षा के भारतीय मतों से टी एस इलियट के मतों की तुलना कर सकेंगे।

14.3 : मूल पाठ : इलियट का परंपरा एवं निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

14.3.1 टी एस इलियट का साहित्यिक परिचय

इलियट का पूरा नाम थॉमस स्तर्न्स इलियट है। उनका जन्म 26 सितंबर 1888 को संत लुई, मिसौरी में हुआ था तथा मृत्यु 4 जनवरी 1965 में लंदन में हुई। वे एक कवि, नाटककार, साहित्यिक समीक्षक तथा संपादक थे और कविता में 'आधुनिक' आंदोलन के अगुआ थे। उनके आधुनिकता संबंधी विचार उनकी 'द वेस्ट लैंड' (1922) तथा 'फ़ोर क्वाटेटस' (1943) नामक कृतियों में मिलते हैं। सन् 1920 से शताब्दी के अंत तक इलियट का आंग्ल-अमरीकी संस्कृति पर सुदृढ़ प्रभाव रहा। प्रस्तुति के ढंग, शैली और छंद-रचना पर उनके प्रयोगों ने अँग्रेज़ी कविता का नवोन्मेष किया। उनके आलोचनात्मक निबंधों की शृंखला ने प्राचीन मान्यताओं का खंडन करते हुए नए विचारों को प्रतिस्थापित किया। 'फ़ोर क्वाटेटस' के प्रकाशन ने उन्हें एक महान अँग्रेज़ी कवि के रूप में अभूतपूर्व पहचान दिलाई और 1948 में उन्हें 'ऑर्डर ऑफ मेरिट' तथा साहित्य में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

इलियट का जन्म न्यू इंग्लैंड के एक विशिष्ट परिवार में हुआ था जो संत लुई, मिसौरी में पुनर्स्थापित हुई थी। उनके परिवार ने उन्हें उस समय की सर्वोत्तम शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। संत लुई में स्मिथ अकादमी से लेकर हार्वर्ड तक की उनकी शिक्षा की यात्रा सम्पन्न होते ही 1909 में उन्हें हार्वर्ड में दर्शन शास्त्र के सहायक के रूप में कार्य करने का अवसर मिला। 1911 से 1914 तक उन्होंने हार्वर्ड में भारतीय दर्शन एवं संस्कृत का अध्ययन किया। जिसका प्रभाव बाद में उनके समीक्षा-सिद्धांत में देखने को मिलता है। इलियट का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे एक संपादक, नाटककार, साहित्यिक समीक्षक तथा दार्शनिक कवि थे।

'द वेस्ट लैंड' इलियट की प्रसिद्ध कविता है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की तुलना 'द वेस्ट लैंड' से की जाती है। इनकी इसी कविता को नोबेल पुरस्कार मिला। इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएं हैं- द सीक्रेट वुड (1920), होमेज टू जॉन ड्राइडन (1924), द यूज ऑफ पोएट्री एंड द यूज ऑफ क्रिटिसिज़्म (1933), द सिलेक्टेड एसेज (1934) और एसेज एंशियंट एंड मॉडर्न (1936) इत्यादि।

बोध प्रश्न

- इलियट की कृतियों के नाम बताइए।

14.3.2 परंपरा की अवधारणा

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार – "'परंपरा' शब्द लैटिन संज्ञा 'ट्रेडिटियो' (हैंडिंग ओवर) से आया है, जो क्रिया 'ट्रेडर' (हैंड ओवर) से निकला है। 'ट्रेडिटियो' ग्रीक 'पैराडोसिस' के साथ निकटता से मेल खाता है, जो एक क्रिया (पैराडिडोमी) से भी आता है जिसका अर्थ है 'हाथ सौंपना'। 'ट्रेडिटियो' तथा 'पैराडोसिस' का शाब्दिक या आलंकारिक रूप से उपयोग किया जा सकता है, बाद वाले मामले में अक्सर 'शिक्षण' या 'निर्देश' का अर्थ होता है।" संस्कृति सीखी जाती है। सीखने की प्रक्रिया एक परंपरा है। इस प्रकार परंपरा की अवधारणा साहित्य, विज्ञान, दर्शन, कला, शिक्षा, कानून, राजनीति और धर्म सहित संस्कृति के सभी क्षेत्रों में लागू होती है। संस्कृति के किसी भी क्षेत्र में एक विश्वास या अभ्यास को उस सीमा तक परंपरा कहा जा सकता है जो इसे खोजे जाने या आविष्कार किए जाने के बजाय हाथों, होंठों (मौखिक) या दूसरों के उदाहरणों (देखकर) से प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में श्रुति तथा स्मृति का विशेष महत्व है। परंपरा की पहली शर्त है 'याद करना' तथा दूसरी शर्त है 'भरोसा करना'। मूल रूप से सभी धार्मिक प्रणालियों में परंपरा की भावना एक मूल तत्त्व है। अक्सर परंपराएं आधिकारिक शिक्षकों अथवा सामूहिक संदर्भों द्वारा प्राप्त की जाती हैं।

कह सकते हैं कि परंपरा उस बहती नदी के समान है जिसका संबंध उद्गम से तो बना रहता है किन्तु वह बहते हुए बहुत दूर तक आगे निकल जाती है। राह में पड़ने वाले पर्वत, वृक्ष, मैदान उसकी धारा में परिवर्तन भी करते हैं, इसीलिए प्राय: स्थान के अनुसार नदी के बहाव में अंतर देखने को मिलता है। परंपरा की धारा के साथ भी ऐसा ही होता है। संपर्क में आने वाली परंपराओं तथा परिवर्तनों से प्रभाव ग्रहण करते हुए परम्पराएं अपने समय में 'आधुनिकता' की संज्ञा ग्रहण करती हैं। प्रत्येक परंपरा अपने समय में आधुनिक होती है। स्रोत के रूप में वह अपने अतीत से खाद-पानी लेती है और अपने को पल्लवित-पुष्पित करती हुई भविष्य को मार्ग देती है। इलियट का भी मानना है कि 'परंपरा' का अर्थ रूढ़ि नहीं है, वरन इतिहास-बोध है।

बोध प्रश्न –

- परंपरा की दो शर्ते क्या है ?

14.3.3 परंपरा एवं वैयक्तिक प्रतिभा

टी एस इलियट अपने निबंध 'Tradition and the Individual Talent' में लिखते हैं- अँग्रेज़ी में हम कभी-कभी परंपरा की बात करते हैं, यद्यपि हम बहुत कम इसकी अनुपस्थिति के लिए खेद प्रकट करते हुए इसका नाम लेते हैं। हम परंपरा शब्द का प्रयोग अधिकांशत: इस रूप

में करते हैं कि- फलाँ फलाँ कविता अत्यंत पारंपरिक है अथवा फलाँ रचनाकार परंपरावादी हैं। इस शब्द का प्रयोग प्राय; ऐसे किया जाता है मानो उस पर बंदिश लगाई जानी हो। इलियट कहते हैं कि अँग्रेज़ी कान यह शब्द स्वीकार्य भाव से नहीं सुनते। निश्चित रूप से यह शब्द अँग्रेज़ी के जीवित या मृत लेखकों के बीच प्रशंसा नहीं पाने वाला है। प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति का अपना सृजन होता है, अपनी आलोचना दृष्टि होती है। और तो और ये अपनी आलोचनात्मक आदतों की कमियों के प्रति अधिक बेखबर होते हैं अपेक्षाकृत सृजनात्मक अच्छाइयों के। हम अक्सर यह कहते हुए पाए जाते हैं कि 'फ्रांसीसी' लोग अधिक आलोचनात्मक होते हैं और यह सोचते हैं कि अच्छा होता कि ये थोड़े कम 'ऐसे' होते। संभवत: हम यह भूल जाते हैं, और हमें बार-बार स्वयं को स्मरण दिलाना चाहिए कि आलोचना करना हमारे व्यवहार में वैसे ही शामिल है और उतना ही अनिवार्य है जैसे सांस लेना। एक तथ्य यह भी इस चर्चा और विश्लेषण में सामने आएगा कि जब हम किसी कवि की प्रशंसा उन बातों के लिए करते हैं जिनमें वह किसी के समान लगता हुआ प्रतीत होता है तो बड़ी दृढ़ता के साथ उसमें कुछ नया ढूँढ़ने अथवा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। और हमें तब संतोष होता है जब हम ऐसा कुछ ढूँढ़ लेते हैं जिसके लिए कह सकें कि यह पिछले से नया है।

इलियट कहते हैं कि यदि परंपरा का मात्र - हैंडिंग ओवर – एक यही रूप है, जिसमें अपनी पिछली पीढ़ियों की बातों का अंधानुकरण ही शामिल है तो मेरी समझ से हमें इस प्रकार की परंपरा का विरोध करना चाहिए। हमने ऐसी तमाम अवधारणाओं को रेत में खो जाते हुए देखा है और नवीनता दोहराए जाने से कहीं बेहतर है। इलियट के अनुसार 'परंपरा' का अर्थ कहीं अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसे विरासत में नहीं प्राप्त किया जा सकता। यदि आप इसे पाना चाहते हैं तो इसके लिए कठोर श्रम करना पड़ेगा। सबसे पहले, इसके लिए इतिहास-बोध चाहिए। इतिहास-बोध के लिए एक विशेष दृष्टिकोण चाहिए। दृष्टिकोण सिर्फ अतीत के अतीतत्त्व का नहीं बल्कि अतीत के वर्तमान का भी। इतिहास-बोध व्यक्ति को न सिर्फ अपनी पीढ़ी की अस्थि-मज्जा में रहकर लिखने को विवश करता है, किन्तु इस भाव के साथ कि होमर से लेकर यूरोप का समग्र साहित्य, किसी के अपने देश का समग्र साहित्य समानांतर अस्तित्व रचता है। यह इतिहास-बोध, जो कि समय-निरपेक्ष होता है तथा सामयिक भी होता है; तथा समय-निरपेक्ष तथा सामयिक एक साथ भी होता है। इस प्रकार का लेखन रचनाकार को परंपरागत बनाता है और साथ ही, अपने स्थान तथा अपने समय के प्रति चैतन्य भी बनाए रखता है। अर्थात इलियट इतिहास-बोध को न सिर्फ समय-बोध के साथ जोड़ते हैं बल्कि उसे सम्पूर्ण सामयिकता के साथ स्थान-बोध के साथ भी जोड़ते हैं।

कोई कवि अथवा किसी भी कला का कोई कलाकार अपना अलग पूर्ण अर्थ नहीं रखता। उसका महत्त्व, उसकी प्रशंसा मृत कवियों तथा कलाकारों के संदर्भ में ही होती है। आप उसका अकेले मूल्य नहीं बता सकते, आप उसे उचित स्थान मृत कवियों के साथ तुलना करके अथवा विरोध दर्शाकर ही दे सकते हैं। और, इलियट यह स्पष्ट करते हैं कि मैं यह बात न सिर्फ ऐतिहासिक आलोचना के लिए कह रहा हूँ बल्कि सौन्दर्य के सिद्धांत के रूप में भी कह रहा हूँ। वास्तव में जब कोई नई कला या कला का कोई नया रूप जन्म लेता है तो उस समय की समस्त कलाओं पर उसका प्रभाव होता है। समसामयिक स्थापत्य एक आदर्श क्रम प्रस्तुत करते हैं जब तक कि एक नया स्थापत्य जन्म नहीं लेता। नए के आते ही पुराने को उस नए के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है और ऐसा होते ही आदर्श का क्रम बदल जाता है। वर्तमान अतीत को नहीं बदल सकता बल्कि अतीत वर्तमान को दिशा देता है, और जो कवि इस बात को समझता है वह इसके मध्य आने वाली कठिनाइयों तथा उत्तरदायित्व को भी समझता होगा। विशेष रूप से वह यह भी जानता होगा कि अनिवार्य रूप से उसे अतीत के स्तर पर भी आँका जाएगा; और इस तरह वह 'उतना ही अच्छा' या 'उससे बेहतर' या 'उससे बदतर' दरजे का कहा जाएगा। ध्यातव्य है कि एक कवि या कलाकार की अपने पूर्व के मृत कवियों या कलाकारों से तुलना की जाएगी। तुलना दो अलग-अलग वस्तुओं की की जाएगी यह ज्ञात करने के लिए कि इसमें नया क्या है? वस्तुत: नया कुछ नहीं होगा और हम यह कह भी नहीं सकते कि नया ही अधिक मूल्यवान होता है क्योंकि वह फिट होता है। इसके विपरीत वह फिट होता है यही उसके मूल्य का मानदंड है। मूल्य समय तय करता है।

परंपरा और वैयक्तिक प्रतिभा की अपनी चर्चा में इलियट एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात उठाते हैं। वे कहते हैं कि रचनाकार को समकालीन प्रवाह से अनभिज्ञ नहीं रहना चाहिए और यश की चाह में उसके साथ बह भी नहीं जाना चाहिए। उसे इस बात से भिज्ञ रहना चाहिए कि कला नहीं बदलती, केवल उसकी सामग्री बदलती है। उसे इस बात का ज्ञान भी होना चाहिए कि देश का मस्तिष्क (जिसे हम राष्ट्रीय-चेतना भी कह सकते हैं।), जिसे वह धीरे-धीरे समझता है, उसके अपने मस्तिष्क से अधिक महत्त्वपूर्ण है; और जो बदलता है, और यह बदलाव विकास है, किन्तु वह भी अपने देश के महान कवि अथवा कविता को अप्रचलित नहीं करता। इस संदर्भ में यदि हम पश्चिम की बात करें तो उदाहरण के लिए शेक्सपियर अथवा होमर का नाम ले सकते हैं, और भारत की बात करें तो आदिकवि वाल्मीकि से लेकर सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि, तथा आधुनिक काल में प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा से लेकर प्रो. ऋषभदेव शर्मा तक का नाम ले सकते हैं, वे अपने समय को लिखते है, राष्ट्र और राष्ट्रीय-चेतना की धारा को लिखते हैं। बदलते समय के साथ भी इन्हें अप्रचलित नहीं किया जा सकता।

उल्लेखनीय है कि विकास का आधार अर्थ और मशीन होती है, चेतना नहीं। किन्तु, वर्तमान और अतीत में अंतर केवल यह है कि चैतन्य वर्तमान जागरूक अतीत का प्रतिफल है, इस रूप में कि अतीत अकेले इस जागरूकता को नहीं दिखा सकता।

यदि कोई यह कहे कि मृत रचनाकारों को हमें भुला देना चाहिए, क्योंकि आज हम उनसे अधिक जानते हैं; तो इलियट इसका पुरजोर विरोध करते हुए कहते हैं यह कहना गलत होगा। उनकी आपत्ति तो इस बात से भी है कि कवि को बहुत अधिक 'ज्ञान' हो। इससे काव्यमय संवेदना मृतप्राय हो जाती है। कवि का ज्ञान उसकी कविता की ग्राह्यता के आड़े नहीं आना चाहिए। ज्ञान को पचा लेना अधिक श्रमसाध्य है। बल इस बात पर होना चाहिए कि कवि अपने पूरे रचनाकाल में अतीत की चेतना का विकास करे। इस प्रक्रिया में वह निरंतर 'आत्म' को 'समष्टि' में विलीन करता जाए। एक कलाकार का विकास उसके निरंतर 'आत्म-परित्याग' में है, व्यक्तित्व के निरंतर लुप्त होते जाने में है।

बोध प्रश्न –

- परंपरा का अतीत में क्या संबंध है ?
- मृत रचनाकारों को क्यों याद रखना चाहिए ?

14.3.4 निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

निर्वैयक्तिकता की प्रक्रिया और परंपरा का उसके साथ संबंध विशेष सैद्धांतिकता की मांग करता है। कला का विज्ञान होना इस निर्वैयक्तिकता पर ही निर्भर करता है।

इलियट कहते हैं कि एक ईमानदार समीक्षा तथा संवेदनशील प्रशंसा कवि से नहीं बल्कि कविता द्वारा निर्देशित होती है। अखबार भी समीक्षाओं से भरे रहते हैं, जहां कवियों की लंबी सूची होती है। वर्तमान में सोशल मीडिया के विभिन्न मंचों ने यह स्थान ले लिया है। किन्तु उनमें कितनी कविता होती है, यह एक अनुत्तरित प्रश्न है।(!) यदि हम रँगे पन्नों का नहीं बल्कि कविता का आनंद लेना चाहते हैं तो वह हमें विरले ही मिलेगी। इलियट इस संदर्भ में एक कविता का दूसरी कविता के साथ संबंध के महत्त्व की ओर संकेत करते हैं और यह सुझाव देते हैं कि एक जीवंत कविता की अवधारणा समग्रता में वे सारी कविताएँ होती हैं जो अब तक लिखी गई हैं। कविता के निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत का दूसरा पहलू कविता का उसके रचनाकार के साथ संबंध है। इलियट इसके साथ सादृश्यता की बात करते हैं। सादृश्यता से उनका अभिप्राय है कि एक परिपक्व कवि का मस्तिष्क अपरिपक्व कवि से इस बात में भिन्नता नहीं रखता कि उसका 'व्यक्तित्व' आवश्यक रूप से उतना रोचक नहीं है, अथवा उसके पास कहने को कुछ अधिक है, बल्कि वह ऐसे पूर्ण और सुंदर माध्यम का उपयोग करता है कि विशेष भाव बिल्कुल भिन्न संयोजन के साथ उदात्त स्तर पर पहुंचते हैं।

निर्वैयक्तिकता के अपने सिद्धांत को समझाने के लिए इलियट एक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सादृश्यता दर्शाते हैं। वे कहते हैं कि जब एक पात्र में, जिसमें एक प्लेटिनम सूत्र मौजूद है, उसमें ऑक्सीजन और सल्फर डाइऑक्साइड मिलाया जाए तो प्रतिक्रिया से सल्फरस एसिड उत्पन्न होगा। यह संयोजन तभी होगा जब उसमें प्लेटिनम उपस्थित होगा; यद्यपि नव-निर्मित एसिड में प्लेटिनम का किंचित भी अंश नहीं होगा और प्लेटिनम पर इसका कोई प्रभाव भी नहीं होगा। वह तटस्थ एवं अपरिवर्तित रहेगा। प्लेटिनम मात्र उत्प्रेरक है। इलियट कवि के मस्तिष्क को प्लेटिनम की भांति मानते हैं। आवेग और उद्वेग ऊपर बताए गए दो रसायन हैं। कवि (एक मनुष्य) और उसके अंदर का सर्जक, ये दोनों दो अलग-अलग इकाइयाँ हैं। आवेग और उद्वेग जब मस्तिष्क रूपी प्लेटिनम के साथ प्रतिक्रिया करते हैं, तब कविता रूपी सलफरस एसिड का जन्म होता है। कवि का मस्तिष्क इस प्रतिक्रिया से अप्रभावित रहता है। किन्तु जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया के लिए प्लेटिनम की उपस्थिति अति आवश्यक है। उसके बिना यह रासायनिक प्रतिक्रिया नहीं हो सकती, उसी प्रकार कवि का मस्तिष्क कविता की सर्जना के लिए अति आवश्यक अंग है, वह उत्प्रेरक है, किन्तु कवि का मस्तिष्क सृजन प्रक्रिया से अप्रभावित रहता है। यही निर्वैयक्तिकता है। वे कहते हैं कि कलाकार अथवा रचनाकार अंशत: अथवा विशेषत: अपने अनुभवों को उकेरता है; किन्तु जितना सधा हुआ कलाकार होगा, उतना ही उससे अलग, उसके भीतर का सर्जक होगा; और उतनी ही पूर्णता से उसका मस्तिष्क अनुभवों को आत्मसात करेगा जो रचना की सामग्री हैं।

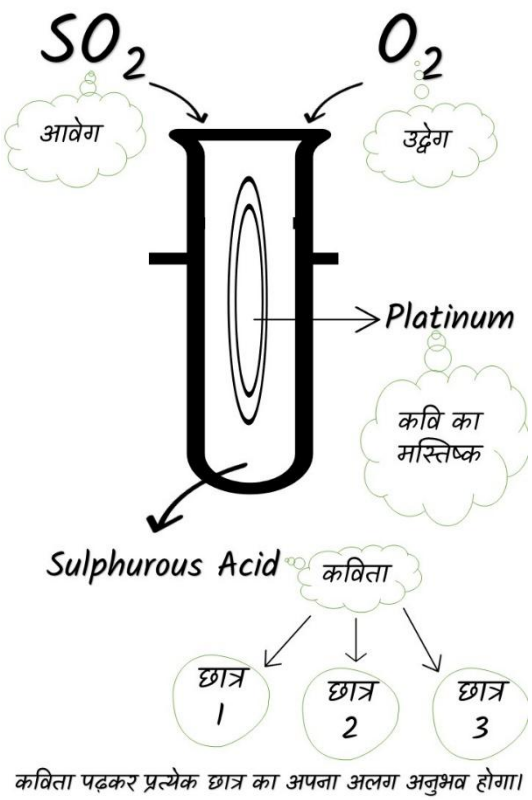

©डॉ. अनीता शुक्ल

पाठक के मस्तिष्क में भी यह उत्प्रेरक आवेग और उद्वेग के रूप में प्रवेश करेगा, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर इसका प्रभाव अलग-अलग होगा। जैसे तुलसी ने कहा है- *जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन्ह तैसी।।*

इलियट कहते हैं कि मैं जो कहना चाहता हूँ संभवत: उसका संबंध 'आत्मा का एकत्व' के आध्यात्मिक सिद्धांत से है; क्योंकि कवि एक 'व्यक्तित्व' को अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि एक

विशेष 'माध्यम' को करता है, जो सिर्फ 'माध्यम' है, व्यक्ति नहीं; और उसमें प्रभाव और अनुभव एक विशेष तथा अप्रत्याशित प्रकार से मिलते हैं। प्रभाव और अनुभव जो व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण हैं, संभवत: कविता में उनके लिए कोई स्थान न हो और जो कविता में महत्त्वपूर्ण हैं, संभवत: व्यक्ति के लिए उपेक्षित हों।

बोध प्रश्न

- इलियट ने निर्वैयक्तिकता को समझाने के लिए किस रासायनिक प्रक्रिया का उपयोग किया?

14.3.5 परंपरा के आलोक में रचनाकार का मूल्यांकन तथा तुलनात्मक अध्ययन

इलियट को पढ़ते हुए निरंतर मुझे तुलसी याद आ रहे थे। उन्होंने भी 'रामचरितमानस' के आरंभ में यह घोषणा की है कि मैंने यह जो लिखा है वह 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' है। इसमें मेरा कुछ नहीं है। बस, मैंने अपने ढंग से अपनी 'भाषा' में इसे अभिव्यक्त किया है। कई बार मुझे यह भी अनुभव हुआ कि इलियट ने तुलसी के विचारों को ही सैद्धांतिक रूप दिया है। इलियट ने भारतीय भाषा, साहित्य तथा दर्शन का अध्ययन किया था। बहुत संभव है कि उनके मस्तिष्क में सुरक्षित यह ज्ञान उनके सिद्धांत में अनायास ही आ गया हो।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ईशावास्योपनिषद का यह शांति पाठ भी तो अध्यात्म के संदर्भ में यही कह रहा है।

रचनाकार के मूल्यांकन संबंधी इलियट के विचारों को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से देख सकते हैं:

- कोई भी रचनाकार या कलाकार अपनी परंपरा से कटकर रचना नहीं करता।
- किसी भी कला अथवा कृति अथवा कलाकार या रचनाकार का मूल्यांकन उसकी कृति या कलाकृति को अलग रखकर नहीं किया जा सकता।
- किसी कृति, कृतिकार, कलाकृति अथवा कलाकार का मूल्यांकन तुलनात्मक स्तर पर ही किया जा सकता है। मूल्यांकन की इस प्रक्रिया में कलाकार अथवा रचनाकार की रचनाओं की समानताओं, असमानताओं का विश्लेषण आवश्यक है।

आइए, इस बात को एक उदाहरण के माध्यम से समझते हैं। यदि आपको तुलसी के 'रामचरितमानस' का मूल्यांकन करना है तो पीछे जाकर वाल्मीकि रामायण को भी देखना होगा और तुलसी के पीछे के कवियों की रचनाओं को भी देखना होगा। अर्थात, वाल्मीकि रामायण से लेकर केशव की 'रामचंद्रिका', निराला की 'राम की शक्ति पूजा' और मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत'; इन सबके आलोक में 'रामचरितमानस' का मूल्यांकन करना होगा। यह एक प्रकार से तुलनात्मक समीक्षा होगी। इस परिप्रेक्ष्य में यह भी ध्यातव्य है कि समीक्ष्य रचनाकार

के आगे-पीछे के रचनाकारों से ही तुलना की जाए, यह आवश्यक नहीं है। तुलना समकक्ष रचनाकारों से भी की जा सकती है; जैसे- सूरदास की भक्ति-भावना की तुलना अष्टछाप के अन्य किसी भी कवि से की जा सकती है। ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि किस प्रकार परंपरा से जुड़कर नूतन काव्योत्कर्ष सृजित किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

- इलियट और तुलसी की मान्यता में क्या समानता है ?

14.4 : पाठ-सार

इस इकाई को पढ़कर जो महत्त्वपूर्ण बिन्दु उभरकर आते हैं, वे हैं;

- पश्चिम में आंग्ल-अमरीकी नई आलोचना के जनक के रूप में इलियट का नाम लिया जा सकता है।
- इलियट परंपरा और आधुनिकता को नया आयाम देते हैं।
- इलियट प्रभाववादी समीक्षा के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए परंपरा की पृष्ठभूमि में तुलनात्मक समीक्षा का प्रतिपादन करते हैं।
- इलियट तुलनात्मक विश्लेषण की बात करते हैं, जो सच्चे सौन्दर्य-बोध को सामने ला सकता है।
- इलियट मानते हैं कि आलोचना रचना-केंद्रित होनी चाहिए, रचनाकार केंद्रित नहीं।
- इलियट मानते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी आलोचनात्मक मानसिकता होती है।
- इलियट का मन्तव्य है कि परंपरा तथा आलोचना किसी के लिए भी उतनी ही सहज क्रिया है, जितनी कि सांस लेना।
- इलियट का मानना है कि परंपरा को विरासत के रूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता, बल्कि यह एक श्रम-साध्य कार्य है।
- परंपरा एक सातत्य प्रवाह है। प्रत्येक परंपरा अपने समय में आधुनिक होती है।
- किसी भी कवि का मूल्य अपने-आप में, अकेले में नहीं होता; उसका सही मूल्यांकन पूर्ववर्ती कवियों की सापेक्षता में ही हो सकता है।
- इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धांत के 'साधारणीकरण' के अत्यंत निकट है।

14.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष उपलब्ध हुए हैं-

- परंपरा रूढ़ि नहीं, वरन इतिहास-बोध है।
- परंपरा को सीखना एक श्रम-साध्य कर्म हैं।

- कवि अपने पूरे रचनाकाल में अतीत की चेतना का विकास करता है।
- अतीत की चेतना भविष्य का मार्ग प्रशस्त करती है।
- प्रत्येक राष्ट्र की अपनी चेतना होती है।
- कवि अथवा कलाकार एक सर्जक के रूप में दो अलग व्यक्ति होते हैं।
- कवि का मस्तिष्क समग्र रचना-प्रक्रिया से अप्रभावित रहता है, यही निर्वैयक्तिकता है।
- आलोचना रचना-केंद्रित होनी चाहिए, रचनाकार-केंद्रित नहीं।
- रचनाकार का मूल्यांकन उसके पूर्व अथवा समकालीन रचनाकारों से तुलना करके ही किया जा सकता है।
- कवि का मस्तिष्क सृजन-प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है, किन्तु वह समग्र सृजन-प्रक्रिया में अप्रभावित रहता है।
- प्रत्येक पाठक का रचना को ग्रहण करने का अपना अलग अनुभव होता है।

14.6 : शब्द संपदा

1. परंपरा	=	सौंपना (शब्दकोशीय अर्थ), इलियट के अनुसार इतिहास-बोध लिए हुए एक समानांतर प्रवाह
2. वैयक्तिक प्रतिभा	=	इतिहास-बोध तथा समसामयिक प्रवाह को समझने की रचनाकार की अपनी प्रतिभा
3. रचना की सामग्री	=	रचनाकार का अनुभव एवं दृष्टिकोण
4. निर्वैयक्तिकता	=	सृजन-प्रक्रिया से अप्रभावित कवि का मस्तिष्क
5. अतीत का वर्तमान	=	अतीत का समय-बोध

14.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड (अ)

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में लिखिए।

1. इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
2. इलियट की परंपरा की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

खंड (ब)

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 200 शब्दों में दीजिए।

1. 'परंपरा और आधुनिकता' संबंधी रिचर्ड्स के विचार पर टिप्पणी लिखिए।

2. परंपरा के आलोक में रचनाकार का मूल्यांकन संबंधी इलियट के विचारों को बिन्दुवार लिखिए।
3. 'परंपरा अपने समय में आधुनिक होती है।' -कथन की पुष्टि हेतु युक्तियुक्त तर्क प्रस्तुत कीजिए।
4. 'कवि का मस्तिष्क अनुभव और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में अप्रभावित रहता है।'- रासायनिक उदाहरण के आधार पर समझाइए।

खंड (स)

I. सही विकल्प चुनिए।

1. सीखने की प्रक्रिया को ---------- कहते हैं। ( )

   (अ) शिक्षण (आ) संस्कृति (इ) परंपरा (ई) आधुनिकता

2. परंपरा की एक शर्त है – याद करना, और दूसरी शर्त है- ----------। ( )

   (अ) सुनना (आ) भरोसा करना (इ) दोहराना (ई) सौंपना

3. इलियट इतिहास-बोध को जोड़ते हैं- ( )

   (अ) अर्थ-बोध (आ) जीवन-बोध (इ) भाषा-बोध (ई) काल-बोध

II. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. कवि और _____ दोनों एक-दूसरे से अलग होते हैं।
2. परंपरा का अर्थ रूढ़ि नहीं वरन _____ है।
3. कवि का मस्तिष्क सृजन-प्रक्रिया से अप्रभावित रहता है, इसी को _____ कहते हैं।

III. सुमेल कीजिए।

1. ऑक्सीजन और सल्फर डाइऑक्साइड	अ. कवि का मस्तिष्क
2. प्लेटिनम	आ. अतीत की चेतना का विकास
3. सल्फरस एसिड	इ. रचना-केंद्रित
4. रचना का अंतिम उद्देश्य	ई. कवि के भाव
5. आलोचना होनी चाहिए	उ. कविता

14.8 : पठनीय पुस्तकें

T S Eliot, The Sacred Wood (Essays on Poetry and Criticism)

1. प्रो. निर्मला जैन, कुसुम बानथिया, पाश्चात्य साहित्य चिंतन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
2. प्रो. देवेंद्रनाथ शर्मा, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

इकाई 15: अस्तित्वाद

इकाई की रूपरेखा

15.1. प्रस्तावना

15.2. उद्देश्य

15.3. मूल पाठ: अस्तित्ववाद

15.3.1. अस्तित्व और अस्तित्व-चेतना

15.3.2. अस्तित्ववाद : नियतिवाद और हीगल के भाववाद की प्रतिक्रिया

15.3.3 अस्तित्ववादी दर्शन : प्रमुख दार्शनिक एवं विचारक

15.3.4. अस्तित्ववादी दर्शन की प्रमुख मान्यताएँ

15.3.5. अस्तित्ववादी चिंतन की प्रिय शब्दावली

15.3.6. दो महायुद्ध और अस्तित्ववाद का विस्तार

15.3.7. हिंदी साहित्य और अस्तित्ववाद

15.4. पाठ सार

15.5. पाठ की उपलब्धियाँ

15.6. शब्द संपदा

15.7. परीक्षार्थ प्रश्न

15.8. पठनीय पुस्तकें

15.1 : प्रस्तावना

मध्यकालीन यूरोप और व्यक्ति की स्वतंत्रता

दार्शनिक चिंतन, साहित्य और कलाओं के विभिन्न रूपों को प्रभावित करने वाले अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि में मध्यकालीन यूरोप का धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक वातावरण है। ज्ञान, तर्क और बौद्धिकता की दृष्टि से तत्कालीन यूरोप को 'अंधकार युगीन यूरोप' कहा जाता है। इसके मूल कारणों में मुख्यत: विज्ञान और वैज्ञानिक चिंतन का अभाव, सामाजिक जीवन में ईसाइयत के नाम पर प्रचलित अंधविश्वासों की विनाशकारी भूमिका, प्रमाणवाद की लीला, राजनैतिक व्यवस्था पर धर्म का एकाधिकार तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता की अस्वीकृति की गणना की जा सकती है। यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि इसी प्रकार के वातावरण के कारण मध्यकालीन यूरोप का एक नाम 'क्रिस्तानिस्तान' भी था। नरेंद्रदेव वर्मा ने कहा है कि यूरोप के

"मध्य युग की जीवनचर्या में कोई उलझाव नहीं था, किसी भी प्रकार की जटिलता नहीं थी। विज्ञान का जब उदय नहीं हुआ था, तब पूरा यूरोप धर्म की दृष्टि से एक था। ईसाई धर्म उनका एकमात्र धर्म था तथा उसी धर्म के आलोक में उनका आंतरिक और बाह्य जीवन समायोजित हो सका था। इसीलिए मध्यकालीन यूरोप को क्रिस्तानिस्तान कहा जाता था।" (आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान, पृ. 3)। इस क्रिस्तानिस्तान को ईसाई धर्म, बाइबल, चर्च और लैटिन भाषा नियंत्रित करते थे। कालांतर में इनके साथ सामंतवाद भी आकर जुड़ गया।

मध्यकालीन यूरोप में चर्च सर्व शक्तिशाली था। सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में--- "जिस प्रकार आजकल प्रत्येक व्यक्ति राज्य के अधीन होता है और उसके कानून-कायदों को मानता है, वैसे ही मध्य काल में यूरोप का प्रत्येक व्यक्ति चर्च के अधीन था और उसके कानून-कायदों को मानता था।xxx चर्च की स्थिति सब राज्यों व राजाओं से ऊपर थी।" (विश्व का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 85)। मध्यकालीन यूरोप में चर्च की शक्ति और एकाधिकारवाद का यथार्थ इसी से समझा जा सकता है कि यदि कोई राजा चर्च को चुनौती देने का साहस करता था, तो चर्च उसके विरुद्ध चार प्रकार की कार्रवाई कर सकता था--- एक, राजा को धर्म बहिष्कृत किया जा सकता था, दो, राज्य में धार्मिक हड़ताल की जा सकती थी, तीन, राजा को उसके पद से हटाने की घोषणा की जा सकती थी, और चार, क्रूसेड (धर्म-युद्ध) का आह्वान किया जा सकता था।

13वीं शताब्दी में विक्लिफ (विक्लिप्ट) ने बाइबल का लैटिन से अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके उसे आम जनता की पहुँच में लाने का कार्य किया। इससे लैटिन न समझ पाने वाले साधारण लोग यह जानने लगे कि चर्च उन्हें बाइबल के नाम पर किस प्रकार अंधविश्वासों का शिकार बनाए हुए है। बाइबल का जन-भाषा में अनुवाद एक प्रकार से चर्च की एकाधिकारवादी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह था। रोजर बेकन (12010-1293) ने केवल बाइबल को प्रमाण मानने वाले धार्मिक बंधन के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि पुरातन ग्रंथ को रटना छोड़कर वैज्ञानिक परीक्षणों पर विश्वास किया जाना तथा बुद्धि को प्रमाणवाद से छुटकारा दिलाया जाना अनिवार्य है। कॉपरनिकस (1473-1543) ने चर्च के फैलाए भ्रम के विरुद्ध यह सिद्ध किया कि सूर्य स्थिर है और पृथिवी उसका चक्कर लगाती है। लूथर (1483-1546) ने चर्च द्वारा प्रचलित 'पापमोचन-पत्र' प्रथा के विरुद्ध लैटिन भाषा में लेख लिखा और इस प्रथा को शास्त्र विरोधी सिद्ध किया। गैलिलियो (1564-1642) ने परीक्षण करके इस धारणा को निर्मूल सिद्ध किया कि वस्तुओं की ऊपर से नीचे गिरने की गति उनके भार के अनुपात में होती है।

ये घटनाएँ बौद्धिकता, वैज्ञानिकता और तार्किकता के उदय की परिस्थितियों का निर्माण करने वाली थीं और इनका गहरा संबंध व्यक्ति की स्वतंत्रता के बारे में सोचने से था। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे इस विचार को बल मिलने लगा कि व्यक्ति और धर्म, व्यक्ति और ईश्वर, व्यक्ति और राज्य, व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और भाग्यवाद जैसे विषयों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए तथा जीवन और जगत में व्यक्ति की स्थिति के साथ ही अपने बारे में निर्णय करने के व्यक्ति के अधिकार पर बातचीत होनी चाहिए।

15.2 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने से आप -

- अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि से परिचित कराना और अस्तित्व तथा अस्तित्व-चेतना का अभिप्राय समझाना।

- अस्तित्ववादी विचार-दर्शन के विकास में प्रमुख दार्शनिकों के योगदान का परिचय सुलभ बनाना।

- अस्तित्ववाद की प्रमुख मान्यताओं को स्पष्ट करके उन्हें समझने में सहायता करना।

- अस्तित्ववाद के अंतर्गत प्रयोग किए जाने वाले प्रमुख शब्दों और उनके अभिप्राय से परिचित होने का अवसर प्रदान करना।

- हिंदी आलोचना और सृजनात्मक साहित्य में अस्तित्ववाद की स्थिति से परिचित होने में सहायता करना।

15.3 : मूल पाठ: अस्तित्ववाद

15.3.1. अस्तित्व और अस्तित्व-चेतना

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर (नवम् संस्करण, पृ.75) के अनुसार अस्तित्व का शाब्दिक अर्थ है--- 'सत्ता का भाव, विद्यमानता, होना, हस्ती, अवस्थिति' आदि, लेकिन अस्तित्ववाद के प्रथम विचारक माने जाने वाले सोरेन किर्केगार्द अस्तित्व को विशेषीकृत करते हुए उसे केवल मनुष्य के साथ नत्थी करने के पक्षधर हैं। उनके विचार की व्याख्या करते हुए नरेंद्रदेव वर्मा ने लिखा है कि "सामान्यत: अस्तित्व का अर्थ होता है, उपस्थिति का बोध। किंतु किएर्कगार्द अस्तित्व शब्द का प्रयोग आत्यंतिक रूप से मानवी अस्तित्व की पुष्टि के लिए ही करते हैं। इससे यह निष्पन्न होता है कि मानव-व्यक्तित्व अद्वितीय है और एकमात्र वह ही अस्तित्व से युक्त है। वे आकार युक्त, प्रयोजनशील और निष्क्रिय प्रकृति को 'सारभूत' की अभिधा प्रदान करते हैं और स्वयं चेतन, सक्रिय और अनिश्चित मानव-यष्टि के लिए 'अस्तित्व' का प्रयोग करते हैं। प्रकृति ही सारभूत है और व्यक्ति ही अस्तित्व युक्त है।" (आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान, पृ. 19)। किर्केगार्द ने अस्तित्व और ज्ञान के बीच भी संबंध स्थापित किया है और माना है कि

वास्तविक ज्ञान वही है, जो या तो अस्तित्व के बारे में हो अथवा उससे संबंधित हो। कार्ल यास्पर्स ने अस्तित्व का अभिप्राय व्यक्ति की मौलिक स्वतंत्रता और इच्छानुकूल चुनाव का अधिकार बताया है। विचारक सार्त्र भी अस्तित्व का मुख्य अर्थ व्यक्ति की स्वतंत्रता ही बताते हैं। गेब्रिएल मार्सल ने व्यक्ति और अस्तित्व को अभिन्न मानते हुए स्थापित किया है कि अस्तित्व बुद्धि का विषय नहीं है, बल्कि उसे केवल अनुभव किया जा सकता है और उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

जब व्यक्ति अस्तित्व के उपर्युक्त अर्थों के प्रति पूर्ण सचेत हो जाता है, तो माना जाता है कि उसके भीतर अस्तित्व-चेतना का उदय हो गया है। इस विषय में गेब्रिएल मार्सल की धारणा हमारी सहायता करती है। उन्होंने माना है कि व्यक्ति का जीवन तमाम तरह के दबावों और भार से आक्रांत होता है, जबकि अस्तित्व स्वतंत्रता के गुण के कारण इनसे मुक्त होता है। ऐसे में व्यक्ति अस्तित्व-चेतना के सहारे जीवन के भार से अस्तित्व की स्वतंत्रता की ओर चलता है। कहा जा सकता है कि व्यक्ति के भीतर प्रत्येक प्रकार की दासता से मुक्त होने, अपनी मौलिक स्वतंत्रता की रक्षा करने, निजी आंतरिकता को पहचानने, चयन और वरण के अधिकार के प्रति सावधान होने और इनके लिए संघर्ष करने की चेतना ही अस्तित्व-चेतना कहलाती है।

बोध प्रश्न –

- अस्तित्व चेतना का उदय कब होता है ?

15.3.2. अस्तित्ववाद : नियतिवाद और हीगल के भाववाद की प्रतिक्रिया

अस्तित्ववाद के विचार-दर्शन पर चर्चा प्रारंभ होने के बहुत पूर्व नियतिवाद और भाववाद (जिसे आदर्शवाद भी कहा गया है) ने व्यक्ति, धर्म, राज्य और जीवन-जगत के संबंध में ऐसी धारणाओं का प्रचार किया था, जो व्यक्ति की स्वाधीनता और चयन की इच्छा की उपेक्षा करती थीं।

नियतिवाद इस मूल धारणा पर टिका हुआ था कि प्रकृति अति विराट है, जबकि व्यक्ति उसका अति क्षुद्र अंश। उसकी स्थिति कारण-कार्य संबंध के आधार पर पहले से निश्चित होती है। इसमें पूर्व परिस्थितियाँ और घटनाएँ कारण-रूप हैं और व्यक्ति जिन परिस्थितियों से घिरता है अथवा जिन घटनाओं से संचालित होने को बाध्य होता है, वे कार्य-रूप। इस कारण-कार्य संबंध का अभिप्राय यह भी है कि व्यक्ति किसी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का स्वामी नहीं होता, यहाँ तक कि उसके पास कोई स्वतंत्र संकल्प-शक्ति भी नहीं होती; क्योंकि अपने लक्ष्यों को पाने के लिए वह जो संकल्प करता दिखता है, उसका निर्धारण भी पूर्व परिस्थितियाँ ही करती हैं। नियतिवाद यह भी मानता है कि जीवन और जगत का सर्वोच्च स्वामी होने के कारण व्यक्ति की स्वतंत्रता और

उसकी संकल्प-शक्ति का वास्तविक नियंता ईश्वर होता है। इसलिए ईश्वर ही व्यक्ति की स्वतंत्रता का भी जनक है और संकल्प-शक्ति का भी।

नियतिवाद की धारणा नास्तिक दर्शन में भी प्राप्त होती है। इसका उदाहरण भारत में मक्खलि गोशाल (ई.पू. 560-484) द्वारा स्थापित 'आजीवक संप्रदाय' है। आधुनिक काल में ऑस्ट्रेलिया के भूगोलवेत्ता ग्रिफिथ टेलर ने सन् 1920 में 'नव नियतिवाद' की धारणा भी प्रस्तुत की थी। एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि दार्शनिक स्तर पर नियतिवाद और भाग्यवाद समान नहीं हैं। दोनों में मूल भेद यह है कि जहाँ नियतिवाद परिस्थितियों, घटनाओं और उनके प्रभावों के बीच कारण-कार्य संबंध मानता है, वहीं भाग्यवाद कारण-कार्य संबंध को अस्वीकार करता है और प्रत्येक घटित को भाग्य का पूर्व निश्चित लेख मानता है। इसी कारण विचारक दोनों को परस्पर विरोधी भी घोषित करते हैं।

एक स्वतंत्र धारा के रूप में भाववाद के दर्शन का प्रारंभकर्ता हीगल (1770-1830) को माना जाता है। इस दर्शन के विकास में सुकरात, प्लैटो, अरस्तु, मैकियावली, रूसो, कांट, जोसेफ टी. शिप्ले, देकार्त और शेलिंग के विचारों की भूमिका भी स्वीकार की जाती है। हीगल ने मुख्यत: अपने ग्रंथों 'साइंस ऑफ लॉजिक' (1816) और 'फिलॉसफी ऑफ राइट्स' (1821) में जो धारणाएँ प्रस्तुत की हैं, उनके आधार पर भाववाद का भवन खड़ा हुआ।

भाववाद पदार्थ के स्थान पर विचार को महत्व देता है और उसी को परातत्व और आत्मा कहता है। इस आधार पर सर्वव्यापी विचार सर्वात्मा है तथा सृष्टि सर्वव्यापी विचार का प्रकटीकरण है। विकास का लक्ष्य विचार अर्थात आत्मा द्वारा आत्मचेतना की प्राप्ति है और इसी आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता उसकी निजी संपत्ति न होकर सामाजिक व्यापार का अंग है। इस रूप में स्वतंत्रता का अर्थ है कि व्यक्ति सामाजिक विधि-विधानों और परंपराओं को इच्छापूर्वक माने तथा समाज द्वारा निर्धारित नैतिक जीवन-मूल्यों का पालन करे। यही राज्य और व्यक्ति के संबंध की स्थिति भी है। राज्य के संदर्भ में भी व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं होता, बल्कि राज्य की इच्छा में व्यक्ति की इच्छा का विलय ही स्वतंत्रता और विकास का आधार है। राज्य को इतना महत्व दिए जाने के मूल में यह मान्यता है कि 'राज्य वस्तुत: पृथिवी पर ईश्वर के अवतरण' (मार्च ऑफ गॉड ऑन अर्थ) जैसा है। भाववाद एक ओर यह मानता है कि प्रत्येक विषय बुद्धि की सीमा में होता है, उसके परे नहीं, यहाँ तक कि विकास के पूर्व निर्धारित मार्ग का निर्णय भी बुद्धि द्वारा ही किया जाता है, दूसरी ओर इस बात पर बल देता है कि समस्याओं का समाधान दार्शनिक चिंतन में निहित होता है।

नियतिवाद और भाववाद में व्यक्ति की स्वाधीनता, निजी अंतरंगता, निर्णय और चयन की इच्छा, अर्थात उसके अस्तित्व की जो घोर उपेक्षा की गई थी, अस्तित्ववाद के मूल में उसके प्रतिरोध एवं प्रतिक्रिया की निर्णायक भूमिका थी।

बोध प्रश्न –

- नियतिवाद क्या है ?
- भाववाद क्या है ?

15.3.3 अस्तित्ववादी दर्शन : प्रमुख दार्शनिक एवं विचारक

अस्तित्ववादी दर्शन के संदर्भ में सोरेन किर्केगार्द (1813-1855) का नाम सबसे पहले लिया जाता है। उनकी मान्यताएँ अधिकतर उनकी डायरी में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'एक्जिस्टैंशियलिज्म एंड मॉडर्न प्रेडिकामेंट' नामक ग्रंथ में किर्केगार्द के दार्शनिक चिंतन पर विशेष सामग्री दी गई है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने वहीं से किर्केगार्द के चिंतन के निष्कर्ष को हिंदी में अनुवाद करके इस प्रकार प्रस्तुत किया है---

1. "सच्चा ज्ञान वही है, जो अस्तित्व के बारे में हो, अथवा अनिवार्यत: अस्तित्व से संबद्ध हो।
2. वह ज्ञान, जो अस्तित्व से असंबद्ध है, जो अस्तित्व की आंतरिकता को नहीं छूता, वह ऊपरी और अमहत्वपूर्ण है।
3. वस्तुपरक ज्ञान को व्यक्तिपरक ज्ञान से भिन्न करना होगा। वस्तुपरक दृष्टि हमें सोचने वाले व्यक्ति से अलग ले जाकर सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया में खो देती है--- ये ज्ञान हैं गणित, दर्शन या इतिहासादि। ऐसी स्थिति में व्यक्ति-सत्ता के प्रति उदासीनता चल सकती है।
4. वस्तुपरक दृष्टि से वस्तुगत सत्य उपलब्ध किया जाता है, इसी कारण वहाँ वैयक्तिकता का कोई महत्व नहीं होता। यहीं वस्तुपरक मूल्य की सृष्टि होती है, जिसका महत्व मात्र अनुमानाश्रित होता है।
5. व्यक्तिपरक ज्ञान के लिए वैयक्तिक औचित्य जरूरी है, व्यक्तिपरक दृष्टि से उपलब्ध सत्य इसी कारण आंतरिकता के औचित्य से प्रमाणित होता है, इसके लिए व्यक्ति को अपनी आंतरिकता में डूब कर सत्य खोजना चाहिए।
6. इसीलिए केवल नैतिक और धार्मिक ज्ञान ही आवश्यक ज्ञान है, क्योंकि सिर्फ ये ही आंतरिक जगत से संबद्ध है, इसीलिए सिर्फ इन्हीं में सत्य और अस्तित्व घुल-मिल कर प्रकट होते हैं।

7. आवश्यक सत्य हमेशा ही आंतरिक और वैयक्तिक होता है, मतलब कि हमारी आंतरिकता ही सत्य है।"

(आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, पृ. 36-37)

आधुनिक सभ्यता में मानव-मूल्यों की स्थिति पर गहराई से विचार करने वाले शॉपेनहावर (1788-1860) अपनी 'संसार अनिवार्यत: बुरा है' धारणा के कारण 'निराशा के दार्शनिक' के रूप में प्रसिद्ध हुए। उन्हें 'जीवन-मूल्यों के विघटन का पहला व्याख्याता' भी कहा गया। उन्होंने 'इच्छा-शक्ति का आध्यात्मिक सिद्धांत' प्रस्तुत किया था। शॉपेनहावर के सामने त्रास, घुटन और अंतर्विरोधी संघर्ष से युक्त जगत से बचने के दो मार्ग थे---एक, आत्महत्या के रास्ते जिजीविषा को परास्त करना, और दो, ज्ञान और विवेक का प्रयोग करके जिजीविषा पर विजय पाना। विवेचन के पश्चात वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन दोनों मार्गों में से आत्मघात क मार्ग व्यावहारिक नहीं है, अत: ज्ञान और विवेक का मार्ग ही बचता है, जो हमें बुरे संसार से मुक्त कर सकता है। शॉपेनहावर मुख्य रूप से भारतीय उपनिषद, बौद्ध-दर्शन और ताओवाद से प्रभावित थे। उनके चिंतन पर इन तीनों का ही प्रभाव दिखाई देता है। उनकी स्थापना थी कि व्यक्ति अपने भीतर आनंद की खोज करना चाहता है, जो एक कठिन कार्य है, लेकिन कहीं बाहर आनंद की खोज असंभव है। उनका बल एकांत के आनंद पर था। वे मानते हैं कि एकांत के आनंद का अनुभव न कर पाने वाला व्यक्ति स्वतंत्रता को भी प्रेम नहीं कर सकता। इसी के साथ वे व्यक्ति की पीड़ा और त्रास का मूल सामाजिक संबंधों के स्वरूप में मानते हैं।

फियोडोर मिखाइलोविच दॉस्तोवस्की (1821-1881) ने मेमॉयर्स फ्रॉम अंडरग्राउंड, इन मेमॉयर्स फ्रॉम द हाउस ऑफ डेड, क्राइम एंड पनिशमेंट तथा ब्रदर्स कर्मोजोव जैसी कृतियाँ लिख कर अस्तित्ववादी चिंतन के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों की व्याख्या की। उन्होंने अपने ब्रदर्स कर्मोजोव उपन्यास में एक पात्र से कहलवाया--- 'क्या तुम्हें यह याद नहीं है कि पाप और पुण्य के भेद का पता लगाने की स्वतंत्रता के बदले व्यक्ति शांति अधिक पसंद करता है, यहाँ तक कि मृत्यु भी।' दॉस्तोवस्की ने यह भी कहा था कि 'मूलत: उनका लक्ष्य मनुष्य है। उनका संकल्प उसी की जीवन-प्रणाली, प्रकृति, अनुभवों, विचारों और चरित्र को जानने तथा विश्लेषण करने से जुड़ा है।' दॉस्तोवस्की ने 'नव-मुक्त-मानव' की धारणा स्थापित की थी।

फ्रेडरिक नीत्शे (1844-1900) 'ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है' घोषणा के कारण विशेष रूप से चर्चा में आए। इसने अस्तित्ववादी लेखकों को विशेष रूप से आकर्षित किया। उन्होंने अपनी घोषणा की व्याख्या करते हुए कहा कि ईश्वर की हत्या वैज्ञानिक मानवतावाद के हाथों हुई और धर्म तथा सामाजिक नैतिकता उसकी कब्रें हैं। अपने राज्य और धर्म शीर्षक निबंध में नीत्शे ने

धर्म और राष्ट्र-प्रेम, दोनों को ही जनता के लिए अफीम के समान बताया था। उन्होंने यह भी कहा था कि यूरोप के दो मादक-पदार्थ हैं, शराब और ईसाई धर्म। नीत्शे शॉपेनहावर और कांट से अधिक प्रभावित थे और उन्होंने अस्तित्ववाद एवं मनोविश्लेषणवाद की धारणाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गॉड इज डेड, बियांड गुड एंड ईविल, द जीनियॉलॉजी ऑफ मॉरल्स आदि नीत्शे की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। उन्होंने महत मानव, परिप्रेक्ष्यवाद और शक्ति की इच्छा आदि सैद्धांतिक धारणाएँ प्रस्तुत की थीं। अस्तित्ववाद के संदर्भ में उनका यह कथन बहुत प्रसिद्ध है कि 'वही बनो, जो तुम हो'।

निकोलाई वर्दिएफ (1874-1948) को फिलॉसफी ऑफ फ्रीडम, द फेट ऑफ मैन इन मॉडर्न वर्ल्ड, मैन एंड मशीन, द एक्जिस्टेंशियल डायलेक्टिक्स ऑफ डिवाइन एंड ह्युमन जैसी महत्वपर्ण कृतियों तथा क्रेश्चन ऑफ लाइफ पत्रिका के संपादक के रूप में उनकी भूमिका के माध्यम से पहचाना जाता है। उन्होंने किसी भी प्रकार के बंधन को अस्तित्व के लिए खतरा घोषित किया था। वे मानते थे कि वास्तविक संकट उस व्यक्ति की आत्म-पीड़ा को समझना है, जिसे परिस्थितियों ने उसकी आधार-भूमि से अलग कर दिया है। इसी कारण जीवन की परिभाषा विद्रोह की भूमिका का निर्धारण और व्यक्ति की स्वतंत्रता के अवरोधों को ध्वस्त करके ही की जा सकती है।

कार्ल यास्पर्स (1883-1959) पहले ऐसे दार्शनिक-चिंतक हुए, जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपने चिंतन को 'अस्तित्व दर्शन' नाम दिया। उनके फिलॉसॉफिकल लॉजिक नामक ग्रंथ को 'अस्तित्ववाद का तर्कशास्त्र' माना गया। यह ग्रंथ सन् 1945 में प्रकाशित हुआ था। यास्पर्स ने अस्तित्व को अहं का एक विशिष्ट रूप कहा है, जिसकी अनुभूति व्यक्ति द्वारा अपने संकल्प, इच्छा शक्ति और सचेतन कार्यों द्वारा ही संभव है। उन्होंने यह भी माना है कि व्यक्ति के जीवन की चतुर्दिक परिस्थितियाँ उसके वास्तविक 'मैं' को पूरी तरह उपेक्षित करने का प्रयास करती हैं और अपनी मौलिक स्वतंत्रता का उपयोग करके ही वह इस 'मैं' की रक्षा कर सकता है; अत: अस्तित्व और स्वतंत्रता अनिवार्यत: परस्पर जुड़े हुए हैं।

मार्टिन हाइडेगर (1889-1976) ने भी 'मैं' अथवा 'अहं' को 'विशुद्ध अस्तित्व' घोषित किया है। उन्होंने कहा है कि सारभूत तत्व, अस्तित्व, वस्तु और व्यक्ति के संबंध को समझने के लिए यह जान लेना अनिवार्य है कि वस्तु में सारभूत तत्व मुख्य होता है, अस्तित्व गौण, जबकि व्यक्ति में अस्तित्व प्रमुख होता है और सारभूत तत्व गौण्। इसीलिए 'अस्तित्व व्यक्ति के जीवन की वास्तविक प्रकृति' है। नीत्शे की भाँति हाइडेगर भी ईश्वर की मृत्यु हो जाने में विश्वास रखते थे। उन्होंने अपने युग के विषय में कहा है कि ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है और उसके स्थान पर

किसी दूसरे ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, अत: यह युग दुहरे 'नास्ति-भाव' के दबावों से जूझ रहा है।

गेब्रिएल होनोर मार्सल (1889-1973) को 'ईश्वरवादी' अथवा 'ईसाई अस्तित्ववादी' दार्शनिक कह कर पुकारा जाता है। वे अपनी इस घोषणा के कारण प्रसिद्ध हुए कि 'शरीर और अस्तित्व के विच्छिन्न हो चुके संबंध की ओर लौटना आवश्यक है'। यह उन्होंने अपने फिलॉसफी ऑफ एक्जिस्टेंस नामक ग्रंथ में कहा था। अपनी इस धारणा को स्पष्ट करते हुए मार्सल ने यह भी कहा था कि शरीर और अंतरात्मा से युक्त व्यक्ति ही अस्तित्व है; इसलिए शरीर को मात्र एक वस्तु के रूप में नहीं देखा जा सकता और न ही व्यक्ति को अस्तित्व से अलग किया जा सकता है। मार्सल की यह धारणा जर्मन दार्शनिक देसकार्तेस के 'कार्तेसियनवाद' की प्रतिक्रिया में सामने आई मानी जाती है। देसकार्तेस जीवन और बुद्धि के बीच विच्छेद मानता था तथा बाहय-जगत से वैयक्तिक-आंतरिक को अलग माने जाने का समर्थक था। दूसरी ओर मार्सल इस बात से दुखी थे कि आधुनिक व्यक्ति और उसके जीवन-जगत के बीच घातक दूरी खड़ी हो गई है तथा अत्यधिक समाजीकरण एवं शासन-सत्ता के हस्तक्षेप ने व्यक्ति के जीवन पर हमले करके उसे नुकसान पहुँचाया है। फिलॉसफी ऑफ एक्जिस्टेंस के अतिरिक्त मार्सल के द फिलॉसफी ऑफ एक्जिस्टेंस, बीइंग एंड हैविंग, जर्नल मेटाफिजिक, आदि ग्रंथ अस्तित्ववाद को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उल्लेखनीय है कि मार्सल ने अपने अस्तित्व संबंधी विचारों के आलोक में तीस से अधिक नाटक भी लिखे थे, जिनमें द ब्रोकेन वर्ल्ड और ए मैन ऑफ गॉड ने अस्तित्ववादियों का ध्यान खींचा था।

ज्याँ पॉल सार्त्र (1905-1980) को एक समय 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पक्षधर समाजवादी' कहा जाता था वे फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य न होते हुए भी मार्क्सवाद के समर्थक थे। यह अलग बात है कि जीवन के उत्तरार्ध में वे दोनों ही नहीं रहे। सार्त्र का सबसे अधिक बल अस्तित्व और स्वतंत्रता के अनिवार्य संबंध पर था। वे स्वतंत्रता को दर्शन एवं विचार में ही नहीं, बल्कि साहित्य में भी अनिवार्य मानते थे। उन्होंने स्वतंत्रता को जीवन से भी जोड़ कर देखा था और इस संबंध को अतीत की मिथ्या धारणाओं को नकारते हुए नवीन की खोज में व्यक्ति की गतिशीलता माना था। सार्त्र ने अपनी 'द वर्ड्स' पुस्तक के माध्यम से ईश्वर की सत्ता को भी नकार दिया था। सार्त्र का कहना था कि व्यक्ति को वैसा ही दिखना आवश्यक है, जैसा कि वह अपने वास्तविक स्वभाव में है। वह अपना निर्माता स्वयं है, अपने मूल्यों के निर्माण के लिए भी स्वयं ही उत्तरदाई है तथा जीवन भर वैसा ही बनने के लिए अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग करता रहता है, जैसा कि वह बन सकता है। सार्त्र ने अस्तित्ववाद की इस धारणा को बल प्रदान किया

था कि व्यक्ति का अस्तित्व पहले है, जबकि उसकी परिभाषा और मूल प्रकृति बाद में। अपने जीवन की जटिल-विषम परिस्थितियों, विश्वयुद्धों, मानव-मूल्यों के विघटन, राजनैतिक विचारधाराओं की असफलताओं और व्यक्ति की स्वतंत्रता को नियंत्रित करने वाली विश्वव्यापी कोशिशों से गहरे स्तर पर असंतुष्ट सार्त्र ने अपनी सबसे घनिष्ठ मित्र सीमोन-द-बोउवार को दिए साक्षात्कार में अपने समय की दुनिया को 'मृत विश्व' भी घोषित किया था। वे अस्तित्ववाद को मानववाद से जोड़ने के पक्षधर थे। एक्जिस्टेंशियलिज्म एंड ह्युमनिज्म, बीइंग एंड नथिंगनेस, रिपब्लिक ऑफ साइलेंस आदि कृतियों में सार्त्र के अस्तित्ववादी विचारों व धारणाओं को देखा जा सकता है। अपनी दार्शनिक मान्यताओं के समर्थन में उन्होंने लॉ नौसी (नौसिया), अर्थात मतली जैसा उपन्यास और नो एग्जिट जैसा नाटक लिखा था। सार्त्र को अस्तित्ववाद का सबसे महत्वपूर्ण व्याख्याता भी कहा जाता है।

अस्तित्ववादी चिंतन को वैचारिक स्तर पर स्वीकार करने के साथ ही उसे अपने साहित्य में फलीभूत करने वाले दो प्रमुख लेखक हुए--- फ्रैंज काफ्का (1883-1924) और अल्बेयर कामू (1913-1960)। अस्तित्ववादी व्याख्याओं पर आधारित काफ्का के तीन महत्वपूर्ण उपन्यास हैं, द ट्रायल, द कैसल और अमेरिका। उनकी मेटामॉर्फोसिस, द फास्टिंग शोमेन, इन द पैनल कॉलोनी, चीन की दीवार आदि कहानियों में भी अस्तित्ववाद के अनेक सूत्र विद्यमान हैं। अलगाव का बोध, अजनबीपन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव और आत्मपीड़ा की भाव-लीला से काफ्का का साक्षात्कार बचपन में ही हो गया था और ये सभी उनके लेखन का भी अंग बने।

दूसरे लेखक अल्बेयर कामू के जीवन का एक बड़ा हिस्सा फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य के रूप में गुजरा था, लेकिन एक समय ऐसा आया, जब उन्होंने 'उद्देश्य की सफलता, साधन के औचित्य की कसौटी' सिद्धांत का विरोध करते हुए पार्टी की सदस्यता छोड़ दी। राजनैतिक परिस्थितियों ने कामू को इतना निराश एवं बेचैन बना दिया कि उन्हें विश्वास हो गया कि सत्ता-प्राप्ति की दौड़ में प्रत्येक नवीन क्रांति ऐसे छद्म मुखौटे धारण कर लेती है, जो उसके दमन को छिपाने का कार्य करते हैं। कामू का सबसे प्रसिद्ध उपन्यास प्लेग था, जिसमें आधुनिक जीवन की भयावह विसंगतियों और आत्मपीड़ा का चित्रण किया गया है। उनके अजनबी, सुखी मृत्यु आदि उपन्यास, निर्वासन और आधिपत्य कहानी-संग्रह तथा कालिगुला नाटक भी स्वतंत्रता, विद्रोह, व्यक्तिगत आंतरिकता तथा संसार की अस्वीकृति जैसी अस्तित्ववादी धारणाओं पर आधारित हैं।

बोध प्रश्न -

- प्रमुख अस्तित्वादी दार्शिनिकोंकी सूची बताइए।

15.3.4. अस्तित्ववादी दर्शन की प्रमुख मान्यताएँ :

15.3.4.1. अस्तित्व पहले, परिभाषा बाद में

अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का विश्लेषण करते हुए ज्याँ पॉल सार्त्र ने यह स्थापना की थी कि अस्तित्व पहले है,जबकि उसकी परिभाषा और प्रकृति का निश्चय बाद में। यह संभव नहीं है कि पहले परिभाषा और मूल प्रकृति के गुण निर्धारित कर लिए जाएँ और तब अस्तित्व की खोज की जाए, बल्कि हमें पहले अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता का प्रयोग करते हुए अस्तित्व की खोज करनी होगी, तब उसकी मूल प्रकृति, गुणों और परिभाषा पर विचार करना संभव होगा।

बोध प्रश्न

- अस्तित्व पहले का क्या अभिप्राय है ?

15.3.4.2. स्वतंत्रता और निर्णय का अधिकार

वर्दिएफ की मान्यता है कि व्यक्ति का अस्तित्व तभी अर्थवान है, जब वह स्वतंत्रता से युक्त है। उन्होंने 'स्वतंत्रता अस्तित्व के अर्थवान होने की प्रतीक' धारणा प्रस्तुत की। यास्पर्स ने अस्तित्व की व्याख्या करते हुए उसे व्यक्ति की मौलिक स्वतंत्रता और निर्णय के अधिकार से जोड़ा। सार्त्र ने स्वतंत्रता को अपराजेय माना और कहा कि जीवन और जगत की परिस्थितियाँ व्यक्ति की बाह्य शक्ति को नियंत्रित कर सकती हैं, किंतु उसकी स्वतंत्रता तथा निर्णय के अधिकार का दमन नहीं कर सकतीं।

बोध प्रश्न –

- यास्पर्स ने अस्तित्व की व्याख्या करते हुए क्या कहा ?

15.3.4.3. ईश्वर : आस्तिक और नास्तिक कसौटी

ईश्वर की मान्यता के संदर्भ में अस्तित्ववादी चिंतकों के दो वर्ग हैं; एक, आस्थावादी अथवा आस्तिक चिंतक, और दो, अनास्थावादी अथवा नास्तिक चिंतक। आस्तिक चिंतकों में रिंटेलन, किर्केगार्द, मार्सल, वर्दिएफ, बूवर, यास्पर्स आदि चिंतक आते हैं। किर्केगार्द का मानना था कि ईश्वर तर्क का नहीं, बल्कि आस्था और श्रद्धा का विषय है। इसके बावजूद वे व्यक्ति को इतनी छूट देते थे कि व्यक्ति चाहे, तो ईश्वर को माने और न चाहे, तो न माने, किंतु वे ईश्वर और ईश्वरीय नैतिकता के पक्षधर थे। नास्तिक चिंतकों में नीत्शे, सार्त्र, शॉपेनहावर, मार्टिन हाइडेगर आदि की गणना की जाती है। इनमें से नीत्शे की यह धारणा अस्तित्ववाद को प्रभावित करने वाली सबसे मुख्य धारणाओं में से एक है कि वैज्ञानिक मानवतावाद के हाथों ईश्वर की हत्या की जा चुकी है और धर्म तथा सामाजिक नैतिकता उसकी कब्रें हैं। आगे चल कर सार्त्र ने दो बातें

कहीं; एक यह कि 'ईश्वर है ही नहीं, ईश्वर होता ही नहीं' और दूसरी यह कि कोई ईश्वर व्यक्ति को प्रभावित करने वाले मूल्यों का निर्माता नहीं हो सकता।

बोध प्रश्न –

- अस्तित्ववादी के दो वर्ग कोण से हैं ?

15.3.4.4. धर्म और राष्ट्र-प्रेम

नीत्शे ने अपने 'राज्य और धर्म' निबंध में धर्म और राष्ट्र-प्रेम को जनता के लिए अफीम घोषित किया है। मूलत; उनकी यह धारणा ईसाई धर्म के तत्कालीन प्रभुत्ववादी और कृत्रिमता को महिमामंडित करने वाली प्रवृत्ति के विरोध में सामने आई थी। उल्लेखनीय है कि वे यीशु को अपने नैतिक मूल्यों का स्वयं खोजकर्ता मानते थे; इसीलिए उन्हें धर्म से अलग करके देखने की वकालत करते थे। इसी प्रकार इतिहास में यहूदियों के विरुद्ध ईसाई राष्ट्रवाद की नकारात्मक भूमिका का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने अपनी राष्ट्र-प्रेम की धारणा का निर्माण किया था।

15.3.4.5. नैतिकता के दो रूप

नैतिकता के दो रूपों की धारणा का संबंध भी नीत्शे से ही है, जिसका अस्तित्ववादी चिंतन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्होंने मनुष्यों के दो वर्ग बनाए हैं, स्वामी वर्ग और दास वर्ग। उसी आधार पर नैतिकता को भी स्वामी वर्ग की नैतिकता और दास वर्ग की नैतिकता में बाँटा है। उनका कहना है कि स्वामी वर्ग नैतिक मूल्यों का पालन नहीं करता; क्योंकि उसकी नैतिकता शक्ति की लालसा के चतुर्दिक घूमती है। दूसरी ओर, दास वर्ग नैतिकता के नियमों और आदेशों के पालन के लिए बाध्य होता है।

बोध प्रश्न

- नैतिकता के दो वर्ग कौनसे हैं ?

15.3.4.6. वेदना और भय : सत्यानुभूति का मूल कारण

वर्दिएफ ने कहा था कि वेदना और भय सत्यानुभूति तक पहुँचने के मूल कारण हैं। जीवन और जगत से विच्छिन्न व्यक्ति वेदना और आत्मपीड़ा से जिस आंतरिकता को प्राप्त करता है, वही उसे सत्य के दर्शन की ओर धकेलती है। 'संसार अनिवार्यत: बुरा है' कहने वाले शॉपेनहावर ने वेदना और भय को व्यक्ति के जीवन में आरंभ से अंत तक व्याप्त व्यापार कहा है। यह असह्य व्यापार व्यक्ति को सच की ओर ले जाता है।

बोध प्रश्न

- संसार को किसने अनिवार्यातः बुरा कहा ?

15.3.4.7. व्यक्ति : अपना निर्माता स्वयं

किर्केगार्द ने कहा था कि व्यक्ति पूर्व-निर्मित नहीं होता, वह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया में अपना निर्माण करता रहता है। सार्त्र की मान्यता है कि व्यक्ति अपनी निर्मिति के लिए स्वयं उत्तरदाई होता है। अस्तित्ववादी दार्शनिक मानते हैं कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता और निर्णय शक्ति के बल पर स्वयं को वैसा बनाते रहने का प्रयत्न करता रहता है, जैसा कि वह बनना संभव होता है। उसके निर्माण में ईश्वर, नियति अथवा ऐसी ही अन्य किसी शक्ति की भूमिका नहीं होती। अपने कार्यों के लिए वह स्वयं ही उत्तरदाई भी होता है।

बोध प्रश्न –

- व्यक्ति के निर्माण के बारे में सार्त्र का क्या मत है ?

15.3.4.8. महत मानव और नव-मुक्त मानव

नीत्शे ने 'महत मानव' की धारणा प्रस्तुत की थी। इसे समझाते हुए वे कहते हैं कि जब व्यक्ति मानवी अस्तित्व के भीतर नैतिक, सामाजिक और आत्मिक मूल्यों को अर्जित करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, तो वह महत मानव की स्थिति पा लेता है। एक अन्य अस्तित्ववादी विचारक दॉस्तोवस्की ने 'नव मुक्त मानव' की परिकल्पना की है। इसे वे 'अंत: स्तरीय मानव' भी कहते हैं। उनकी मान्यता है कि नव मुक्त मानव अस्तित्व और स्वतंत्रता को अनिवार्य मानता है, जगत के बाह्य समन्वय की अवहेलना करता है, वैयक्तिकता पर बल देता है और अकेलेपन में अंतस की गहराइयों में उतर कर वास्तविक सत्य की खोज करता है।

बोध प्रश्न

- महत मानव का क्या अर्थ है ?
- नवमुक्त मानव की परिभाषा किसने दी ?

15.3.4.9. शक्ति की इच्छा

अनेक अस्तित्ववादी चिंतकों ने शक्ति की नैसर्गिक इच्छा की चर्चा की है। 'दस स्पोक जरथुस्त्र' में नीत्शे जरथुस्त्र से कहते हैं कि 'जहाँ भी कोई प्राणवान वस्तु मिलती है, वहीं शक्ति की इच्छा दिखाई देती है।' शक्ति की यह इच्छा वस्तुत: शक्ति पर अधिकार करने की इच्छा है। कई बार इसकी व्याख्या 'जीवित रहने की प्रकृत इच्छा' अथवा 'जिजीविषा' के परिप्रेक्ष्य में भी की जाती है। शक्ति की यह इच्छा न अच्छी होती है, न बुरी, बल्कि यह एक मूल प्रेरणा होती है, जो अपने को विभिन्न माध्यमों से अभिव्यक्त करती है। वैज्ञानिक, कलाकार, लेखक, शासक, दास, व्यापारी आदि सभी में इसकी अभिव्यक्ति अलग-अलग ढंग से होती है। अस्तित्ववादियों ने शक्ति की इच्छा को मनोवैज्ञानिक, जैविक और आध्यात्मिक संदर्भों में व्याख्यायित किया है।

बोध प्रश्न

- शक्ति की इच्छा अच्छी होती है या बुरी ?

15.3.5. अस्तित्ववादी चिंतन की प्रिय शब्दावली

अस्तित्ववादी चिंतन कुछ प्रमुख शब्दों को आधार बना कर साहित्य और कला में उनके सचेत प्रयोग का समर्थक है। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता, स्व-निर्णय, बौद्धिक-चेतना, निजी एकांतिकता, आंतरिकता, व्यंग्य, असंगति, अस्वीकृति, निरर्थकता, अमुखर उदासी, गहरा मौन, अजनबीपन, आत्महत्या, मृत्यु, उबकाई, परित्याग, अप्रसन्नता, त्रास, भय, दुख, पीड़ा आदि को देखा जा सकता है। इनमें से कई ऐसे शब्द भी हैं, जिनके बारे में अस्तित्ववादियों ने कुछ विशेष बातें भी कही हैं; जैसे, आस्तिक दार्शनिक किर्केगार्द ने उदासी (इसे परवर्ती अस्तित्ववादी चिंतन में 'अमुखर उदासी' कहा गया है) को स्पष्ट करते हुए 1841 के किसी दिन अपनी डायरी में लिखा--- "जब ईश्वर किसी व्यक्ति को अपने से मिला लेना चाहता है, तो वह अपनी सर्वाधिक विश्वस्त परिचारिका 'उदासी' को बुला कर कहता है--- हे, जल्दी करो, उसे ग्रहण कर लो, देखो कभी उसके बगल से हटना मत। और सच, संसार की कोई भी नारी अपने प्रेमी को ऐसा मृदु आलिंगन नहीं दे सकती, जैसा कि उदासी।" (शिवप्रसाद सिंह द्वारा अनूदित)।

बोध प्रश्न

- अस्तित्वादी शब्दावली की सूची बनाइए.

15.3.6. दो महायुद्ध और अस्तित्ववाद का विस्तार

ऐतिहासिक कारणों से अस्तित्ववादी चिंतन दीर्घ-काल तक विश्व व्यापी चर्चा का विषय नहीं बन सका था। यहाँ तक कि उसके सर्वाधिक प्रभावशाली दार्शनिक किर्केगार्द के चिंतन की ओर भी उनकी मृत्यु के बहुत समय बाद तक किसी का ध्यान नहीं गया था। जब राजनैतिक परिस्थितियाँ बदलीं, दुनिया को पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न विषम स्थितियों तथा विश्वयुद्धों का सामना करना पड़ा, वैचारिक व बौद्धिक संकट उत्पन्न हुआ और व्यक्ति की स्वाधीनता को कुचला जाने लगा, तो अचानक अस्तित्ववादी दार्शनिकों का अध्ययन अनिवार्य बन गया। रामविलास शर्मा ने किर्केगार्द की चर्चा करते हुए कहा है कि "1855 में किर्केगार्द का देहांत हुआ। साठ-सत्तर साल तक किसी ने ध्यान न दिया कि किर्केगार्द कौन हैं और क्या लिख गए हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद पराजित जर्मनी में एक ओर साम्यवादी नेतृत्व में क्रांतिकारी आंदोलन प्रबल हुआ, दूसरी ओर पूंजीवाद अपने आंतरिक संकट से उबरने में असमर्थ होकर क्रमश: फसिस्ट तानाशाही की ओर बढ़ा। इन दोनों के बीच, निराशा और पराजय से अभिभूत, जर्मन बुद्धिवादी, एक नए दर्शन की तलाश में, किर्केगार्द के पास जा पहुँचे। अस्तित्ववाद ने नया जीवन

पाया। " (नई कविता और अस्तित्ववाद, पृ. 93)। यही वह समय है, जब साहिय में सार्त्र, काफ्का, कामू जैसे विचारक लेखकों का उदय हुआ और विश्व भर के साहित्य को अस्तित्ववाद ने प्रभावित करना प्रारंभ किया।

बोध प्रश्न

- अस्तित्ववाद के विस्तार में विश्व युद्धों की क्या भूमिका रही ?

15.3.7. हिंदी साहित्य और अस्तित्ववाद

15.3.7.1. हिंदी आलोचना

हिंदी आलोचना को अस्तित्ववादी विचारकों और उनके दर्शन से परिचित कराने का श्रेय कथाकार-विचारक शिवप्रसाद सिंह को है। उन्होंने सन् 1964 में धर्मयुग साप्ताहिक में 'टूटे रथचक्रों का सारथी : किर्केगार्द' शीर्षक लेख लिख कर इसकी शुरुआत की। उसके बाद वे लगातार एक साल तक अस्तित्ववादी दार्शनिकों पर उसी पत्रिका में निरंतर लिखते रहे। उसी क्रम में उन्होंने अपने एक लेख 'आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद' में अपने निष्कर्षों के आधार पर आधुनिक-बोध की एक वैचारिकी भी प्रस्तुत की, जिसका मुख्य आधार अस्तित्ववादी दर्शन है, और जो हिंदी में प्रचलित है। शिवप्रसाद सिंह ने कहा--- "आज एक साथ क्षमाशील ईश्वर, नैतिकता का स्रोत धर्म, प्राकृतिक शक्तियों पर विजय-दुंदुभि बजाने वाला विज्ञान, समता और व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा करने वाले राजनैतिक मतवाद--- सभी के सभी टूट कर भहरा चुके हैं। मनुष्य की अप्रतिहत विजय-यात्रा के सांस्कृतिक रथ के पहिए टूक-टूक हो चुके हैं।

फिर मनुष्य क्या करे? इस ध्वंस, पतन और विघटन के युग में अपनी जिंदगी को वह किस प्रकार अर्थपूर्ण बना सके? यही प्रश्न है, जिसे एक शब्द में 'आधुनिक बोध' कहा जाता है।" (आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, पृ. 24)।

उसी कालावधि में धर्मवीर भारती ने अस्तित्ववाद के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी निर्णय शक्ति को केंद्र में रखते हुए 'मानव मूल्य और साहित्य' में लिखा--- "वे समस्त सिद्धांत, जो मानव-नियति को पूर्व निर्धारित मानते हैं, मनुष्य से विकल्प की स्वतंत्रता और संकल्प की गरिमा छीन लेते हैं, फिर मनुष्य के अपने निर्णय का कोई महत्व नहीं रह जाता, अपने विवेकपूर्ण आचरण द्वारा जिस अंश तक उस नियति का साक्षात्कार करते हैं, उसी से मानव नियति सार्थक होती है, इसलिए प्रगति की जो धारणा पिछली दो-तीन शताब्दियों में विकसित हुई है, वह आज के संदर्भ में सार्थक नहीं हो सकती...।" (पृ. 36)।

सन् 1969 में रामविलास शर्मा ने अपना प्रसिद्ध 'अस्तित्ववाद और नई कविता' शीर्षक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने प्रगतिशील दृष्टि से अस्तित्ववादी दार्शनिकों का पुनर्मंथन किया और अस्तित्ववाद की एक विसंगति की ओर ध्यान खींच कर हिंदी आलोचना को सावधान करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा--- "अस्तित्ववाद में एक तीव्र विसंगति है। वह केवल आत्मगत सत्य को स्वीकार करता है; दूसरी ओर वह मूल्यों की बात करता है, जो स्वभावत: समाजगत हैं। तर्कसंगत विचारक या तो मूल्यों को समाजगत मान कर मार्क्सवाद की ओर बढ़ेगा, जैसा सार्त्र ने किया या वह उन्हें पूर्ण स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप से आत्मगत मान कर मूल्यहीनता की ओर बढ़ेगा, जैसा कि ब्रिटेन, अमरीका और भारत के बहुत से पराजयवादी 'विद्रोही' कर रहे हैं।" (अस्तित्ववाद और नई कविता,पृ.97)।

इसी प्रकार सन् 1971 में नरेंद्रदेव वर्मा ने भी प्रमुख अस्तित्ववादी चिंतकों का संक्षिप्त मूल्यांकन करते हुए आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान पुस्तक में अपने 'अस्तित्ववाद' शीर्षक लेख में पुन: हिंदी आलोचना को ध्यान में रखते हुए कहा--- "मूलत: विचारणीय प्रश्न यह है कि जब अस्तित्ववादी विवेचना व्यक्ति को कार्यों के चुनाव की, व्यक्तित्व के निर्माण की और नैतिक-अनैतिक पथ के निर्वाचन की पूरी सुविधा प्रदान करती है, तब अस्तित्ववादी विचारक अपने साहित्य में नितांत मूल्यचेतना हीन और नैतिक भावना से शून्य व्यक्ति का ही चित्रण क्यों करते हैं?" (पृ. 31)।

ऐतिहासिक कारणों से हिंदी आलोचना में अस्तित्ववादी विवेचनाओं पर केंद्रित मूल्यांकन की कोई स्वतंत्र धारा विकसित नहीं हो सकी। अस्तित्ववादी चिंतन के व्यापक चर्चा के केंद्र में आने और साहित्य में उसके शोर का काल हिंदी में प्रयोगवाद और नई कविता तथा कथा-साहित्य में नवीन भावबोध के प्रवेश का काल है। इसे कामायनी और गोदान के बाद की हिंदी की नई बौद्धिक-चेतना का काल भी कहा जा सकता है। अस्तित्ववाद के संदर्भ में रामविलास शर्मा ने संकेत किया है कि "हिंदी के बुद्धिजीवियों ने सार्त्र के अस्तित्ववाद को तब अपनाना शुरु किया, जब वह स्वयं उसे छोड़ रहे थे।" (अस्तित्ववादौर नई कविता, पृ. 104)। यह हिंदी के बौद्धिक-संकट पर एक सटीक टिप्पणी है, जो यह भी संकेत करती है कि क्यों हिंदी आलोचना साहित्य के अस्तित्ववादी मूल्यांकन का कोई निर्धारित मार्ग तैयार नहीं कर सकी।

बोध प्रश्न

- हिंदी आलोचना को अस्तित्ववाद से पहले पहल किसने परिचित कराया ?

15.3.7.2. सृजनात्मक हिंदी साहित्य

हिंदी के सृजनात्मक साहित्य में कविता, कथा और नाटक साहित्य पर अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाई देता है। अमरनाथ शर्मा ने अपने ग्रंथ 'हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली' में कहा है कि "हिंदी की नई कविता में अस्तित्ववाद का गहरा प्रभाव है। धर्मवीर भारती, दुष्यंत कुमार, भारतभूषण अग्रवाल, कुंवरनारायण, अज्ञेय आदि कवियों में अनास्था, अस्तित्वाबोध, मृत्युबोध, वैयक्तिक स्वच्छंदता, पीड़ा, निराशा, उन्मुक्त भोग आदि अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों की अनुगूंज पाई जाती है।" (पृ. 48)। कवियों की इस सूची में गिरिजाकुमार माथुर, राजकमल चौधरी, श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, शकुंत माथुर, जगदीश चतुर्वेदी आदि के नाम भी जोड़ सकते हैं। तांबे की कीड़े (भुवनेश्वर) और हिंदी के अन्य असंगत नाटक, अंधायुग (धर्मवीर भारती) गीति-नाट्य, अपने-अपने अजनबी (अज्ञेय), मछली मरी हुई (राजकमल चौधरी) और मुझे चांद चाहिए (सुरेंद्र वर्मा) उपन्यास, आत्मजयी (कुंवरनारायण), मुक्ति प्रसंग (राजकमल चौधरी) और मगध (श्रीकांत वर्मा) आदि काव्य-ग्रंथ हिंदी साहित्य पर अस्तित्ववाद के प्रभाव के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। हिंदी आलोचना के साथ ही हिंदी के सृजनात्मक साहित्य के बारे में भी यह प्रश्न अनुत्तरित ही है कि क्या हिंदी के कवि, कथाकार और नाटककार अस्तित्ववाद की नकारात्मक धारणाओं के पीछे ही अधिक भागते रहे अथवा उन्होंने व्यक्ति की स्वाधीनता, आंतरिकता और स्व-निर्णय के अधिकार के लिए संघर्ष को भी महत्व दिया?

15.4 : पाठ सार

अस्तित्ववाद के विकास के कारणों में नियतिवाद और हीगल के भाववाद की प्रतिक्रिया को निर्णायक माना जाता है, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी जड़ें मध्यकालीन यूरोप की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों तथा ईसाइयत के तत्कालीन प्रमाणवाद की जमीन में हैं। किर्केगार्द, शॉपेनहावर, दॉस्तोवस्की, वर्दिएफ, यास्पर्स, मार्सल आदि दार्शनिकों और सार्त्र, काफ्का, कामू आदि विचारक लेखकों के चिंतन के निष्कर्षों ने अस्तित्ववाद की मूल धारणाओं और साहित्यिक व कला संबंधी मूल्यों का निर्धारण किया। अस्तित्व पहले है, परिभाषा बाद में, अस्तित्व ईश्वर अथवा किसी बाह्य शक्ति के अधीन नहीं है और न वे उसके निर्माता हैं, व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता, निर्णय और चुनाव की स्वाधीनता तथा आंतरिकता के बल पर अपने निर्माण के लिए स्वयं स्वयं उत्तरदाई है, सामाजिक और नैतिक मान्यताएँ व्यक्ति के अस्तित्व को नियंत्रित करती हैं, अत: वे निरर्थक हैं, संसार अनिवार्यत: बुरा है, इसलिए व्यक्ति की आंतरिकता ही सही है, वेदना और पीड़ा सत्यानुभूति के मुख्य आधार-

कारण हैं आदि अस्तित्ववाद को स्पष्ट करने वाली प्रमुख धारणाएँ हैं। स्वतंत्रता, स्व-निर्णय, बौद्धिक-चेतना, निजी एकांतिकता, अस्वीकृति, परित्याग, अजनबीपन, निरर्थकता, अमुखर उदासी, गहरा मौन, असंगति, मृत्यु, पीड़ा, उबकाई, भय, दुख आदि अस्तित्ववाद की शब्दावली के मुख्य अंग हैं और इनका प्रयोग साहित्य में बहुतायत से किया जाता है। पहले और दूसरे महायुद्ध ने अस्तित्ववाद की धारणाओं और उसकी शब्दावली को वैश्विक चिंतन एवं साहित्य व अन्य कलाओं के केंद्र में स्थापित किया। छायावादोत्तर हिंदी आलोचना और रचनात्मक साहित्य, दोनों पर ही अस्तित्ववाद का प्रभाव पड़ा, किंतु जिस प्रकार केवल नीत्शे और सार्त्र का अतिशय अनुकरण किया गया, उसने हिंदी में अस्तित्ववाद की स्थिति को विवाद का विषय बनाया।

15.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

प्रस्तुत पाठ में विद्यार्थियों के अधिगम स्तर को समृद्ध बनाने के लिए---

1. अस्तित्ववाद की ऐतिहासिक और वैचारिक पृष्ठ्भूमि को विवेचित किया गया है और उसके निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं।
2. प्रमुख अस्तित्ववादी दार्शनिकों के उस चिंतन का सार प्रस्तुत किया गया है, जो अस्तित्ववाद के मूल स्वरूप को समझने में सहायक है।
3. अस्तित्ववाद की मुख्य धारणाओं और साहित्य व कला को प्रभावित करने वाली मान्यताओं का विवेचन किया गया है, जो साहित्यिक और कलात्मक समझ के निर्माण में सहायक है।
4. अस्तित्ववाद से संबंध रखने वाले मुख्य शब्दों को मूल आठ का अंग बना कर प्रस्तुत किया गया है और उनमें से कुछ कठिन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी की गई है।
5. हिंदी साहित्य में अस्तित्ववाद की उपस्थिति पर समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

15.6 : शब्द संपदा

ज्ञान = जानकारी, विषयों और वस्तुओं का बोध। तर्क= किसी बात या विचार के समर्थन में दी गई युक्ति अथवा दलील। प्रमाणवाद= मूलत: ईसाई धर्म से संबंधित पारिभाषिक शब्द, जिसका अर्थ है, बाइबल को ही अंतिम प्रमाण अथवा आधार मानना। एकाधिकार= पूरी तरह अधिकार, पूर्ण प्रभुत्व। एकाधिकारवाद= वस्तु अथवा व्यवस्था को पूरी तरह अधिकार में लेने की विचारधारा। स्वतंत्रता= जीवन-दशा, इच्छा-शक्ति और निर्णय-शक्ति पर किसी अन्य का अधिकार न होना। विराट= बड़ा, विशाल, विस्तृत। क्षुद्र= हीन, छोटा, निम्न स्तर का। कारण-कार्य संबंध= पहले कारण और उसके आधार पर बाद में कार्य होना, बिना कारण के कार्य न

होना। नियति= एक दार्शनिक शब्द, जिसके अनुसार पूर्व परिस्थितियों के कारण व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाली घटनाएँ भी पूर्व निर्धारित होती हैं। अजनबीपन= अनजान और अपरिचित होने की स्थिति से उत्पन्न भाव। असंगति= बेमेल होने का भाव, अनुपयुक्तता। अवतरण= प्रादुर्भाव, अवतार लेना, नीचे उतरना। चेतना= किसी वस्तु, स्थिति, विचार आदि को पूरी तरह से जानने की ज्ञानमूलक शक्ति, चैतन्य होने का भाव। जिजीविषा= जीने की आंतरिक इच्छा-शक्ति। नैतिकता= समाज और संस्कृति द्वारा स्वीकृत मर्यादाओं के पालन का भाव। अहं= मैं, वैयक्तिक सत्ता। त्रास= भय, डर। विच्छिन्न= अलग होना, संबंध टूट जाना।

15,7 : परीक्षार्थ संभावित प्रश्न

खंड – (अ)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. बौद्धिकता, वैज्ञानिकता और तार्किकता के उदय से संबंधित घटनाएँ कौन-सी थीं और उनका क्या परिणाम हुआ?
2. नियतिवाद की मुख्य मान्यताएँ समझाइए।
3. महत मानव और नव-मुक्त मानव की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
4. सार्त्र के अस्तित्व और स्वतंत्रता संबंधी विचार की व्याख्या कीजिए।
5. 'सृजनात्मक हिंदी साहित्य में अस्तित्ववाद' विषय पर अपने विचार लिखिए।

खंड – (ब)

लघूत्तरीय प्रश्न

1. मध्यकालीन यूरोप को कौन नियंत्रित करते थे?
2. बाइबल का जन-भाषा में अनुवाद चर्च की एकाधिकारवादी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह क्यों था?
3. नीत्शे ने ईश्वर के विषय में क्या कहा था?
4. मार्टिन हाइडेगर ने क्यों कहा था कि 'यह युग दुहरे 'नास्तिभाव' से जूझ रहा है'?
5. आप हिंदी आलोचना में अस्तित्ववाद को किस रूप में देखते हैं?

खंड – (स)

I. सही विकल्प चुनिए

1. ज्ञान, तर्क और बौद्धिकता की दृष्टि से तत्कालीन यूरोप को कहा जाता है---

(क) धर्म प्रधान यूरोप (ख) अंधकार युगीन यूरोप (ग) अंधविश्वासी यूरोप

2. किर्केगार्द के अनुसार सच्चा ज्ञान वही है, जो---

(क) अस्तित्व के बारे में हो अथवा उससे संबंधित हो।

(ख) जो अस्तित्व के बारे में हो, किंतु उससे संबंधित न हो।

(ग) अस्तित्व से किसी प्रकार संबंधित न हो।

3. भाववाद पदार्थ के स्थान पर---

(क) सारभूत को महत्व देता है। (ख) अस्तित्व को महत्व देता है।

(ग) विचार को महत्व देता है।

4. शॉपेनहावर प्रभावित थे---

(क) वेद, जैन धर्म और ताओवाद से।

(ख) भारतीय उपनिषद, बौद्ध धर्म और ताओवाद से।

(ग) भारतीय उपनिषद, बौद्ध धर्म और बाइबल से।

5. गेब्रिएल मार्सल के अनुसार शरीर और अस्तित्व के विच्छिन्न हो चुके संबंध की ओर लौटना---

(क) आवश्यक है। (ख) आवश्यक नहीं है। (ग़) अनावश्यक है।

II. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

1. मध्यकालीन यूरोप को.....कहा जाता था।

(इंग्लिस्तान/क्रिस्तानिस्तान)

2. प्रकृति ही.....है और व्यक्ति ही अस्तित्व युक्त है।

(सारभूत/वास्तविक)

3. हिंदी की नई कविता में अस्तित्ववाद का.....प्रभाव है।

(उथला/गहरा)

3. अस्तित्ववादियों ने शक्ति की इच्छा को मनोवैज्ञानिक, जैविक और..... संदर्भों में व्याख्यायित किया है।

III. सुमेल कीजिए।

(1) रोजर बेकन	(अ) 12010-1293
(2) कॉपरनिकस	(आ) 1473-1543
(3) लूथर	(इ) 1483-1546
(4) गैलिलियो	(ई) 1564-1642

15.8 : पठनीय पुस्तकें

1. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, शिवप्रसाद सिंह
2. नई कविता और अस्तित्ववाद, रामविलास शर्मा
3. हिंदी आलोचना का विकास, मधुरेश
4. आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान, नरेंद्रदेव वर्मा
5. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, अमरनाथ

इकाई 16: मार्क्सवाद

इकाई की रूपरेखा

16.1. प्रस्तावना

16.2. उद्देश्य

16.3. मूल पाठ : मार्क्सवाद

16.3.1. हीगल और मार्क्स

16.3.2. मार्क्स और भौतिकवादी चिंतन परंपरा

16.3.3. मार्क्सवाद की दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली

16.3.4. मार्क्सवाद की मूल अवधारणाएँ

16.3.5. मार्क्सवाद की साहित्य और कला संबंधी मान्यताएँ

16.3.6. मार्क्सवादी समझ के अभाव का साहित्य और कला पर प्रभाव

16.4. पाठ सार

16.5. पाठ की उपलब्धियाँ

16.6. शब्द संपदा

16.7. परीक्षार्थ प्रश्न

16.8 पठनीय पुस्तकें

16.1 : प्रस्तावना

श्रम, सर्वहारा, समाजवाद, साम्यवाद, शोषण-मुक्त वर्गहीन साम्यवादी समाज, जनता का साहित्य जैसी अवधारणाओं से विश्व-व्यवस्था को प्रभावित करने वाले भौतिकवादी दार्शनिक कार्ल मार्क्स (1813-1883) का जन्म त्रिएर, प्रशिया (जर्मनी के वर्तमान राइन प्रांत) में हुआ था। बर्लिन विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करते समय वे अपने वरिष्ठ साथी लुडविग फायरबाख और ब्रूनो बावेर के साथ हीगल के दर्शन के संपर्क में आए थे। वहीं फायरबाख की पुस्तक, 'ईसाई धर्म का सार' पढ़ कर मार्क्स भौतिकवादी चिंतन की ओर आकर्षित हुए थे। उसी काल में मार्क्स ने एडम स्मिथ और रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों एवं संत साइमन जैसे समाज-चिंतकों के विचारों से परिचित होकर अपने आर्थिक और सामाजिक चिंतन का विकास किया। अपने क्रांतिकारी स्वभाव और पूंजीवाद की कटु सचाइयों से टकराने की प्रतिबद्धता के चलते मार्क्स को एक देश से दूसरे देश भागते रहना पड़ा। अपनी जीवन-यात्रा में वे जर्मनी के अतिरिक्त फ्रांस, बेल्जियम और इंग्लैंड में रहे। अंत में वे सन् 1849 में लंदन आ गए थे, जहाँ उनका शेष जीवन व्यतीत हुआ। पेरिस प्रवास-काल में ही उनकी मित्रता एंगेल्स से हुई थी, जो आजीवन

चलती रही। सन् 1847 में दोनों मित्र 'कम्युनिस्ट लीग' में शामिल हुए थे। सन् 1864 में मार्क्स का जुड़ाव 'अंतरराष्ट्रीय श्रमिक संघ' से हो गया था।

कार्ल मार्क्स का सर्वाधिक चर्चित ग्रंथ 'पूंजी' (जर्मन भाषा में 'दास कैपितल' और अंग्रेजी में 'कैपिटल') है। यह तीन खंडों में लिखा गया। इसके पहले खंड का प्रकाशन सन् 1867 में हुआ, जबकि दूसरे और तीसरे खंड का प्रकाशन मार्क्स की मृत्यु के बाद सन् 1885 और 1894 में उनके मित्र एंगेल्स के प्रयास से हुआ। पूंजी के ठीक पहले मार्क्स की पुस्तक 'ए कंट्रीब्युशन टु द क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' छपी थी। उन्होंने 'लुई नेपोलियन की अठारहवीं ब्रूमेर' (1851) और 'फ्रांस में गृहयुद्ध' (1871) पुस्तिकाएँ भी लिखी थीं। मार्क्स और एंगेल्स को उनकी रचना 'द कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' (1848) के लिए भी जाना जाता है। यह कम्युनिस्ट लीग का घोषणापत्र है, जिसे उसकी दूसरी कांग्रेस में लिए गए निर्णय के अनुसार इन दोनों ने मिल कर तैयार किया था। इसी में मार्क्स का प्रसिद्ध वाक्य 'सभी देशों के सर्वहारा एक हो जाओ' प्रकाश में आया था।

'मार्क्सवादी दर्शन' का नाम ही 'भौतिकवादी दर्शन' और 'वैज्ञानिक समाजवाद' भी है, जिसकी मूल अवधारणाएँ कार्ल मार्क्स की हैं, जबकि उनकी अधिकांश व्याख्याएँ एंगेल्स द्वारा की गई हैं। इन व्याख्याओं में लेनिन द्वारा भी अनेक बातें जोड़ी गई हैं। मार्क्सवादी दर्शन को अब तक के सबसे क्रांतिकारी और विवादग्रस्त दर्शन के रूप में जाना गया।

16.2 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप -

- कार्ल मार्क्स का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- मार्क्सवादी दर्शन को गहराई से समझने में सहायता करने के लिए उसकी दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली का अभिप्राय समझ सकेंगे।
- मार्क्सवाद की मूल अवधारणाओं के केंद्रीय तत्वों को समझ सकेंगे।
- मार्क्सवाद की साहित्य और कला संबंधी दृष्टि की व्याख्या के माध्यम से साहित्य और कला के मूल्यांकन की प्रणाली से अवगत हो सकेंगे।
- मार्क्सवाद को रूढ़िग्रस्त बनाने के प्रयासों के साहित्य के मूल्यांकन पर पड़ने वाले प्रभावों के प्रति सजगता प्राप्त कर सकेंगे।

16.3 : मूल पाठ : मार्क्सवाद

16.3.1. हीगल और मार्क्स

16.3.1.1. हीगल का द्वंद्ववाद सिद्धांत

हीगल (1770-1831) ने अपनी पुस्तक 'साइंस ऑफ लॉजिक' (1816) में 'द्वंद्ववाद सिद्धांत' प्रस्तुत किया है। वस्तुत: द्वंद्ववाद का मूल स्रोत यूनानी भाषा का डायलेगो (Dialego) शब्द है, जिसका अर्थ होता है, वाद-विवाद अथवा तर्क-वितर्क्। इसी से अंग्रेजी भाषा का डायलेक्टिक शब्द बना है। इसे हिंदी में द्वंद्ववाद कहा गया। प्राचीन यूनान में विचार-वितर्क के संदर्भ में यह माना जाता था कि किसी के विचार के भीतर ही प्रति विचार भी छिपा होता है, जिसे पहचान कर निष्कर्ष की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। द्वंद्ववादी पद्धति का पहला प्रयोग सुकरात ने किया था, उसके बाद प्लेटो ने। हीगल ने इसे प्लेटो से ग्रहण करके एक नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

हीगल ने विकास की प्रक्रिया के तीन तत्व निर्धारित किए हैं--- वाद (या पक्ष/थीसिस), प्रतिवाद (या प्रतिपक्ष/एंटीथीसिस) और समन्वय (या संश्लेष/सिंथेसिस)। विचार, वस्तु या व्यवस्था के भीतर वाद और प्रतिवाद एक साथ विद्यमान होते हैं और उनके बीच अनिवार्य रूप से द्वंद्व या संघर्ष होता है। इस स्थिति को 'विपरीतों की एकता और संघर्ष की स्थिति' कहते हैं। संघर्ष की प्रक्रिया में वाद और प्रतिवाद के पारस्परिक विरोधों का परिहार हो जाता है, जिससे समन्वय की स्थिति प्राप्त होती है। यह स्थिति पूर्व की अपेक्षा उच्चतर होती है, जो विकास की स्थिति है। किंतु इस विकास के भीतर भी वाद और प्रतिवाद तत्व अनिवार्य रूप से होते हैं। इस कारण संघर्ष और समन्वय की प्रक्रिया पुन: संपन्न होती है, जो विकास की निरंतरता का आधार है।

बोध प्रश्न –

- हीगल ने विकास प्रक्रिया के कौन कौन से तत्व निर्धारित किए ?

16.3.1.2. मार्क्स ने हीगल के द्वंद्ववाद को पैरों के बल खड़ा किया

हीगल के द्वंद्वात्मक सिद्धांत का केंद्रीय सूत्र यह है कि पदार्थ और प्रत्यय (विचार/आइडिया) में प्रत्यय मुख्य है तथा वही सृष्टि का नियामक है। प्रत्यय या विचार और सभी जड़-चेतन वस्तुओं के भीतर परस्पर विरोधी तत्व या धर्म विद्यमान होते हैं तथा इनके बीच संघर्ष के माध्यम से ही विकास की प्रक्रिया संपन्न होती है। हीगल के अनुसार विकास का अर्थ है, परम प्रत्यय की स्थिति को प्राप्त करना, अर्थात विश्व का विकास भौतिक या जैविक न होकर आध्यात्मिक होता है। इसी कारण विद्वानों ने उसके द्वंद्व सिद्धांत को 'द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद' भी कहा है।

हीगल ने विचार (प्रत्यय/आइडिया) के विकास के तीन पक्षों में विचार को 'वाद' (या पक्ष) कहा है और माना है कि अभौतिक होने के कारण परम-सत्ता विचार के द्वारा पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हो सकती, अत: उसके भीतर 'प्रतिवाद' (या प्रतिपक्ष) के रूप में 'प्रकृति' प्रकट होती है और पारस्परिक विरोधों का परिहार होने पर 'समन्वय' (या संश्लेष) के रूप में 'मन' की अवस्था प्राप्त होती है, जो विचार और प्रकृति से उन्नत होने के कारण विकास की अवस्था है। इसके पश्चात मन (जिसे हीगल ने 'विषयीभूत मन' कहा है) पुन: वाद बन जाता है, जबकि प्रतिवाद के रूप में 'विषयभूत मन' सामने आता है और अंत में उन्नत अवस्था के रूप में 'निरपेक्ष मन' अस्तित्व में आता है। यह प्रक्रिया 'परम प्रत्यय' की प्राप्ति तक चलती रहती है।

मार्क्स ने इस सिद्धांत का गहराई से अध्ययन-विश्लेषण करके पाया कि हीगल अपनी एक महत्वपूर्ण देन--- कि विकास की प्रक्रिया के मूल में अनिवार्य द्वंद्वात्मकता है--- के बावजूद एक ऐसे रहस्यवाद का शिकार है, जो जगत की वस्तुगत सत्ता, मानव-इतिहास के विकास में मनुष्य की भूमिका और अनुभवात्मक वैज्ञानिक ज्ञान की पूर्णत: उपेक्षा करता है। इसी कारण वह एक विचार भर है तथा अपने धार्मिक रहस्यवाद के माध्यम से केवल भय पैदा करता है। विकास की वास्तविक धारणा के स्तर पर हीगल का सिद्धांत सिर के बल खड़ा है।

मार्क्स ने अपने 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' सिद्धांत के द्वारा हीगल के सिद्धांत को पैरों के बल खड़ा किया। इसमें फ्रेडरिक एंगेल्स की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान पुस्तक में नरेंद्रदेव वर्मा ने लिखा है कि "मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद हीगल के द्वंद्व-न्याय पर आधारित है, किंतु इन दोनों विचारकों के निष्कर्षों में तलस्पर्शी असमानताएँ हैं। मार्क्स ने हीगल के द्वंद्व-न्याय को वैचारिक धरातल से निकाल कर व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया और समूचे मानव-इतिहास की भौतिक-आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की।" (1971, पृ. 51)।

बोध प्रश्न -

- मार्क्स के अनुसार हीगल के सिद्धांत की सीमा क्या है ?

16.3.2. मार्क्स और भौतिकवादी चिंतन परंपरा

16.3.2.1. मार्क्स पूर्व भौतिकवादी चिंतन

कार्ल मार्क्स ने जिस भौतिकवादी दर्शन को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया, उसके महत्वपूर्ण सूत्र मार्क्स के पूर्वर्ती विचारकों के चिंतन में विद्यमान हैं। इनमें सबसे पहले यूनानी विचारक थेल्स (ई.पू.625-540) का नाम आता है। उन्होंने मिलेटस नामक नगर में यूनान के प्रथम दार्शनिक केंद्र 'मिलेटस स्कूल' की स्थापना की थी। थेल्स ने जीवन और जगत की प्रकृतिवादी व्याख्या करते हुए यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि जल परम तत्व है और वही ब्रह्मांड एवं समस्त प्राणियों के के जीवन का नियामक है। थेल्स की यह भी मान्यता थी कि प्रकृति

सजीव, गतिशील, क्रियात्मक और परिवर्तनात्मक है। थेल्स के पश्चात भौतिकवादी चिंतन को अनेक दार्शनिकों ने आगे बढ़ाया। हेराक्लाइटस (ई.पू. 535-480) ने अपने दार्शनिक विवेचन में यह स्थापित किया कि 'प्रकृति की सभी घटनाएँ विरोधों और विरोधाभासों का परिणाम हैं' तथा 'जीवन और जगत की अभिव्यक्ति विरोधों के बीच अंतर्निहित संबंधों के आधार पर होती है।' हेराक्लाइटस की यह स्थापना प्रसिद्ध है कि 'परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ भी स्थाई नहीं है।' डेमाक्राइटस (ई.पू. 460-370) ने माना कि 'परमाणु शाश्वत हैं और उनकी गति में निरंतरता है। परमाणुओं की चतुर्दिक गति के कारण जो संघर्ष हुआ, उसने एक भँवर-गति में उन्हें निकट लाने का कार्य किया तथा उसी के परिणाम स्वरूप जगत का निर्माण संभव हुआ।' ल्युक्रेशियस (ई.पू. 99-55) ने स्थापित किया कि 'प्रकृति का विकास किसी अतिप्राकृतिक अथवा दैवीय शक्ति के अधीन नहीं होता, बल्कि उसी के भीतर कार्यरत नियमों के द्वारा होता है।' वे यह भी मानते हे कि 'देवताओं का निर्माता मनुष्य ही है और कोई नहीं।' जियोर्डानो ब्रूनो (1548-1600 ई.) ने हेराक्लाइटस के ही समान यह माना कि जगत की मूल प्रकृति निरंतर गतिशीलता और परिवर्तनशीलता है।

बोध प्रश्न -

- मार्क –पूर्व भौतिकवादी विचारकों के नाम बाताइए.

16.3.2.2. मार्क्स के समकालीन भौतिकवादी चिंतक

कार्ल मार्क्स के समकालीन दार्शनिक-विचारक लुडविग फायरबाख (1804-1872 ई.) पश्चिमी जगत में हीगल के दर्शन के सबसे महत्वपूर्ण अध्येता थे। वे शिक्षा-काल में मार्क्स के भी अभिन्न साथी रहे थे और मार्क्स ने भौतिकवाद के संबंध में उनसे काफी प्रेरणा ली थी। फायरबाख ने हीगल के 'परम प्रत्यय' की धारणा को पूर्णत; अस्वीकार किया था और यह प्रतिपादित किया था कि 'प्रकृति, पदार्थ और पदार्थ-जगत की स्वतंत्र वस्तुगत भौतिक सत्ता है और वह निरंतर परिवर्तनशील है।' फायरबाख ने अपनी पुस्तक 'दास वेसेन देस क्रिस्तेंतम्स' (1841) में धर्म और ईश्वर के विषय में अनेक बातें कही हैं। उन्होंने ईसाई धर्म के ईश्वर को 'एक भ्रम' घोषित किया था और कहा था कि 'ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व से स्वतंत्र नहीं है।' धर्म को फायरबाख ने 'मानव-मन का सपना', 'मनुष्य की चेतना में सीमित' और 'मनुष्य के अपने सार को आदर्श शब्दों में प्रस्तुत करने का साधन' माना था। इस चिंतन के कारण फायरबाख को 'नास्तिकता और मानवशास्त्रीय भौतिकवाद का अधिवक्ता' कहा गया था।

यह अलग बात है कि स्वयं फायरबाख ने कभी आने को नास्तिक नहीं कहा तथा धर्म के संबंध में भी उनके विचारों में अंतर्विरोध पाया जाता है। कारण यह कि ईश्वर को भ्रम और धर्म

को मानव-मन का सपना प्रतिपादित करने वाले फायरबाख यह भी कहते हैं कि 'धर्म मनुष्य को एक सूत्र में पिरोने वाला है, अत: उसका उन्मूलन नहीं, बल्कि परिष्कार किया जाना चाहिए।' इस प्रकार फायरबाख भाववाद और भौतिकवाद के बीच झूलते दिखाई देते हैं; यही कारण है कि एंगेल्स ने उन्हें भौतिकवादी न मान कर 'अधिभौतिकवादी' (मेटाफिजिकल) माना था।

मार्क्स के समकालीन लेखक और चिंतक बिसेरियों बेलिंस्की (1811-1848 ई.) का भी भौतिकवाद के दर्शन को आगे बढ़ाने में पर्याप्त योगदान है। बेलिंस्की का प्रसिद्ध कथन है, 'मेरे लिए चिंतन करना, अनुभव करना, समझना और पीड़ित होना एक समान है।' बेलिंस्की ने निरंकुशता और धर्मतंत्र का विरोध किया है तथा कारण और ज्ञान पर विशेष बल दिया है। वे सामाजिक रूप से जागरूक साहित्य की वकालत करते थे।

बोध प्रश्न –

- मार्क्स के समकालीन भौतिकवादी विचारकों के नाम बताइए.

16.3.2.3. मार्क्स का भौतिकवादी दर्शन

कार्ल मार्क्स ने भौतिकवादी चिंतन की पूर्ववर्ती और समकालीन परंपरा का गहन अध्ययन करके उसके अंतर्विरोधों का परिहार करते हुए अपने भौतिकवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। मार्क्सवाद के गंभीर अध्येता डॉ. शिवकुमार मिश्र ने अपने ग्रंथ 'मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत' में मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन का विवेचन करते हुए निम्नांकित महत्वपूर्ण बातें कही हैं---

- "भौतिकवादी दर्शन, भाववाद की भाँति, संसार तथा प्रकृति के अंतिम तथा शाश्वत सत्य को पा लेने का दावा नहीं करता।

- वह मनुष्य को सावधान करता है कि 'अंतिम या शाश्वत सत्य' जैसी बात महज एक असत्य बात है, क्योंकि प्रयोगों तथा वैज्ञानिक खोजबीन के बाद भी ऐसा बहुत कुछ रह गया है, और रह जाएगा, जो आगे भी अन्वेषण और अनुसंधान की मांग करेगा।

- भौतिकवाद मनुष्य को संसार की प्रकृति के बारे में किसी निश्चित सिद्धांत को अपनाने का आग्रह नहीं करता, उसका आग्रह केवल इतना है कि जिंदगी जिन प्रश्नों को हमारे सामने पेश करती है, उनके प्रति एक निश्चित रुख अख्तियार किया जाए।

- भौतिकवादी दर्शन मनुष्य के समक्ष इस तथ्य को उजागर करता है कि वास्तविक सुख-शांति, जिसे हर मनुष्य पाना चाहता है, इसी लोक की वस्तु है, और उसे इसी लोक में सार्थक मानवी प्रयत्नों द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है।

- दार्शनिक भौतिकवाद यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य धरती पर जन्मा कोई अभिशप्त प्राणी न होकर प्रकृति की सर्वोत्तम कृति है। उसमें इतनी मेधा तथा क्षमता है कि वह प्रकृति की

नाना शक्तियों को अपने वश में करते हुए, अपनी सुख-समृद्धि के लिए उनका इस्तेमाल करे, एक ऐसी समाज-व्यवस्था को जन्म दे, जिसके अंतर्गत वह आत्म-सम्मान के साथ जी सके।"

(1973, पृ. 37-58 से चयनित अंश)

बोध प्रश्न –

- भौतिक वादी दर्शन मनुष्य को किस बारे में सावधान करता है ?

16.3.3. मार्क्सवाद की दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली

मार्क्सवाद की मूल अवधारणाओं को समझने के लिए यह आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है कि पहले उसकी दार्शनिक-पारिभाषिक शब्दावली से परिचित हुआ जाए---

पदार्थ : ब्रह्मांड की समस्त वस्तुगत सत्ता (ग्रह, नक्षत्र और सौर-मंडल में अन्य जो कुछ भी है) पदार्थ, भूत अथवा मैटर कहलाती है। पदार्थ के भीतर गतिशील है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और वह विकास के स्वतंत्र नियमों से संचालित होता है।

जगत : जगत एक वस्तुगत अस्तित्व है। उसके अतिरिक्त कोई वायवी जगत नहीं है। वस्तु जगत निरंतर बना रहता है; किंतु निरंतर परिवर्तनशील भी है। एंगेल्स ने कहा है कि परिवर्तन के कारण जगत के जो विविध रूप प्रकट होते हैं, उनकी एकता ही वस्तु जगत को बनाए रखती है।

चेतना : चेतना कोई स्वतंत्र अस्तित्व न होकर पदार्थ का ही एक विशेष गुण है। मस्तिष्क पदार्थ का एक विशेष रूप है और चेतना उसकी प्रक्रियात्मक प्रवृत्ति है।

सामाजिक-चेतना : राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, वैचारिक, समाज वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक, दार्शनिक आदि परिस्थितियाँ और परंपराएँ किसी समाज की सामाजिक-चेतना का निर्माण करती हैं।

पदार्थ और गति : गति पदार्थ का स्वाभाविक गुण है। वह पदार्थ के अस्तित्व का मूल आधार है। गति शाश्वत है। गति के कारण ही परिवर्तन और उसके परिणामस्वरूप विकास संभव होता है।

पदार्थ और चेतना : एंगेल्स की मान्यता है कि विचार या चेतना मानव मस्तिष्क की उपज है और मनुष्य प्रकृति की उपज, अत: तार्किक आधार पर चेतना प्रकृति की उपज है, उससे स्वतंत्र या भिन्न नहीं। फायरबाख का कहना है कि पदार्थ मन की उपज नहीं है, बल्कि सोचने-समझने की क्रिया और मन ही प्रकृति की उपज है। निष्कर्ष यह, कि पदार्थ पहले है, चेतना बाद में।

चेतना और अस्तित्व : चेतना अस्तित्व का निर्माण नहीं करती, बल्कि व्यक्ति का सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्माण करता है।

सत्य : मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य पुस्तक में रामविलास शर्मा ने कहा है, "मार्क्सवाद शाश्वत सत्य की धारणा को अस्वीकार करता है। वह सत्य को ऐतिहासिक विकास-क्रम में देखता है। उसे ऐतिहासिक परिस्थितियों के परे नहीं मानता।" (1984, पृ. 25)। लेनिन ने कहा है कि 'भौतिकवादी होने का अर्थ उस वस्तुगत सत्य को स्वीकार करना है, जिसे हमारी इंद्रियाँ प्रकट करती हैं।' (मैटीरियलिज्म एंड एंपीरियो क्रिटिसिज्म)। वे सत्य को सापेक्ष और निरपेक्ष के रूप में वर्गीकृत करते हैं। उनके अनुसार वैज्ञानिक की धारणाएँ ज्ञान की वृद्धि के साथ संकुचित या विस्तृत होने के कारण सापेक्ष सत्य होती हैं, जबकि निरपेक्ष सत्य सापेक्ष सत्यों के मेल से बनता है।

ज्ञान : डॉ. शिवकुमार मिश्र के अनुसार, "मार्क्सवादी द्वंद्ववाद की ज्ञान संबंधी प्रथम आधारभूत उपपत्ति यह है कि ज्ञान का आधार और उसका स्रोत यह अनंत रूपात्मक, अनंत व्यापारों वाला वस्तुजगत है। यह उपपत्ति पिछली दार्शनिक मान्यताओं से इस अर्थ में विशिष्ट है कि इसके अंतर्गत संसार की वस्तुगत सत्ता को तो स्वीकार किया ही गया है, उसे सर्वथा ज्ञेय भी माना गया है।" (मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत, पृ. 58)।

सिद्धांत और व्यवहार : मार्क्सवाद के अनुसार ज्ञान का मूल लक्ष्य व्यवहार है। ज्ञान के आधार पर निर्मित सिद्धांत और व्यवहार अन्योन्याश्रित हैं। सिद्धांत विहीन व्यवहार और व्यवहार विहीन सिद्धांत अकल्पनीय है।

विकास : मार्क्सवाद की मान्यता है कि विकास गति के आधार पर होने वाले उन परिवर्तनों से पहचाना जाता है, जिनकी दिशा पूर्व स्थिति की अपेक्षा उच्च स्थिति की ओर होती है। सामान्यत: विकास की प्रक्रिया में पुरातन के निषेध और नवीन की प्रतिष्ठा को निर्णायक माना जाता है, किंतु मार्क्सवाद इस कसौटी के अंधानुकरण का पक्षधर नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन नामक ग्रंथ में अफनास्येव ने कहा है कि 'मार्क्सवाद अपने नवीन होने का दावा करने वाली प्रत्येक वस्तु अथवा स्थिति को नवीन नहीं मानता, बल्कि नवीन होने की निर्णायक कसौटी है, प्रगतिशील होना और उच्च स्थिति की ओर गति की प्रक्रिया में विकसित होना, वाद-प्रतिवाद-समन्वय के नियम के अनुसार अस्तित्व में आना।'

धर्म : मार्क्सवाद के अनुसार धर्म अफीम के समान होता है। वह मनुष्य की तर्क-शक्ति, विवेक और निर्णय-क्षमता को कुंद बनाता है तथा भाग्यवाद एवं पूर्व-जन्म का कर्म-फल जैसी धारणाओं के प्रचार द्वारा उसे शोषण व अन्याय का विरोध करने से रोकता है। मैक्सिम गोर्की ने लेनिन के बारे में लिखे अपने एक संस्मरण में लेनिन से हुई बातचीत का यह अंश प्रस्तुत किया है--- "तुम्हारी नजर में सभी लोग इतिहास द्वारा मारे हुए हैं, हैं न? परंतु हम इतिहास को

जानते हैं, और जो लोग उसके शिकार हुए हैं, उनसे कहते हैं : पूजा की वेदियों को उलट दो, मंदिरों को तोड़ डालो, देवताओं को खदेड़ कर बाहर कर दो।" (साहित्य और कला, वी. आई. लेनिन, हिंदी अनु. रमेश सिन्हा, 1980, पृ. 296)।

नैतिकता : मार्क्सवाद नैतिकता के प्रश्न को वर्ग-संघर्ष से जोड़ कर देखता है। 2 अक्तूबर, 1920 को रूसी युवक कम्युनिस्ट संघ की तीसरी अखिल रूसी कांग्रेस में लेनिन ने कहा था--- "हम ऐसी किसी नैतिकता को नहीं मानते, जो मानव-समाज तथा वर्गों से परे या अलग हो। हम कहते हैं कि ऐसी नैतिकता कोई नैतिकता नहीं होती, वह मात्र एक धोखा होती है, एक ढकोसला होती है, जमींदारों और पूंजीपतियों के फायदे के लिए मजदूरों और किसानों के दिमागों में झूठी धारणाएँ पैदा करने की कुचेष्टा होती है। हम कहते हैं कि हमारी नैतिकता पूरे तौर से सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष के हितों के अधीन है। सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष के हित ही हमारी नैतिकता के मूलाधार हैं।" (वही, पृ.171)।

साधन की पवित्रता : सर्वहारा के हित, समाजवादी और उसके बाद साम्यवादी समाज के लक्ष्य को पाने की दृष्टि से मार्क्सवाद 'साधन की पवित्रता' के परंपरागत चिंतन को स्वीकार नहीं करता। सन् 1919 में मजदूरों और लाल सेना के प्रतिनिधियों की पेत्रोगार्द सोवियत द्वारा प्रकाशित 'सोवियत सरकार की उपलब्धियाँ और कठिनाइयाँ' पुस्तिका में लेनिन का एक भाषण प्रकाशित किया गया था, जिसमें वे कहते हैं--- "अगर कोई कम्युनिस्ट कहता है कि वह ऐसी स्थिति में नहीं पड़ेगा, जिसमें उसके हाथ गंदे हो जाएँ, कि उसके हाथ तो सर्वदा स्वच्छ कम्युनिस्ट हाथ होने चाहिए, कि कम्युनिस्ट समाज का निर्माण वह स्वच्छ कम्युनिस्ट हाथों से ही करेगा और घृणित, प्रतिक्रांतिकारी पूंजीवादी सहयोगकर्ताओं की सेवाओं को तिरस्कार पूर्वक ठुकरा देगा--- तो वह महज एक लफ्फाज है--- क्योंकि उनकी सेवाओं की सहायता लिए बिना हमारा काम नहीं चल सकता।" (वही, 148)।

संस्कृति और परंपरा : रामविलास शर्मा के शब्दों में, "मार्क्सवाद के अनुसार समाज तथा संस्कृति का विकास सीधी रेखा पर, समतल भूमि पर, अबाध रूप से एक ही दिशा में नहीं होता। विकास के साथ पीछे हटने का क्रम भी देखा जाता है, सीधी रेखा और समतल भूमि के बदले असंगतियों से होकर, विरोधी तत्वों की एकता की विषय-भूमि पर भी यह विकास होता है।" (मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ. 239)। इसके आगे भी वे कहते हैं कि "मार्क्सवाद के अनुसार न ही हम परंपरा से विच्छिन्न होकर प्रगति कर सकते हैं, न उसके अनुकरण मात्र से

उसकी रक्षा कर सकते हैं, परंपरा में क्या मूल्यवान है, क्या ह्रासमान, यह समझ कर विवेक से काम लेते हुए उससे संबंध जोड़ना चाहिए।" (वही, पृ. 252)। मार्क्सवाद 'सर्वहारा संस्कृति' की अवधारणा प्रस्तुत करता है और मानता है कि सर्वहारा संस्कृति का निर्माण परंपरा के उपयोगी, जीवंत, श्रेष्ठ और विधेयात्मक तत्वों का वैज्ञानिक-दृष्टि द्वारा चयन करके और उन्हें आत्मसात करके ही होगा।

अंतर्विरोध : अंतर्विरोध वे घटक अथवा गुण हैं, जो वस्तु या व्यवस्था के भीतर संघर्ष का कारण बनते हैं और विकास की प्रक्रिया संपन्न करते हैं। मार्क्सवाद मानता है कि प्रत्येक वस्तु, घटना अथवा व्यवस्था के भीतर अंतर्विरोध अनिवार्य रूप से विद्यमान होते हैं।

वर्ग : 2 अक्तूबर, 1920 को रूसी कम्युनिस्ट संघ की तीसरी अखिल रूसी कांग्रेस में लेनिन ने 'वर्ग' के संबंध में मार्क्सवादी धारणा इन शब्दों में समझाई थी--- "आमतौर से वर्ग क्या है? वर्ग वह चीज है, जिसकी वजह से समाज के एक हिस्से को दूसरे हिस्से की मेहनत को लूटने का मौका मिलता है। समाज का एक हिस्सा अगर सारी जमीन को हथिया लेता है, तो उसमें एक 'जमींदार वर्ग' और एक 'किसान वर्ग' पैदा हो जाता है। समाज का एक हिस्सा अगर कारखानों, शेयरों (कम्पनियों के हिस्सों- अनु.) तथा पूंजी का मालिक बन जाता है और उसका दूसरा हिस्सा उक्त कारखानों में काम करता है, तो समाज में एक 'पूंजीपति वर्ग' और एक 'सर्वहारा वर्ग' पैदा हो जाता है।" (साहित्य और कला, पृ. 172)।

जन-सामान्य : मार्क्स की मान्यता है कि श्रम करने वाला वर्ग जन-सामान्य है। इसके अंतर्गत शारीरिक और बौद्धिक श्रम करने वाले लोग आते हैं।

श्रमिक/सर्वहारा : निर्धारित अवधि के लिए प्रयोग की जाने वाली श्रम-शक्ति के बदले पारस्परिक सहमति अथवा बाजार-मूल्य के आधार पर धनराशि प्राप्त करके उत्पादन-प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाने वाला व्यक्ति 'श्रमिक' कहलाता है। मार्क्स ने श्रमिक के लिए लैटिन भाषा के 'प्रोलेस' शब्द से बने 'प्रोलेतेरिएत' शब्द का प्रयोग किया है। एक समय प्रोलेतेरिएत रोमन-समाज का वह निर्धन वर्ग होता था, जो धन और कर आदि चुका कर राज्य की सेवा नहीं कर पाता था। राज्य ऐसे वर्ग की संतानों को सेना का अंग मान लेता था। इस आधार पर मार्क्स ने धन-संपत्ति तथा अन्य भौतिक साधनों से हीन वर्ग के लिए प्रोलेतेरिएत का प्रयोग किया। प्रोलेतेरिएत शब्द के लिए हिंदी में 'सर्वहारा' शब्द प्रचलित हुआ।

अतिरिक्त मूल्य : मार्क्स की मान्यता थी कि श्रमिक को उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के रूप में जो भुगतान (मजदूरी या मेहनताना) किया जाता है, वह उसकी भरपाई एक निश्चित अवधि में कर देता है। यह अवधि उसके लिए निर्धारित काम के घंटों से कम होती है। दूसरी ओर श्रमिक

को काम के लिए निर्धारित पूरे घंटों की अवधि में श्रम-शक्ति का उपयोग करके उत्पादन करते रहना पड़ता है। इस प्रक्रिया में अत्तिरिक्त श्रम के बदले अतिरिक्त उत्पादन होता है। पूंजीपति इस अतिरिक्त उत्पादन के बदले बाजार में जो मूल्य प्राप्त करता है, वही 'अतिरिक्त मूल्य' है। इस अतिरिक्त मूल्य में श्रमिक की भी हिस्सेदारी बनती है, किंतु पूंजीपति श्रमिक को कोई हिस्सा नहीं देता और पूरे अतिरिक्त मूल्य पर एकाधिकार जमा लेता है। यह उसके लाभ का मूल स्रोत है।

शोषण : उत्पादन-मूल्य तथा बिक्री-मूल्य के रूप में प्राप्त धनराशि में काफी अंतर होता है। उत्पादन में श्रमिक की मुख्य भूमिका होने के कारण बिक्री-मूल्य के रूप में प्राप्त धनराशि के इस अन्तर में श्रमिक की भी हिस्सेदारी होनी चाहिए। पूंजीपति इस न्याय-नीति को महत्व न देकर पूरे बिक्री-मूल्य को अपने पास रख लेता है। यही शोषण है।

पूंजीवाद : हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली पुस्तक में डॉ. अमरनाथ ने कहा है कि--- "पूजीवाद समाजवाद से पहले की सामाजिक-आर्थिक समाज-व्यवस्था है। यह उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व तथा उजरती श्रम के शोषण पर आधारित व्यवस्था है। पूंजीवाद पूंजीपति और श्रमिक नाम के दो प्रमुख वर्गों को जन्म देता है। इनके साथ-ही-साथ एक मध्य-वर्ग की भी स्थिति देखने को मिलती है, जो दिन-प्रतिदिन अधिक व्यापक होता जाता है।" (2012, पृ. 218)।

समाजवाद : समाजवाद उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व की अवधारणा पर आधारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है। मार्क्सवाद के अनुसार, पूंजीवाद के, अपने ही अंतर्विरोधों के कारण, विनाश की दिशा में बढ़ने और सर्वहारा क्रांति के फलस्वरूप अस्तित्व में आने वाला समाजवाद शोषक वर्गों एवं आर्थिक व सामाजिक शोषण को अस्वीकार करता है।

साम्यवाद : मार्क्सवाद मानता है कि समाजवादी समाज-व्यवस्था का अगला चरण साम्यवादी समाज-व्यवस्था होगा। साम्यवाद के अस्तित्व में आने पर वर्ग, निजी संपत्ति और राज्य-व्यवस्था का लोप तथा उत्पादन के साधनों पर जनता का अधिकार हो जाएगा। तब व्यक्ति की क्षमता के अनुसार श्रम-व्यवस्था और उसकी आवश्यकता के अनुसार संसाधन-व्यवस्था का सिद्धांत कार्य करेगा।

बोध प्रश्न-

- मार्क्सवादी शब्दावली की एक सूची बताइए.

16.3.4. मार्क्सवाद की मूल अवधारणाएँ

16.3.4.1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

द्वंद्वात्मकता एक प्रक्रिया अथवा प्रणाली है, जबकि भौतिकवाद निश्चित मान्यताओं वाला दर्शन। इन दोनों को मिला कर जो अवधारणा बनती है, वह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहलाती है। पूर्व पृष्ठों में प्रसंगानुसार द्वंद्वात्मकता एवं भौतिकवाद संबंधी चिंतन के इतिहास और मान्यताओं

की जानकारी दी जा चुकी है। यहाँ मार्क्सवादी दर्शन की एक मूल अवधारणा के रूप में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के स्वरूप को समझाने के उद्देश्य से उसके नियमों की व्याख्या की जा रही है।

16.3.4.1.1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के तीन नियम

'मार्क्सवादी दर्शन' पुस्तक में नियम की मार्क्सवादी व्याख्या करते हुए अफनास्येव ने बताया है कि 'वस्तुओं और क्रिया-व्यापारों के अपेक्षाकृत बड़े समूह के मध्य पुनरावृत्त होने व टिकाऊ बने रहने वाले तथा जो घटित होता है, उसके निश्चित क्रम व भावी स्वरूप को सूचित करने वाले अंत:संबंध नियम होते हैं।' मार्क्सवाद यह भी मानता है कि नियम वस्तु जगत की विकास-प्रक्रिया में अंतर्निहित रहते हैं। मनुष्य इन नियमों का निर्माण अथवा विनाश नहीं कर सकता।

पहला नियम : विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम

वस्तु जगत की प्रत्येक घटना, व्यापार और व्यवस्था के भीतर ऐसी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ अथवा गुण होते हैं, जो एक-दूसरे का निषेध करते हुए एक-दूसरे को मान्य भी करते हैं। ये 'विपरीत' कहलाते हैं। विपरीतों के दो वर्ग होते हैं, एक को 'वाद' या पक्ष और दूसरे को 'प्रतिवाद' या प्रतिपक्ष कहा जाता है। घटना, व्यापार अथवा व्यवस्था में इनकी एक साथ विद्यमानता को 'विपरीतों की एकता' कहा जाता है। मार्क्सवाद के अनुसार इन विपरीतों के भीतर अंतर्विरोध होते हैं, जो इन्हें संघर्ष के लिए प्रेरित करते हैं। विपरीतों के मध्य अनिवार्य रूप से होने वाले संघर्ष की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समन्वय अथवा संश्लेष की अवस्था विकास की प्रक्रिया का निर्धारण करती है। किसी व्यवस्था में विपरीतों की एक साथ विद्यमानता और उनके मध्य होने वाले संघर्ष की अनिवार्यता के नियम को 'विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम' नाम दिया गया है।

दूसरा नियम : परिमाणात्मक के गुणात्मक परिवर्तन में संतरण का नियम

परिमाण और गुण किसी वस्तु, व्यापार अथवा व्यवस्था से अनिवार्य रूप से जुड़े दो पक्ष हैं। जहाँ परिमाण से आकार-प्रकार आदि का बोध होता है, वहीं गुण आंतरिक प्रकृति के साथ ही उस विशिष्टता का बोध कराता है, जो वस्तु या व्यवस्था को अन्य वस्तुओं और व्यवस्थाओं से भिन्न सिद्ध करता है। मार्क्स ने अपने ग्रंथ 'पूंजी' में बताया है कि विकास की प्रक्रिया में परिमाण और गुण, दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है तथा एक अवस्था ऐसी आती है, जब परिमाणात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन में बदलने लगता है। यही 'परिमाणात्मक परिवर्तन के गुणात्मक परिवर्तन में संतरण का नियम' है। मार्क्सवाद सामाजिक विकास के इतिहास को इस नियम के आधार पर विश्लेषित करता है।

तीसरा नियम : निषेध का निषेध नियम

मार्क्स की स्थापना है कि किसी भी व्यवस्था अथवा क्षेत्र में तब तक कोई विकस संभव नहीं है, जब तक कि वह अपने अस्तित्व के पुराने रूपों का निषेध न करे। निषेध का यह तत्व कहीं बाहर से प्रेरित या संचालित न होकर व्यवस्था के भीतर ही विद्यमान होता है और उसके मूल में वाद-प्रतिवाद-समन्वय तथा परिमाणात्मक परिवर्तन के गुणात्मक परिवर्तन में बदलने के नियम कार्य करते हैं। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार अंतर्विरोधों के कारण विपरीतों के मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होते ही व्यवस्था के पुराने रूप के निषेध की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। निषेध की यह प्रक्रिया व्यवस्था के पूर्व रूप की अपेक्षा उच्चतर और गुणात्मक दृष्टि से बेहतर नवीन रूप को प्रकट करती है। इसे विकास का एक चरण या क्रम कहा जाता है। ध्यान देने योग्य बात है कि विकास का यह चरण पूरा हो जाने के बाद नवीन व्यवस्था के भीतर पुन: विपरीतों (वाद और प्रतिवाद) के मध्य संघर्ष प्रारंभ हो जाता है, अर्थात व्यवस्था के वर्तमान रूप के निषेध की प्रक्रिया पुन: प्रारंभ हो जाती है, जो विकास के अगले चरण तथा व्यवस्था के नवीन रूप के प्रकटीकरण का संकेत होती है। यही 'निषेध का निषेध नियम' कहलाता है।

यहाँ, निषेध का निषेध नियम के संदर्भ में भाववादी और मार्क्सवादी धारणा का अंतर स्पष्ट करना उपयोगी होगा। हीगल ने द्वंद्ववाद के विवेचन में स्थापित किया था कि पुराने का निषेध होने पर वह पूर्णत: नष्ट और उसके स्थान पर पूर्णत: नवीन स्थापित हो जाता है, लेकिन मार्क्सवाद की स्थापना यह है कि निषेध की प्रक्रिया में पुरानी व्यवस्था के केवल क्षयशील, अनुपयोगी और जड़ तत्व ही नष्ट होते हैं, जबकि उसके उपयोगी, जीवंत और विधेयात्मक तत्व बने रहते हैं। नई मौलिकताएँ पुरानी व्यवस्था के इन तत्वों के साथ मिल कर व्यवस्था के नवीन रूप को संभव बनाती हैं। इसके आगे बढ़ कर मार्क्सवाद यह भी कहता है कि उपयोगी, जीवंत और विधेयात्मक तत्वों का निर्णय वैज्ञानिक-दृष्टि द्वारा किया जाता है।

बोध प्रश्न –

- द्वंद्वात्मक भौतिक वाद के तीन नियम क्या – क्या है ?

16.3.4.1.1.2. यांत्रिक भौतिकवाद और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

भौतिकवादी दर्शन के दो रूप हैं--- एक, यांत्रिक भौतिकवाद और दूसरा, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद।

यांत्रिक भौतिकवाद का विकास मार्क्सवादी दर्शन के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के पहले ही यूरोप में हुआ था। यांत्रिक भौतिकवाद समाज, संस्कृति और अर्थव्यवस्था के पारस्परिक संबंधों को यांत्रिक मानता है और अपनी इस मान्यता के आधार पर यह स्थापित करता है कि सामाजिक-इतिहास के एक युग विशेष की संस्कृति एवं साहित्य का संबंध दूसरे युग विशेष से नहीं होता। दूसरी ओर मार्क्सवादी दर्शन का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद 'निषेध का निषेध नियम' के

अंतर्गत स्थापित करता है कि किसी भी नवीन व्यवस्था अथवा युग विशेष का निर्माण परंपरा के प्रगतिशील और विधेयात्मक तत्वों से कट कर नहीं हो सकता।

बोध प्रश्न –

- भौतिकवादी दर्शन के दो रूप कौन-कौन से हैं ?

16.3.4.2. ऐतिहासिक भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद की स्थापना है कि सामाजिक जीवन और समाज-व्यवस्था का विकास किसी अतिप्राकृतिक अथवा अतिमानवी सत्ता के अधीन नहीं है, बल्कि सामाजिक जीवन का विकास उसी प्रकार वस्तुगत नियमों के आधार पर होता है, जिस प्रकार प्रकृति का। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद पर एक दृष्टि' में पोदोसेतनिक एवं स्पीर्किन ने कहा है कि 'ऐतिहासिक भौतिकवाद एक दार्शनिक विज्ञान है और वह सामाजिक विकास के नियमों की व्याख्या करता है। जी. ग्लेजरमे ने स्थापित किया है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद अनिवार्य रूप से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से जुड़ा हुआ है। वह मानता है कि इतिहास का विकास द्वांद्वात्मक प्रक्रिया का परिणाम है। इतिहास के ही संदर्भ में इसकी एक चर्चित मान्यता यह भी है कि इतिहास का निर्माण मूल रूप से जन-सामान्य द्वारा किया जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद ने उत्पादन पद्धतियों और उनके प्रभाव से निर्मित सामाजिक संबंधों के आधार पर सामाजिक-विकास के इतिहास को आदिम समाज युग, दास समाज युग, सामंती समाज युग और पूंजीवादी समाज युग के रूप में देखा है और कहा है कि इनमें से प्रत्येक अगला युग पिछले युग की अपेक्षा विकसित रहा है। इन युगों के क्रम में ही ऐतिहासिक भौतिकवाद समाजवादी समाज युग का विवेचन करता है तथा उसके बाद आने वाले साम्यवादी समाज युग की अवधारणा प्रस्तुत करता है।

बोध प्रश्न –

- ऐतिहासिक भौतिकवाद की स्थापना क्या है ?

16.3.4.3. उत्पादन संबंध, वर्ग संबंध और सामाजिक जीवन

'मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएँ' ग्रंथ में यह मान्यता प्रकट की गई है कि आर्थिक विकास की दशाएँ और विभिन्न वर्गों के मध्य विकसित आर्थिक संबंध ही समाज का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करते हैं। जैसे ही आर्थिक आधारों में परिवर्तन होता है, वैसे ही सामाजिक ढाँचा परिवर्तित होना प्रारंभ हो जाता है और राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा साहित्य व कला संबंधी मूल्य प्रभावित होने लगते हैं। इस संदर्भ में मार्क्सवाद की दूसरी मान्यता यह है, कि एक अवस्था ऐसी भी आती है, जब ये मूल्य सामाजिक ढाँचे के आर्थिक आधारों को प्रभावित करने लगते हैं। मार्क्स ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि सामाजिक जीवन के विकास और इतिहास को समझने के लिए उत्पादन-संबंधों और वर्ग-संबंधों की समझ आवश्यक है। इन्हें आगे समझाया जा रहा है---

उत्पादन संबंध :

मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निर्मित संबंध 'उत्पादन संबंध' हैं। ये मूलत: उन व्यक्तियों के बीच विकसित होते हैं, जो उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। मार्क्स ने श्रम को सामाजिक माना है तथा व्यक्ति के श्रम को उसी का एक अंग स्वीकार किया है। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने उत्पादन संबंधों को समझाते हुए कहा है कि "मनुष्य चाहे या न चाहे, उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान उसे दूसरे मनुष्यों के संपर्क में आना ही पड़ता है, और सब मिल-जुल कर ही उत्पादन को संभव बनाते हैं। हर किसी का अपना श्रम सामाजिक श्रम का ही अंग होता है। उत्पादन के क्रम में मनुष्य और मनुष्य के बीच के ये संबंध ही उत्पादन संबंध कहलाते हैं।" (मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत, 1973, पृ. 71)।

वर्ग संबंध :

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वाले वर्ग और उत्पादन प्रक्रिया से अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े वर्ग के बीच विकसित संबंधों को 'वर्ग संबंध' कहा जाता है। उत्पादन-व्यवस्था में जो वर्ग अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है, वह उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है। वर्ग संबंध ही वर्ग संघर्ष का स्वरूप निर्धारित करते हैं, जो पूंजीवादी समाज व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच होता है।

बोध प्रश्न –

- उत्पादन संबंध क्या है ?
- वर्ग संबंध क्या है ?

16.3.5. मार्क्सवाद की साहित्य और कला संबंधी मान्यताएँ

कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने स्वतंत्र रूप से साहित्य और कला पर कोई पुस्तक नहीं लिखी और न व्यवस्थित रूप में विचार ही किया। उनके लेखन में प्रसंगवश साहित्य, कला, लेखक पाठक आदि के विषय में टिप्पणियाँ प्राप्त होती हैं। परवर्ती मार्क्सवादी विचारकों और लेखकों ने मार्क्सवादी दर्शन की व्याख्या करते हुए अथवा सर्वहारा के बीच व्याख्यान देते हुए साहित्य और कला की आवश्यकता, उपयोगिता, विचारधारा व राजनीति के साथ साहित्य व कला के संबंध आदि पक्षों पर विचार किया है। इस कारण साहित्य और कला के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को इन्हीं दोनों वर्गों के आधार पर समझा जा सकता है।

बोध प्रश्न –

- मार्क्सवादी कला सिद्धांत के दो वर्ग क्या-क्या है ?

16.3.5.1. मार्क्स और अन्य मार्क्सवादी विचारक

मार्क्स : 'ए कंट्रीब्युशन टु द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॉमी' शीर्षक कृति में मार्क्स ने साहित्य और कला के विषय में जो कुछ कहा है, उसका सार 'लिटरेचर एंड आर्ट (मार्क्स एंड

एंगेल्स)' कृति में दिया गया है। मार्क्स का मानना था कि साहित्य और कला का मूल स्रोत समाज का आर्थिक एवं भौतिक स्वरूप है तथा वे विचारधारा का ही एक रूप हैं। मार्क्स के अनुसार समाज के आर्थिक और भौतिक आधारों में घटित होने वाले परिवर्तन साहित्य और कला के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं। लेखक के विषय में मार्क्स का मानना था कि किसी भी लेखक के लिए उसका लेखन साधन न होकर साध्य होता है, जिसके लिए वह आवश्यक होने पर अपने अस्तित्व तक को दाँव पर लगा देता है। मार्क्स ने पाठक द्वारा साहित्य और कला का आनंद पाने की कसौटी पर भी विचार प्रकट किया है। उनका मानना है कि यदि कोई कला के आनंद का उपभोग करना चाहता है, तो उसका 'कलात्मक स्तर पर सुसंस्कृत' होना अनिवार्य है।

एंगेल्स : साहित्य और कला के संबंध में मार्क्सवादी विचार को स्पष्ट करते हुए एंगेल्स ने हेंज स्तारकेन्बर्न को लिखे एक पत्र में कहा था कि साहित्य और कला तथा विचारधाराओं के अन्य रूप एक स्तर पर समाज के आर्थिक व भौतिक धरातल को प्रभावित करने तथा उनमें एक सीमा तक परिवर्तन ले आने की शक्ति से युक्त होते हैं। उल्लेखनीय है कि वे इसके पूर्व 'लिटरेचर एंड आर्ट' में साहित्य, कला और राजनीति आदि के विकास को समाज के आर्थिक विकास पर टिका हुआ बता चुके थे, लेकिन वहाँ भी उन्होंने आर्थिक व भौतिक धरातल को प्रभावित करने की इनकी क्षमता को स्वीकार किया था।

लेनिन : साहित्य और कला पर मार्क्स एवं एंगेल्स से कहीं अधिक विचार लेनिन ने किया। साहित्य और कला की आवश्यकता, उनके मूल स्रोत, जनता से उनके संबंध, दायित्व, कलाकार की स्वाधीनता आदि के संबंध में लेनिन ने अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने मैक्सिम गोर्की से कहा था कि "पुराने सारे क्रांतिकारी साहित्य को, यहाँ हमारे पास जितना है, उसे और योरोप में है, उसे--- हमें जन-साधारण को उपलब्ध कराना चाहिए।" (साहित्य और कला, पृ. 298)। क्लारा जेटकिन से बात करते हुए लेनिन का कहना था कि "कला जनता के निकट आए और जनता कला के--- इसके लिए आम शिक्षा और संस्कृति के स्तरों को हमें ऊपर उठाना शुरु कर देना चाहिए।" (वही, पृ. 301)। जनता और कला के रिश्ते तथा कला के स्रोत के विषय में लेनिन का मानना था कि 'कला जनता की थाती है। उसकी जड़ें जनता के जीवन में होनी चाहिए।' (लेनिन ऑन लिटरेचर एंड आर्ट)। क्लारा जेटकिन ने अपने एक संस्मरण में लेनिन को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि 'हर कलाकार को तथा स्वयं को कलाकार मानने-समझने वाले प्रत्येक व्यक्ति को किसी की परवाह किए बिना स्वतंत्रता पूर्वक सृजन करने और अपने आदर्शों का पालन करने का अधिकार है।'

लियों ट्राटस्की : साहित्य के संबंध में लियों ट्राटस्की ने स्पष्ट रूप से यह मान्यता प्रस्तुत की है कि एक ओर जहाँ लेखक को अपने अनुसार रचना करने का अधिकार है, वहीं नवीन व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध लोगों को भी रचना और रचनाकार के मूल्यांकन का अधिकार है। द मॉडर्न ट्रेडिशन पुस्तक में प्रकाशित अपने 'द लिमिटेशंस ऑफ फॉर्मलिज्म' शीर्षक लेख में उन्होंने कहा कि 'आप अपने विचारों के अनुसार रचना करें, लेकिन जिस वर्ग के कंधों पर नए विश्व के निर्माण का दायित्व आ पड़ा है, वह कह सकता है कि सत्रहवीं सदी के दर्शन और जीवन का पराकाष्ठावादियों की भाषा में उल्था कर देने मात्र से आपके बीच से कोई भी नया कवि होने का दावा करने का अधिकारी नहीं है।' (पृ. 341)।

माओ-त्से-तुंग : चीन की सास्कृतिक क्रांति के जनक माओ-त्से-तुंग ने मार्क्सवादी दर्शन के समाजवादी-साम्यवादी उद्देश्यों के अनुकूल लेखकों के लिए यह आवश्यक माना है कि उन्हें जनता की यथार्थ समझ होनी चाहिए। टॉक्स एट द येनान फोरम ऑन आर्ट एंड लिटरेचर में माओ को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि 'कलाकारों और लेखकों को अपनी कला तथा साहित्य के क्षेत्र में कार्य करना चाहिए, लेकिन उनकी पहली और मुख्य जिम्मेदारी जनता को गहराई से समझना है।' (1959, पृ. 6)। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि 'साहित्य और कला मूलत: जनता के लिए होते हैं।' (वही, पृ. 14)। माओ-त्से-तुंग ने अपना एक महत्वपूर्ण विचार सांस्कृतिक क्रांति के तुरंत बाद दिए गए भाषण में व्यक्त किया था। 'सैकड़ों फूल खिलने दो, सैकड़ों विचार पनपने दो' शीर्षक इस भाषण का एक वाक्य है, कि 'साहित्य और कला के मूल्यांकन के लिए गंभीर विचार-विमर्श आवश्यक है।'

चाऊ-एन-लाई : मार्क्सवाद के एक और चीनी व्याख्याता चाऊ-एन-लाई के साहित्य संबंधी विचार 'द पीपल्स न्यु लिटरेचर' में प्राप्त होते हैं। वे साहित्य को परंपरा से जोड़ते हैं। उनका कहना है कि 'हमारा ध्यान जनता के बीच पैठ बना चुकी साहित्य और कला की प्राचीन शैलियों के परिष्कार की दिशा में जाना आवश्यक है।' (पृ. 32)। इसी के साथ चाऊ-एन-लाई लेखक को श्रमिक वर्ग का सदस्य मानने पर बल देते हैं। उन्होंने लेखक को 'आध्यात्मिक श्रमिक' (वही, पृ. 34) माना है।

बोध प्रश्न -

- एंगेल्स का क्या योगदान है ?

16.3.5.2. लेखक विचारक

लूनाचरस्की : मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में लूनाचरस्की को उनकी साहित्य एवं परंपरा के बीच निकट संबंध की समझ रखने वाले तथा मार्क्सवादी समीक्षा के स्वरूप के प्रारंभिक व्याख्याताओं में गिना जाता है। उन्होंने कहा था कि प्राचीन साहिय-कला-संस्कृति और रूसी

क्रंति के बाद की साहित्य-कला-संस्कृति की परंपराओं के बीच समन्वय होना आवश्यक है। लूनाचरस्की समीक्षा को एक रचनात्मक कार्य मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने समीक्षक को शिक्षक कहा था और इस बात पर बल दिया था कि व्यक्तिगत एवं विचारधारगत आग्रहों को एक ओर रख कर रचना का वस्तुपरक विश्लेषण करना और उसके श्रेष्ठ प्रदेय को पाठक के लिए सुलभ बनाना सही समीक्षा है।

मैक्सिम गोर्की : मार्क्सवाद की साहित्य एवं कला संबंधी दृष्टि के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्याता मैक्सिम गोर्की हैं। उन्होंने यथार्थवाद और स्वच्छंदतावाद, साहित्य और परंपरा, साहित्य और भाषा, लोकसाहित्य और लिखित साहित्य का संबंध, लेखक, समाज और साहित्य, रचना और श्रम, सौंदर्य, कल्पना आदि के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टि की सटीक व्याख्याएँ करके विश्व साहित्य को प्रभावित किया।

मैक्सिम गोर्की लेखक के लिए सामाजिक विकास की प्रक्रिया और उसके इतिहास के साथ ही साहित्य के इतिहास का समुचित ज्ञान रखना आवश्यक मानते हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्तिगत जीवन की जटिलताएँ और समाज-विकास व साहित्य के इतिहास से प्राप्त अनुभव रचना की प्रेरणा के स्रोतों में आते हैं। उन्होंने नवीन सृजन की मुख्य प्रेरणा का स्रोत लोकसाहित्य को माना है। वे श्रम के महत्व पर भी अत्यधिक बल देते हैं और कहते हैं कि 'सौंदर्य मानव-श्रम की उपज' है; इसीलिए लेखक को अपनी रचना का नायक श्रम को बनाना चाहिए। गोर्की ने कल्पना का आधार-स्रोत यथार्थ को माना है और बताया है कि 'यथार्थ में जो भाव और विचार अंतर्भुक्त होते हैं, उनके अमूर्त रूप को बिंब में परिणत कर देना ही कल्पना है।' गोर्की ऑन लिटरेचर में उनका स्वच्छंदतावाद संबंधी विश्लेषण प्राप्त है, जिसमें वे स्वच्छंदतावाद के दो भेद करते हैं--- एक, निष्क्रिय स्वच्छंदतावाद और दूसरा, सक्रिय स्वच्छंदतावाद। वे निष्क्रिय स्वच्छंदतावाद उसे मानते हैं, जो मनुष्य को बहिर्जगत से विरत करके उसे मात्र अंतर्जगत में सीमित कर देता है। उनके अनुसार सक्रिय स्वच्छंदतावाद वह है, जो व्यक्ति की जीवनेच्छा को सशक्त बनाने के साथ ही उसे प्रेरित करता है कि वह अपने चतुर्दिक फैले जीवन में उस पर लाद दिए जाने वाले जुए के विरुद्ध संघर्ष के लिए सन्नद्ध हो जाए। (पृ. 32-35)।

मैक्सिम गोर्की ने सन् 1934 में सोवियत लेखकों के प्रथम अधिवेशन में यथार्थवाद के दो रूपों, आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद की व्याख्या की थी। उनके अनुसार यथार्थ को प्रस्तुत करने की प्रतिबद्धता इन दोनों में ही समान रूप से होती है, लेकिन आलोचनात्मक यथार्थवाद में एक तो समाज के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया की समझ का अभाव होता है, दूसरे वह जीवन की विद्रूपताओं से मुक्त होने का कोई मार्ग नहीं बताता; इसी कारण वह उन तत्वों को भी स्वीकार करता दिखता है, जिन्हें एक समय उसने अस्वीकार किया

था। इसके उलट समाजवादी यथार्थवाद सामाज के द्वंद्वात्मक विकास के इतिहास की समझ, समाजवादी समाज के लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने के मार्गों की खोज पर आधारित होता है।

क्रिस्टोफर कॉडवेल : कॉड्वेल ने मुख्य रूप से काव्य संबंधी चिंतन किया है। वे मानते हैं कि काव्य आत्म को अर्जित करने का माध्यम है; अत: मनुष्य और काव्य का अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। वे यह भी कहते हैं कि कविता भाषा में आकार लेती है, जबकि भाषा समाज की निर्मिति है, अत: कविता की समझ के लिए भाषा की समझ अनिवार्य है। कॉडवेल ने सत्य, सौंदर्य और कविता का संबंध निर्धारण करते हुए माना है कि सत्य और सौंदर्य जीवन-यथार्थ के जीवंत प्रवाह के अंग के रूप में कविता का अंग बनते हैं। इसी प्रकार, वे रचनाकार के लिए यह आवश्यक मानते हैं कि उसे सर्वहारा का नेतृत्व करना चाहिए, किंतु रूढ़ ढंग से मर्क्सवादी शब्दावली के प्रयोग से बचना भी उसका कर्तव्य है।

रामविलास शर्मा : सामाजिक यथार्थ और वर्ग-संघर्ष को मार्क्सवादी साहित्य दृष्टि का मूलाधार मानने वाले भारतीय लेखकों में रामविलास शर्मा प्रमुख हैं। मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य में वे कहते हैं--- "मार्क्सवादी साहित्य किसी ऐसे शाश्वत सत्य का चित्रण नहीं कर सकता, जो सामाजिक परिस्थितियों से परे हो। जिस समाज में वर्ग-संघर्ष कायम है, उसे चित्रित करने वाला साहित्य वर्गों से परे नहीं हो सकता। वर्गहीन विशुद्ध मानवतावादी साहित्य की रचना तभी हो सकेगी, जब समाज से सभी वर्ग निर्मूल हो जाएँगे और उनके आधार पर बने हुए संस्कार भी मनुष्य की चेतना से निकल जाएँगे।" (1984, पृ. 74-75)। रामविलास शर्मा मार्क्सवादी मूल्यों के आधार पर रचे जाने वाले साहित्य को 'जनता का साहित्य' और 'जातीय विरासत व रचना-परंपरा की रक्षा के लिए लड़ने वाला' भी मानते हैं।

इनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक-विचारक हैं, जिन्होंने साहित्य और कला संबंधी मार्क्सवादी विचार-दृष्टि की व्याख्या की है। जी. वी. प्लेखानोव की मान्यता है कि सामाजिक परिप्रेक्ष्य और सिद्धांत की समझ से रहित साहित्य महत्वहीन होता है। राल्फ फॉक्स ने कहा है कि साहित्य का क्रांतिकारी कर्तव्य अपनी महान परंपराओं की पुनर्स्थापना तथा सत्य एवं यथार्थ को जानने के दायित्व के प्रति सजग बनाना है। हावर्ड फास्ट कहते हैं कि यथार्थ की चेतना अतीत और भविष्य, दोनों से ही संबद्ध होती है। उनका यह भी कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि कोई लेखक कम्युनिस्ट बने, किंतु कम्युनिज्म का ज्ञान उसके लिए वांछनीय है। जॉर्ज लुकाच ने यथार्थवाद की केंद्रीय सौंदर्यपरक समस्या मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व की समुचित प्रस्तुति को माना है। चाऊ-यांग ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि लेखक के लिए वस्तु जगत की सही समझ रखना और उसे अपनी भाषा में बिंबों के माध्यम से अभिव्यक्त करना आवश्यक है।

बोध प्रश्न –

- रामविलास शर्मा की मार्क्सवाद पर पुस्तक का नाम बताइए.

16.3.6. मार्क्सवादी समझ के अभाव का साहित्य और कला पर प्रभाव

मार्क्स और एंगेल्स के बाद लेनिन के युग में ही मार्क्सवाद की मान्यताओं और उसके राजनैतिक प्रयोगों को दिशाहीन बनाने की कोशिशें प्रारंभ हो गई थीं। 1905-07 की क्रांति के असफल होने के बाद कुछ लोगों ने मार्क्सवाद के धर्म संबंधी दृष्टिकोण से असहमति व्यक्त करते हुए 'समाजवादी धर्म' नाम से एक नया धर्म प्रारंभ करने और मार्क्सवाद तथा धर्म के मध्य समन्वय की नीति पर चलने का आग्रह किया था। (स्रोत : साहित्य और कला, वी.आई. लेनिन, पृ. 325-26)। 1905-07 की क्रांति की असफलता के बाद ही मेंशेविक समाजवादी जनवादियों ने रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी को भंग करके तत्कालीन जारशाही शासन के अंतर्गत एक नई कानूनी पार्टी गठित करने की वकालत की थी, जो अवसरानुकूल नीतियों का अनुसरण करे। लेनिन ने इन लोगों को 'क्रांति के गद्दार' कहा था और सन् 1912 में हूए पार्टी के प्राग अधिवेशन में बाहर का रास्ता दिखा दिया था। (स्रोत : वही, पृ. 331-32)। इस प्रकार की घटनाएँ राजनैतिक दिशा-भ्रम को उत्पन्न करके समाजवादी लक्ष्यों को हानि पहुँचाने वाली सिद्ध हुईं।

साहित्य और कला संबंधी मार्क्सवादी समझ के अभाव का और भी बुरा प्रभाव हुआ; क्योंकि उसने पार्टी और लेखक के रिश्तों को ही नहीं बिगाड़ा, बल्कि साहित्य के मूल्यबोध और उसकी रचनात्मकता को दिशाभ्रम का शिकार भी बनाया। आश्चर्यजनक रूप से दिशाहीनता की इस यात्रा का पहला सूत्र स्वयं लेनिन के 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' नामक लेख में प्रयुक्त वाक्य--- साहित्य की सार्थकता विराट पार्टी-तंत्र का अंग बन जाने में है--- में प्राप्त होता है। यह मार्क्सवादी-दृष्टि में अतिवादी प्रवृत्ति का प्रवेश था, जिसका जन्म तत्कालीन राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हुआ था। आगे, उत्तरोत्तर इस प्रवृत्ति का विकास दिखाई देता है। लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन और पार्टी की केंद्रीय समिति के सचिव जादानोव के काल में लेखकों को पार्टी द्वारा नियंत्रित किए जाने का एक अभियान ही चलाया गया। इसके बाद ख्रुश्चेव ने लेखकों-कलाकारों को पार्टी रूपी मशीन का सहायक-पुर्जा घोषित किया गया। उधर चीन में माओ-त्से-तुंग ने येनान की बैठक में साहित्य और कला को राजनीति का अधीनस्थ सहयोगी और पार्टी के दृष्टिकोण से जुड़ा रहने वाला बताया।

मार्क्सवादी दर्शन तथा साहित्य व कला संबंधी दृष्टि को संकुचित-सोच, अतिवाद, राजनैतिक अवसरवादिता और मनमानेपन का शिकार बनाने वाली इस प्रवृत्ति ने--- (एक) मार्क्सवादी दर्शन की केंद्रीय चेतना को ही संदेह के घेरे में खड़ा नहीं किया, बल्कि मार्क्सवाद के परवर्ती महत्वपूर्ण व्याख्याताओं की साहित्य और कला संबंधी मूल्यवान मान्यताओं को भी पर्दे

के पीछे धकेल दिया। (दो) मार्क्सवादी लेखकों ने साहित्य, संस्कृति, परंपरा, भाषा, सौंदर्य, कल्पना, और अन्य रचनात्मक मूल्यों के विषय में जो व्यापक और यथार्थपरक स्थापनाएँ प्रस्तुत की थीं, वे भी पार्टी-दृष्टिकोण के आधार पर मूल्यांकित की गईं। (तीन) संकुचित दृष्टि और अतिवाद का शिकार होकर अनेक लेखकों ने ऐसी रचनाएँ कीं, जो मार्क्स के प्रति व्यक्ति-पूजा और रूस व चीन के प्रति अंध-भक्ति-भाव से ओतप्रोत थीं। अनेक क्षेत्रों में इन्हें ही मार्क्सवादी रचनाओँ के रूप में प्रचारित किया गया, जिससे प्रगतिशील साहित्य को धक्का पहुँचा।

अतिवादी प्रवृत्ति के इन खतरों को किसी सीमा तक प्रारंभ में ही प्रख्यात लेखक-विचारक ए. वी. लूनाचरस्की ने पहचान लिया था। इसीलिए उन्होंने रचना की समीक्षा के संदर्भ में 'मार्क्सवादी समीक्षा' और 'मार्क्सवादी सेंसरशिप' का मुद्दा उठाया था। लूनाचरस्की ने कहा था कि सर्वहारा मूल्यों और सामाजिक चेतना के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करते हुए विरोधी मत की उपयोगिता का भी मूल्यांकन करना मार्क्सवादी समीक्षा है, जबकि केवल सर्वहारा की विजय और विरोधी मत को अतार्किक ढंग से अस्वीकार करना मार्क्सवादी सेंसरशिप है। उन्होंने ऐसी किसी भी सेंसरशिप का विरोध किया था। हिंदी में रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, परमानंद श्रीवास्तव और मधुरेश जैसे समालोचकों ने भी मार्क्सवाद के साथ जोड़ दिए गए अतिवाद का विरोध किया है।

बोध प्रश्न –

- मार्क्सवाद को दिशाहीन बनाने वाले दो कारणों का उल्लेख कीजिए.

16.4 : पाठ सार

कार्ल मार्क्स ने पूर्ववर्ती और समकालीन भौतिकवादी चिंतन परंपरा का गंभीरता पूर्वक विश्लेषण करते हुए अपने भौतिकवादी दर्शन की आधारशिला रखी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए सामाजिक विकास के इतिहास का वस्तुवादी विवेचन करके मार्क्सवादी भौतिकवाद अथवा वैज्ञानिक भौतिकवाद की दार्शनिक अवधारणा प्रस्तुत की। इसी के आधार पर मार्क्सवाद और मार्क्सवादी विचारधारा का विकास हुआ। मार्क्सवाद की तीन मूल अवधारणाएँ हैं। पहली, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, जिसकी प्रेरणा हीगल के द्वंद्ववादी सिद्धांत से ग्रहण की गई। किंतु मार्क्स ने उसके साथ जुड़े भाववादी तत्वों को स्वीकार नहीं किया तथा उसे विचार के स्थान पर व्यवहार के धरातल पर स्थापित किया। इस प्रकार मार्क्स ने हीगल के सिर के बल खड़े द्वंद्ववाद को पैरों के बल खड़ा किया। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के तीन नियम हैं--- विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम, परिमाणात्मक के गुणात्मक परिवर्तन में संतरण का नियम और निषेध का निषेध नियम। दूसरी अवधारणा ऐतिहासिक भौतिकवाद है, जिसके अनुसार सामाजिक तथा मानव इतिहास का विकास द्वंद्वात्मक सिद्धांत के आधार पर हुआ है और उसका कारण कोई अतिमानवी सत्ता न होकर वस्तुगत नियम हैं। यह सामाजिक विकास के

इतिहास को उत्पादन पद्धतियों के आधार पर आदिम, दास, सामंती, पूंजीवादी, समाजवादी और साम्यवादी समाज व्यवस्था नामक युगों में वर्गीकृत करता है। तीसरी अवधारणा उत्पादन संबंध और सामाजिक जीवन है, जिसके अनुसार समाज का मुख्य आधार आर्थिक विकास और उत्पादन संबंध तथा वर्ग संबंध हैं।

मार्क्सवादी दर्शन की गहरी समझ इसकी दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली के ज्ञान पर बहुत कुछ निर्भर है। इसके अंतर्गत पदार्थ, जगत, चेतना, सामाजिक चेतना, चेतना और अस्तित्व, सत्य, ज्ञान, सिद्धांत, विकास, धर्म, नैतिकता, संस्कृति, परंपरा, सर्वहारा, वर्ग, अतिरिक्त मूल्य, शोषण, पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि की मार्क्सवादी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ अध्येता की सहायता करती हैं।

यद्यपि मार्क्स और एंगेल्स ने साहित्य और कला के संबंध में स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया, फिर भी मार्क्स ने ए कंट्रीब्युशन टु द क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी में और एंगेल्स ने मार्क्स की अवधारणाओं की व्याख्या करते हुए इस विषय में अनेक महत्वपूर्ण बातें कही हैं। आगे चल कर मार्क्सवाद के अनुसरणकर्ता समाज-राजनैतिक व आर्थिक चिंतकों तथा लेखक विचारकों ने साहित्य और कला के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की व्याख्या की, जिसके आधार पर 'जनता का साहित्य' अवधारणा विकसित हुई।

यह दुस्संयोग ही कहा जाएगा कि कालांतर में साहित्य और कला संबंधी मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनैतिक कारणों से संकुचितता, अतिवाद और दुराग्रह का शिकार हुआ, जिस कारण लेखकों पर पार्टी ने अपना नियंत्रण लागू करने तथा उनके साहित्य को पार्टी साहित्य बनाने की कोशिश की। इस प्रवृत्ति ने मार्क्सवादी अथवा प्रगतिशील साहित्य को नुकसान पहुँचाया। लूनाचरस्की जैसे कुछ सचेत लेखकों ने इस प्रवृत्ति का खुल कर विरोध भी किया।

16.5 : पाठ की उपलब्धियाँ

प्रस्तुत पाठ में विद्यार्थियों के अधिगम स्तर को समृद्ध बनाने के लिए---

1- हीगल के द्वंद्ववादी सिद्धांत और मार्क्स द्वारा उसे विचार से व्यवहार के धरातल पर ले आने का विवेचन किया गया है।

2- भौतिकवादी चिंतन की मार्क्स पूर्व परंपरा के परिचय और मार्क्स द्वारा उसे अपने चिंतन में ढालने के बाद विकसित मार्क्सवादी भौतिकवाद की विशेषताओं का परिचय दिया गया है।

3- मार्क्सवादी दर्शन को सहजता पूर्वक समझने में सहायता की दृष्टि से उसकी दार्शनिक-पारिभाषिक शब्दावली का अभिप्राय प्रस्तुत किया गया है।

4- मार्क्सवादी दर्शन की मूल अवधारणाओं का विश्लेषण तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और यांत्रिक भौतिकवाद का अंतर स्पष्ट किया गया है।

5- मार्क्स सहित प्रमुख राजनैतिक-आर्थिक विचारकों और लेखकों के अभिमतों के माध्यम से मार्क्सवाद के साहित्य और कला संबंधी दृष्टिकोण के विविध पक्षों की जानकारी दी गई है।

16.6 : शब्द संपदा

अतिरिक्त= निर्धारित से अधिक, उल्लेख कर दिए गए को छोड़ कर, अलावा। अध्येता= अध्ययन करने वाला। अनिवार्य= जिसके अभाव में काम नहीं चल सकता। अंतर्भुक्त= भीतर समाया हुआ, शामिल्। अबाध= बिना किसी रुकावट या परेशानी के। अमूर्त= बिना रूप या आकार वाला, निराकार। अवधि= निर्धारित समय। असंगत= जो उपयुक्त न हो, प्रसंग के परे, बेमेल। आकर्षण= खिंचाव, अपनी ओर खींचने की क्रिया या शक्ति। आत्मसात= पूरी तरह अपने में मिला लेना। क्षयशील= जिसकी प्रकृति नाशवान हो। गुण= वह विशेषता, जो किसी को अन्य से अलग सिद्ध करती हो। घटक= हिस्सा, अंग, वह तत्व, जो किसी वस्तु के निर्माण का आवश्यक अंग हो। चतुर्दिक= चारों ओर। चिंतक= सोचने वाला, चिंतन करने वाला। तलस्पर्शी= नीचे की सतह को छूने वाला, किसी विषय का आदि से अंत तक का ज्ञान रखने वाला। नियामक= किसी व्यवस्था का विधान करने वाला, नियमन करने वाला। निषेध= मनाही, न करने का निर्देश्। निष्कर्ष= निचोड़, किसी कार्य का सार-परिणाम। पद्धति= किसी कार्य को संपन्न करने की विधि, तरीका। परिणत= रूपांतरित होना, अन्य रूप में बदलना। परिमाण= मात्रा, आकार-प्रकार। परिवर्तन= बदलना, बदलाव। पारस्परिक= आपस का। प्रक्रिया= किसी कार्य के होने की क्रमिक क्रियाएँ। प्रत्यय= विचार (आइडिया)। प्रणाली= तरीका, विधि। प्रवास= अपने मूल स्थान से बाहर जाकर रहना। बहिर्जगत= संसार का बाहरी रूप्। भँवर-गति= पानी जब धारा के बीच गोलाकार चक्कर काटने लगता है, तो उसे भँवर बनना कहते हैं तथा भँवर के रूप में पानी की बहने की गति को भँवर-गति कहा जाता है। भुगतान= मूल्य चुकाना। विचार-वितर्क= किसी विषय पर तर्कपूर्ण बातचीत अथवा वाद-विवाद। विद्यमान= उपस्थित रहना, अस्तित्व में होना। विधेयात्मक= रचनात्मक, जिसे विधि या नियमानुसार जाना जा सके। विरत= विमुख, जो अनुरक्त न हो। विवेक= बुद्धि और मन की वह शक्ति, जिसके सहारे किसी विषय में निर्णय किया जा सके। विवेचन= यह जाँचना कि किसी विषय की वास्तविकता क्या है। विश्लेषण= किसी विषय के प्रत्येक पक्ष की बारीकी से जाँच करना। वैज्ञानिक-दृष्टि= तर्क, प्रयोग एवं कार्य-कारण विवेक पर आधारित विचार की शक्ति। व्यापक= चारों ओर फैला हुआ। शाश्वत= नित्य, हमेशा रहने वाला। संघर्ष= टकराना, घिसने की क्रिया। संतरण= अच्छी तरह तैरना। संश्लेष= अच्छी तरह मिश्रित हो जाना। सन्नद्ध= कोई कार्य करने के लिए तैयार होना। समन्वय= विभिन्न पक्षों

को एक जगह मिलाना, मिल जाना। सार= किसी वस्तु या विषय का मूल तत्व। सिद्धांत= किसी विचार-दर्शन को निश्चित स्वरूप प्रदान करने वाले पक्ष, बहुत सोच-विचार कर स्थिर किया गया वह अभिमत, जिसे दार्शनिकों का कोई वर्ग अथवा कोई संप्रदाय विश्वास पूर्वक मानता हो। ह्रासमान=कमी, घटाव या अवनति को प्राप्त होने की स्थिति।

16.7 : परीक्षार्थ प्रश्न

खंड – (अ)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. द्वंद्ववाद शब्द का मूल-स्रोत बताइए और प्राचीन यूनान में उसके प्रयोग की जानकारी दीजिए।
2. 'निषेध का निषेध' नियम संबंधी भाववादी और मार्क्सवादी धारणा का अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. कार्ल मार्क्स के साहित्य और कला संबंधी विचार लिखिए।
4. आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद का अंतर समझाइए।
5. मार्क्सवाद की संस्कृति और परंपरा संबंधी धारणा का परिचय दीजिए।

खंड - (ब)

लघूतरीय प्रश्न

1. 'द कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' का लेखन किस कारण हुआ था?
2. निष्क्रिय स्वच्छंदतावाद और सक्रिय स्वच्छंदतावाद का अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. मार्क्सवाद के अनुसार 'सर्वहारा संस्कृति' का निर्माण कैसे होगा?
4. साम्यवाद की मार्क्सवादी धारणा लिखिए।
5. मार्क्सवाद के अनुसार सामाजिक-चेतना का निर्माण कैसे होता है?

खंड - (स)

I. सही विकल्प चुनिए

1. मार्क्स के ग्रंथ 'पूंजी' के पहले खंड का प्रकाशन-वर्ष :

   (क) 1884 (ख) 1860

2. द्वंद्ववादी पद्धति का पहला प्रयोग करने वाले का नाम :

   (क) सुकरात (ख) हीगल (ग) प्लेटो

3. किसने कहा था--- 'परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ भी स्थाई नहीं है'।

   (क) कार्ल मार्क्स (ख) हेराक्लाइटस (ग) थेल्स

4. लेखक को अपनी रचना का नायक किसे बनाना चाहिए :

   (क) श्रम (ख) स्त्री (ग) राजा

II. रिक्त स्थान भरिए

1. सौंदर्य मानव ..... की उपज है। (कल्पना/श्रम)
2. ..... पदार्थ का स्वाभाविक गुण है। (गति/आकार)
3. प्रोलेतेरिएत के लिए हिंदी में..... शब्द प्रचलित हुआ। (सभासद/सर्वहारा)
4. लूनाचरस्की समीक्षा को एक..... कार्य मानने के पक्ष में हैं।
(रचनात्मक/आलोचनात्मक)

III. सुमेल कीजिए।

1.	लिटरेचर एंड आर्ट	अ) द माडर्न ट्रेडिशन
2.	सैंकड़ों फुल खिलने दो	आ) राम विलास शर्मा
3.	लियो ट्राटस्की	इ) एंगेल्स
4.	मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य	ई) माओ स्त्से से तुंग

16.8 : पठनीय पुस्तकें

1. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, डॉ. शिवकुमार मिश्र
2. साहियत्य और कला, वी. आई. लेनिन, (हिंदी अनुवाद : रमेश सिन्हा),
3. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, रामविलास शर्मा
4. पाश्चात्य समीक्षा और समीक्षक, शेखर शर्मा

परीक्षा प्रश्नपत्र नमूना

MAULANA AZAD NATIONAL URDU UNIVERSITY

PROGRAMME: M.A –HINDI

III – SEMESTER EXAMINATION May - 2024

TITLE & PAPER CODE : भारतीय एवं पच्यात्य काव्यशास्त्र (MAHN301CCT)

TIME: 3 HOURS TOTAL MARKS: 70

यह प्रश्न पत्र तीन भागों में विभाजित हैं- भाग -1, भाग -2 और भाग -3 प्रत्येक प्रश्न के उत्तर निर्धारित शब्दों में दीजिए।

भाग – 1

1. निम्नलिखित विकल्पों में सही विकल्प चुनिए। 10X1=10

i.'साइंस ऑफ लॉजिक' किताब के लेखक कौन है?

(A) मार्क्सवाद (B) हीगल (C) इलियट (D) क्रोचे

ii. 'काव्य आत्म को अर्जित करने का माध्यम है' किसने कहा ?

(A) लूनाचरस्की (B) रामविलास शर्मा (C) मैक्सिम गोर्की (D) क्रिस्टोफर कॉडवेल

iii. भाववाद पदार्थ के स्थान पर---

(A) सारभूत को महत्व देता है। (B) अस्तित्व को महत्व देता है।

(C) विचार को महत्व देता है। (D) कोई नहीं

iv. सीखने की प्रक्रिया को ---------- कहते हैं।

(A) शिक्षण (B) संस्कृति (C परंपरा (D) आधुनिकता

v. परंपरा की एक शर्त है – याद करना, और दूसरी शर्त है- ----------।

(A) सुनना (B) भरोसा करना (C) दोहराना (D) सौंपना

vi. रिचड्र्स को ---------- पुरोधा माना जाता है:

(A) मूल्य (B) साधारणीकरण (C) नई समीक्षा (D) भाषायी-भ्रम

vii. 'पेरिइप्सुस मूलत: ---------- के संबंध में लिखा गया निबंध है:

(A) चित्रकला (B) नृत्यकला (C) भाषण-कला (D) काव्यकला

viii. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा में कौन से चिंतक का शुमार नहीं है?

(A) मम्मट (B) क्रोचे (C) अरस्तू (D) होरेस

ix. औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक है -

(A) मामह (B) आचार्य वामन (C) आचार्य रूद्रह (D) आचार्य क्षेमेन्द्र

x. नाट्यशास्त्र के रचयिता कौन हैं?

(A) मम्मट (B) भामह (C) दंडी (D) भरत मुनि

भाग – 2

निम्नलिखित आठ प्रश्नों में से किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 200 शब्दों में देना आनिवार्य है। 5X6 =30

2. अभिव्यंजनावाद का क्या अर्थ है?

3. 'कविता मानसिक उपचार करती है'- रिचड्र्स के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर समझाइए।

4. मार्क्सवाद के अनुसार सामाजिकचेतना का निर्माण कैसे होता है-?

5. नीत्शे ने ईश्वर के विषय में क्या कहा था

6. काव्य प्रयोजन का अर्थ अपने शब्दों में बताइए।

7. 'सौन्दर्य का अनुभव' संबंधी रिचड्र्स के विचार पर टिप्पणी लिखिए।

8. कॉलरिज की पुस्तक का नाम बताते हुए उसकी विशेषता बताएं।

9. पेरिइप्सुस' का परिचय दीजिए।

भाग- 3

निम्नलिखित पाँच प्रश्नों में से किन्हीं तीन प्रश्नों के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 500 शब्दों में देना अनिवार्य है। 3X10=30

10. इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

11. औचित्य सिद्धान्त की मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।

12. रस निष्पत्ति की विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।

13. इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

14. अभिव्यंजना और कला को स्पष्ट करते हुए क्रोचे के कला संबंधी दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।